पंच परमेष्ठी मीमांसा

साध्वी डॉ. सुरेखाश्रीजी म.सा.
D.Lit

पंच परमेष्ठी मीमांसा

साध्वी डॉ. सुरेखा श्री
D.Litt.

★ पंच परमेष्ठी मीमांसा
(डी. लिट्. हेतु प्रस्तुतशोध महानिबन्ध)

★ परम पूज्या जैन कोकिला प्रवर्तिनी जी, शासन प्रभाविका,
विश्व प्रेम प्रचारिका श्री विचक्षण श्री जी म.सा.
की सुशिष्या एवं प. पू. शतावधानी, शासन ज्योति
संघ संगठन प्रेरिका प. पू. मनोहर श्रीजी म. सा.,
मुक्ति प्रभा श्री जी म.सा. की चरणाश्रिता

★ परम पूज्या : डॉ. सुरेखा श्री जी म. सा. (डी. लिट्.)

★ प्रथमावृत्ति, सं. 2064, 26 जनवरी 2008, जयपुर

★ प्रकाशक:
श्री विचक्षण स्मृति प्रकाशन

★ अर्थ सौजन्य
श्री जैन श्वेताम्बर खरतरगच्छ संघ
श्री शिवजी राम भवन
एम. एस. बी. का रास्ता,
जौहरी बाजार, जयपुर (राज.)
फोन : 2563884

★ मुद्रक :
कोटावाला प्रिन्टर्स एण्ड पॅब्लिशर्स
जयपुर, फोन : 2213288

अनुक्रमणिका

पंच परमेष्ठी मीमांसा		पृष्ठ सं.
स्वकथ्य		
अध्याय-1	पंच परमेष्ठी : भूमिका	3-22
अध्याय-2	परमेष्ठी पद : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि	23
अध्याय-3	प्रथम पद अर्हत् परमेष्ठी : अवधारणा	32
अध्याय-4	सिद्ध पद : अवधारणा	107
अध्याय-5	तृतीय आचार्य पद	157
अध्याय-6	चतुर्थ उपाध्याय पद	189
अध्याय-7	पंचम साधु पद	218
अध्याय-8	प्रणव : ॐकार में पंच परमेष्ठी	315
अध्याय-9	मंत्र रूप में प्रतिष्ठा - नमस्कार मंत्र	338
	उपसंहार	360
परिशिष्ट-1	पंच परमेष्ठी - साधन-विधि-कोष्टक	366
परिशिष्ट-2	तद्विषयक सूची	370
परिशिष्ट-3	मृत्यु के समय नमस्कार महामंत्र के श्रवण के परिणाम के ऐतिहासिक सन्दर्भ	380

संदर्भ ग्रंथ सूची

मूल ग्रंथ	382
सामयिक	385
आनुषंगिक ग्रंथ	386
अंग्रेजी ग्रंथ सूची	388
ऐतिहासिक ग्रंथ	389
कोश ग्रंथ	389

स्व-कथ्य

'पंच परमेष्ठी' से तात्पर्य ही है- जैन धर्म एवं दर्शन। इन पंच पदों में ही जैन तत्त्व दर्शन समाया है। क्योंकि ये साधन भी है, साध्य भी। साधक का प्रथम चरण भी है, तो अंतिम सोपान भी है, मंजिल भी है। क्योंकि इनका स्मरण, शरण, समर्पण तद्मयता प्रदान करता है। यद्यपि इन पदों को नमस्कार प्रथम मंगलभूत माना गया, सर्वशास्त्रों का सार मान्य किया गया, तथापि इन पंच पदों को ग्रहण करना भी उपादेय स्वीकार किया गया। अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु- ये पंचपद सार्वभौम है, संप्रदायतीत है। इसमें किसी का नामांकन नहीं है। किसी व्यक्ति का उल्लेख नहीं वरन् ये व्यक्तित्व की गुणवत्ता पर आधारित है। इसमें गुणग्राह्यता है, मात्र गुणों का कथन नहीं है।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध इन्हीं पंच पदों के स्वरूप पर आधारित है। जैनदर्शन में ही इन पंच-पदों को स्वीकार किया है या अन्य दर्शनों ने यथा वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण, आरण्यक, संहिता, स्मृति ग्रंथों ने वेदान्त, मीमांसा, सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, बौद्ध, चार्वाक आदि आस्तिक, नास्तिक दर्शनों ने भी इन पदों को मान्य किया गया है। इस महानिबन्ध में इसका तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। देखा जाय तो वर्तमान समय में पंच परमेष्ठी पदों का जैन परम्परा में ही प्रचलन है, अन्य धर्म-दर्शनों में नहीं। जबकि वेदवादी ग्रंथों में, बौद्धदर्शन में इनका उल्लेख प्रचुरता से उपलब्ध होता है। यहाँ तक कि 'परमेष्ठी' शब्द का शब्दतः उल्लेख जैन आगम ग्रन्थों में नहींवत् है, जबकि ब्राह्मण परम्परागत साहित्य में बहुलता से प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार अर्हत् आदि पदों का भी उल्लेख सर्वत्र उपलब्ध होता है।

तात्पर्य यही है कि ये पद सार्वभौम है। सर्वमान्य है। जैन धर्म-दर्शन में इन पदों का विश्लेषण गहनता से किया गया है। इसके गूढ़तम रहस्य का इस निबन्ध में दिग्दर्शन कराया गया है। नव अध्यायों में विभक्त यह निबन्ध प्रत्येक पद के हार्द को खोलने में सहायकभूत रहा है।

अनेक वरदहस्तों का आशीर्वाद ही इसकी सम्पन्नता है। इस सुदीर्घकाल में अनेकों ने दिवगंतता को भी प्राप्त कर ली। आचार्य प्रवर श्री कैलाश सागर जी म.सा., उपाध्याय प्रवर श्री मणिप्रभ सागर जी म.सा. का शुभाशीष इसका संबल रहा है। प.पू. स्व. प्रवर्तिनी महोदया गुरुवर्या श्री विचक्षण श्रीजी की दिव्यकृपा इस कार्य की सफलता है। शासन ज्योति प.पू. मनोहर श्रीजी म.सा., प.पू. मुक्तिप्रभा श्रीजी म.सा. इसके प्रेरणास्रोत है। प.पू. महत्तरापद विभूषिता विनीता श्रीजी म.सा., प.पू. प्रव. श्री चंद्रप्रभा श्रीजी म.सा., प.पू. चन्द्रकला श्रीजी म.सा., प.पू. मणिप्रभा श्रीजी म.सा. का शुभाशीर्वाद सतत मिलता रहा है। मेरी गुरुभगिनियों का साथ इसकी गति रही है तथा प्रशमरसा श्रीजी एवं हेमरेखा श्रीजी ने पूर्ण सहयोग दिया है।

विद्वद्वर्य स्व. दलसुख भाई मालवणिया, डॉ. एन.जे. शाह, डॉ. आर.एम. शाह, डा. वाय.एस. शास्त्री, सुश्री सलोनी जोशी, सुश्री पारूल बहन मांकड, पं. रूपेन्द्र भाई पगारिया, पं. सलोनी जोशी, सुश्री पारूल बहन मांकड, पं. रूपेन्द्र भाई पगारिया, पं. अमृतभाई पटेल आदि एवं ला.द. भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर इस कार्य में पूर्ण सहभागी रहे हैं। श्राद्धवर्य उपकुलपति महोदय डॉ. एन.के. जैन, डॉ. श्रीमती कुसुम जी डांगी, डॉ. के.सी. सोगानी, श्री नवरतन श्रीश्रीमाल, श्री प्रकाश जी कोठारी, श्री निर्मलजी श्रीमाल, स्व. श्री दुलीचंद जी सा. टांक, स्व. श्री नरेन्द्र जी जैन, श्री अशोक जी फोफलिया, डॉ. बी.एल. जैन, श्री डी.सी. जैन आदि अनेकानेक महानुभाव साधुवाद के पात्र हैं, जिनके सद्भाव पूर्ण सहयोग से यह कार्य पूर्ण हुआ।

अनेकानेक महानुभावों से उपकृत हूँ जिनका साथ मुझे समय-समय पर मिलता रहा है। श्री जैन श्वेताम्बर खरतरगच्छ संघ, जयपुर ने इसका प्रकाशन करवाकर जन-जन के ज्ञानार्जन में सहयोग दिया, अतः साधुवाद के पात्र हैं। इसका सुंदर मुद्रण कोटावाला प्रिन्टर्स एवं पब्लिशर्स प्रा.लि., जयपुर ने करके सबको लाभान्वित किया।

अंत में सभी से अभ्यर्थना कि इसका स्वाध्याय करके, ज्ञानार्जन में वृद्धि करके, पंचपद मय जीवनयापन करने का पुरुषार्थ करें।

गुरु विचक्षण चरणरज
सुरेखा श्री

1. पंच परमेष्ठी : भूमिका

'पंच परमेष्ठी' - पद जैन धर्म/दर्शन के आधारस्तम्भ हैं। जैन परम्परा इन पंच पदों को अपना परम आराध्य स्वीकार करती है। जो परम पद में स्थित हैं वे परमेष्ठी हैं। अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पंच पद परम मंगल स्वरूप स्वीकार किये गये हैं। ये पंच पद परम पद पर आसीन होने से हुए हैं। यद्यपि ये आत्म स्वरूप ही है, परन्तु परम साध्य है। सिद्ध के अतिरिक्त ये देव नहीं अपितु मानव हैं। इन पाँचों में प्रथम दो पद परम शुद्धावस्था को प्राप्त हैं। इन दो में से भी दूसरा पद परम विशुद्ध-मुक्त आत्मा का है एवं प्रथम अर्हत् पद संसारी रूप में मुक्त आत्मा के समान शुद्ध अवस्थान युक्त है। धर्म मार्ग का प्रवर्तन करने से ये पूजनीय, आदरणीय, समाचरणीय हैं। जगत् का कल्याण करने हेतु, सन्मार्ग की ओर प्रेरित करने हेतु , भवदुःखों से मुक्त कराने हेतु अर्हत् धर्मसंघ की स्थापना करके धर्मप्रवर्तन करते हैं।

आचार्य उस धर्म संघ के नेता, उपाध्याय संघ के शिक्षक तथा साधु शैक्ष तथा साधनाशील होते हैं। वस्तुतः ये तीनों पद साधक अवस्था के हैं। जिसमें क्रमशः विकास के सोपान का आदर्श प्रस्तुत किया गया है। आत्मा से परमात्मा पद के बीच की ईकाईयाँ हैं। जैन दर्शन का मन्तव्य यही है कि आत्मा ही परमात्म पद पर आसीन होता है। जैन दर्शन ही नहीं अपितु अन्य आस्तिक दर्शन का लक्ष्य भी इस परम पद की प्राप्ति है। भारतीय दर्शनों के अन्तर्गत मात्र चार्वाक दर्शन को छोड़कर सभी आस्तिक दर्शनों ने परम-तत्त्व के अस्तित्व को तो स्वीकार किया ही है, साथ ही उस परम तत्त्व की उपासना व आराधना पर भी बल दिया है। आस्तिक दर्शनों में साधारणतः जो ईश्वर में विश्वास व आस्था रखते हैं, उनको मान्य किया जाता है, और जो ईश्वर की सत्ता का निषेध करते हैं उनको नास्तिक से अभिप्रेत किया जाता है। 'नास्तिको वेदनिन्दकः'[१] मनुस्मृति में वेद निंदकों को नास्तिक संज्ञा से व्यवहृत किया है, अपेक्षाकृत दृष्टिकोण से जैन, बौद्ध, चार्वाक दर्शनों को तो नास्तिक ठहराया ही, साथ ही अनीश्वरवादी होने से सांख्य और पूर्वमीमांसा का भी नास्तिकता में समावेश किया गया है। महर्षि पाणिनी ने 'आस्तिक' की शास्त्रीय व्याख्या अपनी अष्टाध्यायी में की है- 'अस्ति परलोक इति मतिर्यस्य स आस्तिकः'[२] अर्थात् परलोक की सत्ता में विश्वासशील पुरुष!

१. मनुस्मृति, २.११
२. पाणिनी ४.४.६०

द्वादशांगी के प्रथम अंग सूत्र 'आचारांग' में इस पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। इस तथ्य की प्रामाणिकता इसमें अस्तिवाद के चार अंगों की स्वीकृति के द्वारा होती है-'आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद'।[१] इसी की पुष्टि 'सूत्रकृतांग'-द्वितीय अंग सूत्र में भी है-'लोक-अलोक, जीव-अजीव, धर्म-अधर्म, बंध-मोक्ष, पुण्य-पाप, क्रिया-अक्रिया नहीं है, ऐसी संज्ञा मत रखो। किन्तु ये सब हैं, ऐसी संज्ञा रखो।[२]

स्पष्ट है कि आस्तिक दर्शनों की भित्ति-आत्मवाद पर अधिष्ठित है। इस आत्मवाद के प्रश्न को ही दर्शन की उत्पत्ति की पृष्ठभूमि कहें तो अनुचित न होगा। आचारंग[३] सूत्र में कथन है, 'अनेक व्यक्ति यह नहीं जानते हैं कि मैं कहाँ से आया हूँ ? मेरा पुनर्जन्म होगा या नहीं ? मैं कौन हूँ ? यहाँ से फिर कहाँ जाऊँगा? यही जिज्ञासा दर्शन की जन्मदात्री है। धर्म/दर्शन का मूल आत्मा है। यदि आत्मा है तो वह है, नहीं तो नहीं। यही आत्मतत्त्व आस्तिकों का 'आत्मवाद' संज्ञा प्राप्त करता है। भारतीय दार्शनिक, पाश्चात्य दार्शनिक की भांति मात्र सत्य का ज्ञान ही नहीं चाहता, वह चाहता है मोक्ष। मैत्रेयी याज्ञवल्क्य से कहती है, जिससे मैं अमृत नहीं बनती, उसे लेकर क्या करुं ? जो अमृतत्त्व का साधन हो, वही मुझे बताओ।[४] इसी भांति कमलावती इक्षुकार को सावधान करती है, हे नरदेव! धर्म के सिवाय अन्य कोई भी वस्तु त्राण नहीं है।[५] प्रस्तुत में मैत्रेयी अपने पति से मोक्ष के साधनभूत अध्यात्म ज्ञान की याचना करती है, तो कमलावती अपने पति को धर्म का महत्त्व बतलाती है। इस प्रकार धर्म की आत्मा में प्रविष्ट होकर वह आत्मवाद ही अध्यात्मवाद बन जाता है। यही स्वर उपनिषदों के ऋषियों की वाणी में से भी निकला, "आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किये जाने योग्य है।[६]

इस प्रकार दर्शन का प्रारम्भ आत्मा से होता है और उसका अन्त परमात्मपदसे। सत्य ज्ञान उसका शरीर है और इस सत्य का प्राकट्य उसकी आत्मा है।

---

१. आचा.१.१.५.
२. सूयगडो २.५, १२-१६
३. आचा. १-१-१-१.
४. बृह. २.४.३०
५. उत्तरा. १४.४०
६. क बृहदारण्यक उप. २.४.५., ख शुक्र रहस्य ३.१३

मूर्त पदार्थों की भांति प्रत्यक्ष न होने से अमूर्त पदार्थों का निषेध भी नहीं किया जा सकता। चूंकि आत्मा अमूर्त है फिर भी उसका अस्तित्व भी स्वयं-सिद्ध होता है। आधुनिक विज्ञान के माध्यम से भी अनेक तत्त्वों का प्रत्यक्ष नहीं हो पाया। फिर भी कार्यों के कारण अस्तित्व तो मानना ही पड़ता है। 'ईथर' जैसे तत्त्व का प्रत्यक्ष न होने पर भी उसके अस्तित्व का निषेध भी नहीं किया गया।

इस प्रकार भारतीय चिन्तकों का चिन्तन आत्मा की स्वयंसिद्धि पर तथा उसकी अनिर्वचनीयता पर प्रमुख रूप से रहा है। जीव, आत्मा या चेतना की सत्ता का प्रश्न महत्त्वपूर्ण होने पर भी दार्शनिक क्षेत्र में विवादास्पद नहीं रहा।

परमात्म स्वरूप : भिन्न २ परम्पराओं में

परमात्मा, परमेश्वर, परमब्रह्म या परमदेव शब्द से पूजित अथवा ध्यान-उपासना करने में जो परमतत्त्व की मान्यता और जीवित कल्पनाएँ आज प्रचलित हैं, इस विचार-यात्रा में पहुँचने में मानव मानस ने हजारों वर्ष व्यतीत किये हैं। यद्यपि इस जटिल यात्रा का उल्लेख इतिहास में विस्तृत रूप से प्राप्त नहीं होता तथापि कहा जा सकता है कि ईश्वर या परमात्मा संबंधी ये विचार भेददृष्टि से प्रारम्भ होकर उत्तरोत्तर अभेददृष्टि की ओर गतिमान हुए हैं। भेददृष्टि में जीव और प्राकृतिक तत्त्वों का भेद, प्राकृतिक घटनाएँ और उन घटनाओं के प्रेरक देवों का भेद, अनेक देवताओं में परस्पर भेद और देव तथा परमदेव परमात्मा में भेद; इस प्रकार अनेकविध भेदों का समावेश होता है। जबकि अभेद-दृष्टि में प्राकृतिक दृश्य तथा प्राकृतिक घटनाएँ एवं उनके प्रेरक देवों के बीच भेद समाप्त होता जाता है, अनेक देवों के मध्य परस्पर भेद भी नहीं रहता और यहाँ तक कि अंत में जीव और परमात्मा के मध्य से भेदरेखा भी समाप्त हो जाती है।

मानवीय मानस जितने अंश में अन्तर्मुख होता है, उतने अंश में उसकी अभेददृष्टि विकसित होती जाती है। जितना अधिक वह अन्तर्मुख होता है, उसमें अभेददृष्टि का विस्तार व विकास होता जाता है। और अन्त में जब पूर्णतः उर्ध्वमुख या सर्वतोमुख विकासभूमिका में प्रवेश करता है तब भेददृष्टि का पूर्णतया लोप हो जाता है, साथ ही अभेददृष्टि के नये नये शिखरों का स्पर्श करनें लगता है। इस विकासयात्रा में मानव ने प्रथम देव को सर्जन का कर्ता मानकर पूजा की, पश्चात् उसमें कर्तृत्व एवं न्यायकर्ता की भावना उत्पन्न हुई अर्थात् देव सृष्टि का कर्ता है इतना ही नहीं परन्तु वह जीवों को न्यायमार्ग पर प्रेरित करके उनके सुकृत-दुष्कृत के अनुसार

शुभ-अशुभ फलदाता है। देव जीवों का नीतिनियामक है। और जब मानव-मन इससे भी अधिक अंतर्मुख और उर्ध्वमुख हुआ तब उसने देव या परमेश्वर को कर्ता या नीति-नियामक के रूप में मान्य न करके, उसे साक्षी रूप में मान्य कर उसकी उपासना व ध्यान साधना प्रारम्भ की। और इसमें आगे बढ़ने पर साक्षीभाव के अतिरिक्त अभिन्न स्वरूप में उसे निहारा। इस प्रकार स्वतंत्र परमात्मा भिन्न और साक्षीपद की स्थिति में से एक ओर जीव और जगत के साथ अभिन्न रूप में पर्यवसान प्राप्त करता है, तो दूसरी ओर स्वतंत्र जीव ही परमात्मा स्वरूप में स्थित हुआ। सारांश यह है कि अभेददृष्टि के विकास के परिणामस्वरूप परमात्मा या परब्रह्म यह एक ही तत्त्व वास्तविक रूप से मान्य करके उसमें जीव और जगत् के अस्तित्व का विलय हुआ तो दूसरी ओर बहुआत्मवादी मान्यता में भी अनेक आत्माओं का स्वतंत्र अस्तित्व मानने पर भी ये आत्माएँ ही परमात्मस्वरूप में या परब्रह्मस्वरूप में मानी गई। पहले अभेद में जीव परमात्मा में विलीन हो गया तो दूसरे अभेद में जीवों में ही परमात्मा का समावेश हो गया।

ब्राह्मण परम्परा

प्रकृति या निसर्ग पूजा में से प्रारम्भ होकर परमात्मा की ध्यानोपासना में पर्यवसान प्राप्त करती मानवीय मानस की विचारयात्रा मुख्यरूप से उपलब्ध वैदिक , बौद्ध और जैन परम्परा में दृष्टिगत होती है। वैदिक वाङ्मय में वेदों का और उपनिषदों का और उसमें भी ऋग्वेद का स्थान अनेक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। ऋग्वेद में सूर्य, चन्द्र, उषा, अग्नि, वायु आदि प्राकृत तत्त्व, अपनी महत्ता और अद्‌भुतता के कारण ही पूजित हैं। साथ ही इनकी महत्ता एवं प्रेरक शक्ति के रूप में अनेक देवों का अस्तित्व स्वीकार किया गया और ये देव ही इन प्राकृतिक घटना के कर्ता मान्य किये गये। अनेकदेववाद की भूमिका के अन्तर्गत ये मान्य किये गये। इन देवों में कोई प्रधान और कोई गौण भी हुए। इनमें अन्त में एक ही देव शेष रहता है अन्य देवों का समावेश इसमें ही हो जाता है। और यह एक देव ही उस वक्त परमात्मा और वही हिरण्यगर्भ, विश्वकर्मा, प्रजापति जैसे नामों से व्यवहृत हुआ है। ब्राह्मण और उपनिषदों में तो एक देव रूप में प्रजापति ही शेष रहता है। कभी-कभी स्वयंभू पद भी इस अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। यही एक देव या एकेश्वर की मान्यता अद्वैत रूप में विकसित होकर आद्यपर्यन्त स्थित रही है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में उसी परमेश्वर ने महेश्वर अभिधान धारण करके, उसे सृष्टिकर्ता और पुण्य-पाप नियामक रूप स्वीकार किया गया है, तो वैष्णव

परम्पराओं में इसने पुरुषोत्तम, वासुदेव या नारायण नाम से स्थान प्राप्त किया है। सेश्वर सांख्य या योगशास्त्र में पुरुषविशेष या ईश्वर नाम धारण किया है। यह पुरुष विशेष कर्ता या न्यायदाता मिटकर मात्र साक्षीरूप से व्यवहृत हुआ है, जो कि कूटस्थनित्यता की मान्यता के साथ संगत है।

परन्तु ऋग्वेद के कुछेक सूत्रों में एवं उपनिषद के कुछ अंशों में साथ ही शंकराचार्य जैसे प्रौढ़ आचार्यों ने इस मान्यता में अद्‌भुत विकास किया है। इस मान्यता के अनुसार जीव और जगत् से भिन्न किसी परमात्म तत्त्व के अतिरिक्त सर्वत्र व्याप्त एक सच्चिदानंदस्वरूप परब्रह्म ही वास्तविक है। यही अंतिम सत्य है। यह अखंड परब्रह्म की मान्यता देश-काल के भेद से भी परे है, जो कि जीवात्माओं के परस्पर पृथक्करण और भिन्नत्व पर आधारित नहीं है।

इस प्रकार ऋग्वेद में उल्लिखित निसर्गपूजा अनेकदेववाद, क्रमप्रधानदेववाद, एकदेववाद और अंत में परब्रह्मवाद में विराम लेती है। एकेश्वरवाद और परब्रह्मवाद इन दोनों वादों में ही आज सभी वैदिक दर्शनों का समावेश हो जाता है।

श्रमण परम्परा

जैन और बौद्ध परम्परा मूल रूप से वैदिक वाङ्मय को अन्तिम प्रमाण रूप से स्वीकारती ही नहीं बल्कि वैदिक वाङ्मय से निरपेक्ष अपना मन्तव्य प्रस्तुत करती है। यहाँ जीव, जगत् और परमात्मा विषयक चिन्तन और मत भिन्न और स्वतन्त्र वैचारिक भूमिका पर स्थिर हुए हैं।

वैदिक वाङ्मय और वेदावलम्बी दर्शनों में देव या अनेक देव प्रधान पद का भोग करते हैं और वे सृष्टिकर्ता, विश्वकर्मा अथवा प्रजापति होते हैं, जो कि वरुण या अन्य नाम से प्राणियों के सुकृत-दुष्कृत के प्रेरक हो जाते हैं। जिनका कोई भी भक्त, उपासक, ज्ञानी, कर्मयोगी या कर्मकांडी मनुष्य स्वाभाविक रूप से ही उनका किंकर या दास बनकर उनकी कृपा या अनुग्रह प्राप्त करना चाहता है। जैन और बौद्ध परम्परा में भी देवों का स्थान तो है, किन्तु ये सर्व देव-देवेन्द्र चाहे जितनी भौतिक विभूति, ऋद्धि समृद्धियुक्त हो, किन्तु उनकी अपेक्षा मनुष्य का स्थान उच्च है। इन दोनों परम्परा की एक ध्रुव मान्यता है कि बाह्य विभूति और शारीरिक शक्ति की दृष्टि से मनुष्य देवों की अपेक्षा हीन है, किन्तु जब वह आध्यात्मिक पथ पर आरूढ़ हो जाता है, तब शक्तिशाली देव भी उसके किंकर हो जाते हैं।[१] सृष्टिकर्ता एवं नीति नियामकता के रूप में देव के अस्तित्व को

१. दशवैकालिक, १. १.

दोनों परम्पराओं में प्रारम्भ से ही अवकाश नहीं रहता। इन दोनों परम्पराओं में मनुष्य (आत्मा)-आध्यात्मिक मनुष्य-साधना के शिखर पर पहुँचा मनुष्य ही देवाधिदेव या परमात्मा का स्थान ग्रहण करता है, किन्तु कर्ता या फलदाता के रूप में नहीं वरन् आदर्श उपास्य के रूप में ही। वैदिक परम्परा में सर्जनव्यापार ऋग्वेद-काल से ही दो प्रकार का माना गया है। १. कोई एक समर्थ देव अपने से भिन्न ऐसे उपादान द्रव्य में से सृष्टि की रचना करता है, यह हुई भेदमूलक दृष्टि। २. दूसरी ओर मूल में ही कोई तत्त्व ऐसा है कि स्वसंकल्प और तपबल के द्वारा उपादान के बिना ही अपने में से ही इस चराचर सृष्टि का सृजन करता है, यह हुई अभेद दृष्टि।

जैन और बौद्ध परम्परा उपर्युक्त दोनों वैदिक दृष्टियों को स्वीकार न करके यह मानते हैं कि अचेतन और भौतिक तत्त्व, एवं चेतन सत्त्व या जीव स्वतंत्र तत्त्व है, उनका कोई सर्जन नहीं करता। उनमें भी जो चेतन-सत्त्व हैं, वे ऐसी शक्ति धारण करते हैं, जो उस शक्ति के द्वारा अपना ऊर्ध्वगामी आध्यात्मिक विकास साध लेते हैं। ये पूर्णशुद्ध आत्मा ही परमात्म-पद को धारण करते हैं। ये पूर्ण शुद्ध सत्त्व समान हैं। ये अनेक भी हो सकते हैं। इस प्रकार दोनों परम्पराओं में परमेश्वर, पुरुषोत्तम या परमात्मा अर्थात् वासना और बंधनमुक्त सत्त्व।

विवर्त कैवलाद्वैतवादी ब्रह्मवाद और जैन परम्परा में यह अन्तर है कि कैवलाद्वैती ब्रह्मवाद में पारमार्थिक तत्त्व के रूप में एकमात्र सच्चिदानन्द ब्रह्म ही है। तात्पर्य यह है कि दृष्टिगत जीवभेद तो मात्र औपाधिक है। शुद्ध ब्रह्मस्वरूप का अथवा जीव-ब्रह्म के ऐक्य का वास्तविक ज्ञान होते ही जीव का औपाधिक अस्तित्व विलय हो जाता है और देश-काल की उपाधि से परे शुद्ध परब्रह्म का ही अनुभव रहता है। जबकि जैन परम्परा में जीवों का वैयक्तिक भेद वास्तविक है। जीवों के अतिरिक्त कोई ब्रह्मतत्त्व नहीं। उपनिषदों में ब्रह्मतत्त्व का जो पारमार्थिक सच्चिदानन्द स्वरूप है, वह पारमार्थिक स्वरूप जैन दृष्टि से प्रत्येक जीवात्मा में अन्तर्निहित है, किन्तु वह आवरणों से आवृत्त हैं। जो जीवात्मा योगसाधना द्वारा इन आवरणों का समूलोच्छेद करता है, वह विशुद्ध ब्रह्म स्वरूप हो सकता है। इस प्रकार जैन दृष्टि से जो जीवात्मा निरावरण होती है, वह समान भाव में परब्रह्म स्वरूप है। यहाँ कैवलाद्वैती वेदान्त की अभेददृष्टि और जैन परम्परा की भेददृष्टि में आकाश-पाताल जितना अन्तर होने पर भी परमात्म स्वरूप में अद्भुत साम्य यह है कि तत्त्वतः सच्चिदानन्द ब्रह्म एक हो या अनेक किन्तु सच्चिदानन्दता में सादृश्यता है।

यद्यपि बौद्ध परम्परा में विदेह मुक्त चित्त अर्थात् निर्वाण प्राप्त चित्त का स्पष्ट और सर्वमान्य वर्णन सम्प्राप्त नहीं होता। बौद्ध परम्परा में यह स्थिति अव्याकृत कही गई है।[१] फिर भी यह तो सर्वसम्मत है कि लोकोत्तर स्थिति को प्राप्त सत्त्व जो सर्वथा वासना-बंधन या संयोजना से मुक्त हो, विशुद्ध स्वरूप प्राप्त है वह अर्हत्, सुगत या परमात्मा है।

सारांश यह है कि न्याय वैशेषिक आदि कितनीक परम्पराएँ एक स्वतंत्र कर्ता और नीतिनियामक के रूप में परमात्मा स्वीकार करती है। योग एवं सेश्वर सांख्यादि परम्परा मात्र साक्षीरूप में परमात्मा को मान्य करते हैं। इधर कैवलाद्वैत जैसी परम्परा भिन्न कर्ता, नियामक और साक्षीरूप एक परमात्मा को न मानकर तद्भिन्न एक सच्चिदानन्द ब्रह्मतत्त्व को परमात्मा कहती है। जबकि जैन-बौद्ध परम्परा में इन सब से भिन्न अनेक पारमार्थिक शक्ति स्वरूप परमात्मा को स्वीकार किया गया है।

जीवात्मा और परमात्मा का संबंध

उपलब्ध भारतीय वाङ्मय के तत्त्वचिन्तन की प्रवाहित धारा में विकासक्रम की ओर दृष्टि करें तो विदित होता है कि ऋग्वेद के महत्त्वपूर्ण कितनेक सूक्तों में जो तत्त्वचिन्तन है, वह गूढ़, गहरा और आकर्षक होने के बावजूद भी उसमें आध्यात्मिक साधना का या परमतत्त्व के साथ जीवात्मा के संबंध का मार्मिक प्रश्न उद्भवित ही नहीं हुआ। ब्राह्मणग्रंथों में तत्त्वचिन्तन तो है, परन्तु वह यज्ञयागादि कर्मकाण्ड के स्वरूप और उससे ऐहिक-पारलौकिक लाभों की कामना में ही सीमित रह गया। उपनिषदों के तत्त्वचिन्तन में आधिभौतिक या आधिदैविक विषयक चर्चा तो हुई है, परन्तु वह आध्यात्मिक भूमिका की पृष्ठभूमि के रूप में हुई है। इसी से उपनिषदों का तत्त्वचिन्तन जीवात्मा और परमात्मा के संबंध को मुख्य रूप से स्पर्श करता है। इधर जैन और बौद्ध वाङ्मय के तत्त्वचिन्तन की नींव ही आध्यात्मिक भूमिका पर स्थिर हुई है। अतः जीवात्मा और परमात्मा का संबंध का उल्लेख भी इनके ही सन्दर्भ में किया जा सकेगा।

प्रत्येक जीवात्मा में या चेतन में एक ऐसी अकल दिव्यशक्ति है जो न स्थूल इंद्रियगम्य है न स्थूल मनोगम्य है। किन्तु वह है, इतना ही नहीं बल्कि वह स्पंदमान और प्रगतिशील है। यह प्रतीति मानवदेहधारी चेतन की जागृति से

---

१. दीघनिकाय पोट्ठपाद सुत्त २६-२७-५५ २१७-८, मज्झि निकाय, चूलमालुंक्य सुत्त, पृ. ९५ बम्बई

हो जाती है। मनुष्य अपनी दिव्यशक्ति की अगम्य प्रेरणा से ही वर्तमान जीवन के बंधन के घेरे में से मुक्त होने का प्रयास ही नहीं करता वरन् उस स्थिति से विशेष और विशेष उर्ध्वगामी होने की आकांक्षा करता है। यदि ऐसी कोई दिव्यशक्ति की प्रेरणा या जागृति न हो तो मानव-मन ने स्व-स्वरूप के विषय में, जगत् के स्वरूप के विषय में शोध न करी होती और अकल्प्य परमात्म स्वरूप का आदर्श सन्मुख रखकर ऐषणा में से उद्‌भवित चिरपरिचित सुखों को त्यागने में परमानन्द न माना होता। मनुष्य ने ऐसी आध्यात्मिक प्रेरणा के कारण ही मोक्ष-पुरुषार्थ के साथ निष्कामता का अनिवार्य संबंध अनुभव किया और इसी मार्ग पर ही प्रस्थान किया। मनुष्य-साधकमनुष्य ने यह अनुभव किया कि परमात्मा के साथ उसका संबंध चाहे द्वैतकोटि का हो या अद्वैतकोटि का, परन्तु वह संबंध अर्थात् मुक्ति सिद्ध करने का अनिवार्य साधन निष्कामता या निष्कषायता ही है। कोई भी आध्यात्मिक परम्परा का ऐसा साधक एक भी नहीं कि जो परमात्म पद प्राप्त करने के लिये निष्कामता को अनिवार्य साधन न मानता हो। इस प्रकार जीवात्मा और परमात्मा के बीच के संबंध के प्रश्न से साधक ने मोक्ष का आदर्श पूर्ण किया और साथ ही उसने सर्वसम्मत साधन के रूप में निष्कामता को स्वीकार किया।

मोक्ष का स्वरूप

सामान्य रूप से मोक्ष या मुक्ति की दो अवस्थाएँ निरूपित की जाती रही हैं-

१. सदेह अवस्था - जीवन्मुक्ति

२. विदेह अवस्था - विदेहमुक्ति

जीवन्मुक्ति-

देहधारी आत्मा में राग द्वेष और मोह की सर्वथा निवृत्ति सिद्ध होना जीवन्मुक्ति है। उनकी प्रवृत्ति देह संबंधित होती है। आवश्यक देह प्रवृत्ति करने पर भी रागद्वेष जन्य वृत्तियाँ एवं अज्ञान का लवलेश भी स्पर्श न होने से बंधनग्रस्त नहीं होते। उनका समग्र प्रवृत्तियाँ सहजता से कल्याणवह होती है और आयुष्य का परिपाक होते ही वे विदेहमुक्त हो जाते हैं। जीवन्मुक्त जैसा कि नाम से ही ज्ञात होता है-जीवित अवस्था में मुक्तावस्था। यह एक ऐसी अवस्था है जो विदेहावस्था की पूर्वावस्था तो है ही, किन्तु विदेहमुक्त होने से पूर्व अनिवार्य रूप से जीवन्मुक्त होना ही होता है। यदि जीवन दशा में राग, द्वेष, मोहादि दुष्प्रवृत्तियों से मुक्त न हो

सके तो विदेहावस्था को प्राप्त नहीं हो सकते। चाहे जीवन के अन्तिम समय में ही क्यों न हो पर जीवन्मुक्त होना आवश्यक है।

जैन परम्परा में इन जीवनमुक्त का अर्हत्, तीर्थंकर, सयोगीकेवली स्वरूप वर्णन किया है। बौद्ध परम्परा में ये जीवन्मुक्त अर्हत्, सुगत या लोकोत्तर सत्त्व के रूप में जाने जाते हैं। जिसका विशद वर्णन सिद्ध पद में किया गया है। न्याय[१] और योग परम्परा में भी जीवन्मुक्त का अस्तित्व स्वीकार करते हुए उन्हें चरमदेह, केवली, कुशल[२] आदि विशेषणों से विभूषित किया है। सामान्यतया रामानुज, मध्व, आदि वैष्णव परम्परा के अतिरिक्त सभी आध्यात्मिक परम्पराओं में जीवन्मुक्त का अस्तित्व स्वीकार किया है।

विदेहमुक्त

विदेहमुक्त होने पर जीवात्मा का स्वरूप और उसकी स्थिति कैसी होती है? इस विषय में दार्शनिकों की भिन्न २ मान्यताएँ हैं। जो कि परस्पर विरुद्ध भी हैं, तो साम्यता लिये हुए भी हैं, जो कि निम्न हैं-

१. उच्छेदवादी-देह के साथ ही चैतन्य के अस्तित्व का लोप हो जाता है, यह मान्यता अपुनर्जन्मवादी उच्छेदवादी की है।

२. शाश्वतवादी-जो कि देहनाश के पश्चात् भी चैतन्य का किसी न किसी रूप में अस्तित्व स्वीकार करते हैं, वे शाश्वतवादी हैं। शाश्वत का तात्पर्य है, जो तत्त्व हमेशा रहे, कभी उसका उच्छेद न हो। शाश्वत के अर्थ में नित्य, ध्रुव, कूटस्थ आदि शब्द प्रयुक्त होते हैं। इस नित्यता के पारमार्थिक स्वरूप के विषय में तत्त्वचिन्तकों में कई प्रश्न उद्‌भूत हुए-

१. निरन्तर अर्थात् जो सतत विद्यमान होने पर भी उसमें कुछ परिवर्तन न आवे वह? अथवा

२. जिसका सतत अस्तित्व होने पर भी स्वभू शक्ति से और बाह्य निमित्त से सजातीय या विजातीय किसी भी प्रकार का परिवर्तन या परिणाम का अनुभव करे वह। इस प्रकार शाश्वत या निरंतर तत्त्व के स्वरूप के विषय में ये दो प्रश्न थे। कोई अपरिवर्तिष्णु शाश्वत तत्त्व को मानते, तो कोई परिवर्तिष्णु शाश्वत तत्त्व को

---

१. न्यायभाष्य ४.२.१., न्यायभाष्य ४.१.६४

२. योगसूत्रभाष्य २.४. २७.

स्वीकार करते। इसमें पहले प्रकार वाले **कूटस्थनित्यवादी** कहलाये तो दूसरे **परिणामिनित्यवादी**। परन्तु दोनों ने तत्त्व को नित्य या निरन्तर तो स्वीकार किया ही है। अन्तर परिवर्तन होने पर का है। द्रव्य कभी अपूर्व उत्पन्न नहीं होता और न ही सर्वथा उसका विनाश होता है।

शाश्वत और उच्छेदवाद वस्तुतः दोनों परस्पर विरुद्ध मन्तव्य है। ऐसी अन्तिम कोटियाँ एकान्त या एकांगी होने से पारमार्थिक नहीं हो सकती, ऐसे मन्तव्यों से बुद्ध ने मध्यमप्रतिपदा[१] विकसित की। बुद्ध के दार्शनिक चिन्तन का मूल अर्थ यही है कि कोई भी द्रव्य या तत्त्व न तो मात्र शाश्वत हो सकता है और न ही मात्र उच्छेदशील। बुद्ध तत्त्व उसे स्वीकार करते हैं कि जिसमें न तो शाश्वतता हो और न ही उच्छेदता। इस प्रकार कूटस्थ और नित्यत्व न हो ऐसा मध्यममार्ग बुद्ध ने स्वीकार किया। इस मध्यममार्ग विचार में से क्रमशः सन्तति-नित्यतावाद विकसित हुआ। तात्पर्य इसका यह है कि परिवर्तन जिसमें हो, ऐसा कोई अनुस्यूत या अखंड द्रव्य नहीं है, परन्तु पूर्वोत्तर क्षणों में प्रवर्तती एक सतत धारामात्र है। इस प्रकार ये पुनर्जन्म-मत में विश्वास करते हैं। परन्तु पुनर्जन्म के स्वीकार से अर्थात् जन्मजन्मान्तर में चित्त या चैतन्य धारा का सातत्य स्वीकारना पड़ा। दूसरी बात यह है कि सन्तति-नित्यतावाद यह कूटस्थ नित्यता और परिणामि नित्यता दोनों का विरोध करने वाला एक ऐसा पक्ष है कि जिसमें दोनों पक्षों के आक्षेपों का निराकरण करके अपना अस्तित्व साबित करने का। इधर कूटस्थनित्यवादी और परिणामिनित्य दोनों ही वादों के प्रहारों, आक्षेपों का निवारण भी करना था। इस प्रकार प्रत्येक पक्ष पर दूसरे पक्ष का परोक्ष रूप से प्रहार पड़ा ही है।

भारतीय परम्परा चार विभागों में समाविष्ट होती है-वैदिक, जैन, बौद्ध, आजीवक।

आजीवक परम्परा का इतिहास विस्तृत होने पर भी आज उनका स्वतंत्र साम्प्रदायिक साहित्य उपलब्ध नहीं है। इतर परम्पराओं के साहित्य में संग्रहित रूप में ही प्राप्त होता है। वैदिक परम्परा में ६ दर्शनों का समावेश होता है- न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा। पूर्वमीमांसा, उपनिषद् आदि मोक्षवादी विचारों का आदर करती है, किन्तु वास्तव में वह कर्म मीमांसा है। और कर्म-फल के रूप में स्वर्ग से इतर उच्च आदर्श या ध्येय का विचार नहीं

---

१. दीघनिकायगत ब्रह्मजालसुत्तः संयुक्तनिकाय १२. १७. १२. २४.

करती। अतः मोक्ष का प्रश्न उद्‌भवित नहीं होता।

वैदिक दर्शनों में आत्मतत्त्व की कूटस्थनित्यता मान्य की गई है। कोई जीवात्मा और परमात्मा का भेद स्वीकारे या सर्वथा अभेद स्वीकारे या भेदाभेद माने। इसी प्रकार कोई आत्मा को विभु माने या अणु माने, कोई बहुत्व माने या एकत्व माने किन्तु वह आत्मा को कूटस्थ नित्य तो मानते ही है।

कणाद का वैशेषिक दर्शन और उसका अनुसरण करने वाले, अक्षपाद का न्यायदर्शन दोनों ही आत्मा के स्वरूप के विषय में एकमत है। दोनों के मत में आत्मा कूटस्थनित्य और देहभेद से भिन्न है और ये अपवर्ग या मुक्ति को भी स्वीकारते हैं। कपिल का सांख्य दर्शन और पातंजल का योगदर्शन दोनों देहभेदे आत्मभेद मानकर आत्मा का कूटस्थ नित्यत्व भी मानते हैं। अपवाद मात्र से अन्तर इतना ही है कि चौबीस तत्त्व मानने वाला सांख्य का प्राचीन स्तर प्रकृति से भिन्न ऐसे पुरुष का अस्तित्व नहीं मानकर जीवतत्त्व, पुनर्जन्म और मोक्ष के विचारों को प्रकृति में स्वीकार कर, प्रकृति को कूटस्थ नित्य नहीं वरन् परिणामिनित्य स्वीकार करते हैं।

औपनिषद्‌दर्शन की अनेक शाखाओं में से शंकर केवलाद्वैतवादी और एक अखण्ड ब्रह्मतत्त्ववादी हैं। वे ब्रह्मतत्त्व का कूटस्थ-नित्य स्वरूप स्वीकारते हैं। जबकि रामानुज विशिष्टाद्वैत होकर ब्रह्म तत्त्व से किंचिद् भिन्न ऐसे जड़ और चेतन जीवतत्त्व को वास्तविक रूप से मान्य करते हैं। मध्व तो न्यायवैशेषिक की भांति द्वैतवादी होने से जीवात्माओं का बहुत्व मानकर उनका पारमार्थिक अस्तित्व मानते हैं। फर्क यही है कि वे रामानुज की भांति जीव को अणुरूप मानकर उनका कूटस्थ नित्यत्व घटाते हैं। मध्व ब्रह्म या विष्णु तत्त्व को तो जीव से भिन्न और कूटस्थनित्य मानते ही हैं और ही विभु भी स्वीकार करते हैं।

वल्लभ ब्रह्मतत्त्व को विभु मानकर उसके परिणामस्वरूप ही जीव-जगत का वर्णन करते हैं। ऐसा मानने से वे परमब्रह्म में परिणामित्व की आनेवाली आपत्ति को टालने के लिये उसे अविकृत परिणामी कहते हैं अर्थात् ब्रह्म परिणामी होने पर भी उसमें विकार नहीं होता। इस प्रकार वल्लभ सांख्य की प्रकृति का परिणामित्व ब्रह्मतत्व में मानकर भी उसे अविकृत परिणामि कहकर कूटस्थनित्यत्व का भिन्न प्रकार से समर्थन करते हैं।[१]

---

१. गो. ह. भट्ट कृत ब्रह्मसूत्र-अणुभाष्य के गुजराती अनुवाद की प्रस्तावना.

न्याय वैशेषिक आत्मा को चेतन कहकर भी, आत्मा में चैतन्य साहजिक न मानकर आगन्तुक गुण रूप में स्वीकार करते हैं। शरीर, इंद्रिय और मन आदि का संबंध हो तब तक ही उनके द्वारा उत्पन्न ज्ञान आत्मा में होते हैं। इन ज्ञानों को धारण करने की शक्ति अर्थात् उपादानकारणता ही इनके मत में चैतन्य है।

अध्यात्मिक-विकास की अपेक्षा आत्मा के भेद

जैसा कि पूर्व में कथन किया है कि जैन दर्शन में आत्मा की योग्यता के विषय में, स्वरूप में, समानता मानी गई है। आत्मोत्थान की सहज योग्यता समग्र आत्माओं में एक समान है। फिर भी सभी का विकास एक सा नहीं होने का कारण यह है कि उसका पुरुषार्थ आत्माभिमुख नहीं होता। जैन धर्म-दर्शन आत्मा की उच्चावस्था आत्म-अपेक्षा ही स्वीकार करता है। जब तक आत्मा शुद्ध आत्मस्वरूप के अभिमुख नहीं होगा, तब तक अपनी शुद्धात्म दशा का प्रगटीकरण नहीं कर पाएगा। यह प्रत्येक आत्मा के पुरुषार्थ एवं निमित्त के बलाबल पर ही आधारित है।

इसी आत्म-सापेक्ष अवस्थाओं को लक्ष्य में रखकर जैन दार्शनिक आत्मा के तीन भेद करते हैं-

१. बहिरात्मा

२. अन्तरात्मा

३. परमात्मा

आचार्य कुंदकुंद[१], पूज्यपाद[२], योगेन्दु[३], शुभचन्द्राचार्य[४], स्वामिकार्तिकेय[५], नेमिचन्द[६], अमृतचन्द[७], राजमल्ल[८], अमितगति[९], देवसेन[१०], ब्रह्मसेन[११] आदि आचार्यों ने उपर्युक्त तीनों भेदों का उल्लेख स्वग्रन्थों में किया है। आगम ग्रन्थ

---

१. (क) मोक्ष पाहुड, गा.४ (ख) रयण सार (ग) नियमसार

२. समाधिशतक, ४

३. (क) परमात्मप्रकाश १.११-१२. (ख) योगसार-६

४. ज्ञानार्णव, ३२.५

५. कार्तिकेयानुप्रेक्षा-१९२

६. द्रव्यसंग्रह १४

७. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

८. अध्यात्मक कमल मार्तण्ड-१२

९. (क) योगसार (ख) अमितगति श्रावकाचार

१०. ज्ञानसार, गा. २९

११. द्रव्यसंग्रह टीका, १४

आचाराङ्ग आदि में इन तीनों भेद का वर्णन तो उपलब्ध होता है, किन्तु स्पष्टतया ये तीन भेद हैं, तथा प्रकार की संयोजना नहीं मिलती।

पौर्वात्य दार्शनिकों ने ही नहीं वरन् पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी आत्मा की उत्कर्ष-अपकर्ष अवस्था पर ध्यान केन्द्रित किया है। प्लेटो ने ज्ञान को धर्म और अज्ञान को अधर्म माना है। साथ ही दावा किया है कि वास्तविक ज्ञानी कभी अधर्म नहीं कर सकता क्योंकि धर्म ही उसका स्वरूप है। यह ज्ञान ही परम आनन्द है। सांसारिक सुखों में उत्कर्षापकर्ष का तारतम्य है। उनके अनुसार इंद्रिय सुख के ऊपर भावना सुख तथा भावना सुख के ऊपर बुद्धि सुख और बुद्धि सुख से भी स्वानुभूमित सुख श्रेष्ठ है। अज्ञानी जन इन्द्रिय-सुखों से आकृष्ट होते हैं।[१]

'रिपब्लिक' में प्लेटो ने कहा है, "ये लोग (विषयसुख के प्रेमी) निरे पशुओं के समान हैं, इनकी दृष्टि नीचे है और शरीर पृथ्वी पर झुक रहे हैं। ये लोग खाते पीते और मुटाते हैं तथा सन्तानोत्पत्ति में लगे रहते हैं। विषयसुखों में अत्यधिक प्रेम के कारण ये मानव-पशु अपने लोहे जैसे सींगों और खुरों से एक दूसरे पर प्रहार करते हैं और दुलत्तियाँ झाड़ते हैं और अपनी सदा अशान्त तृष्णा के कारण एक दूसरे के प्राण लेते रहते हैं।"[२] प्लेटो के अनुसार "इस संसार में दु:खपूर्वक जीनेवाला धार्मिक व्यक्ति सुखपूर्वक जीनेवाले अधार्मिक व्यक्ति से कई गुना बड़ा है, क्योंकि धार्मिक व्यक्ति को आत्म संतोष रूपी सर्वोत्तम सुख प्राप्त है। अपनी आत्मा को बेचकर सारे विश्व को खरीद लेने में भी कोई लाभ नहीं।"[३]

इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखकर प्लेटो ने जीवात्मा के तीन रूप निर्देश किये हैं - १. बुद्धि (cognition) २. संकल्प (conation) ३. वेदना। बुद्धि का धर्म ज्ञान (wisdom), संकल्प का धर्म बल (courage) और वेदना का धर्म संवेदनात्मक क्रिया (appetite) है।[४]

जिनमें ज्ञान का प्राधान्य है वे 'संरक्षक' (guardians), जिनमें बल का प्राधान्य है वे 'सैनिक' (soldiers), और जिनमें क्रिया का प्राधान्य है वे पृथग्जन (artisans) कहलाते हैं।[५]

---

१. पाश्चात्य दर्शन, पृ. ३६-३७
२. वही, पृ. ३७
३. वही।
४. वही।
५. पाश्चात्य दर्शन, पृ. ३७.

प्लेटो के विचार जैन विचारधारा से अत्यन्त साम्य रखते हैं। जैन सम्मत आत्मा के तीन भेद परमात्मा, अन्तरात्मा तथा बहिरात्मा के अर्थ को ही ये प्रकट करते हैं। सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी परमात्मा अतिशय ज्ञान के धारक हैं। संरक्षक को इस कोटि में रखा जा सकता है। अन्तरात्मा से तात्पर्य यहाँ आचार्य, उपाध्याय और साधु से लिया जाता है। जो कि जिन शासन के सेनानी हैं। इस प्रकार सैनिक को अन्तरात्मा के समकक्ष रखा जा सकता है। बहिरात्मा का विभाव में परिणमन होने से वह सांसारिक क्रिया-कलापों में मशगूल रहता है। पृथग्जन में क्रिया का प्राधान्य होने से बहिरात्मा कहा जा सकता है।

दार्शनिक अरस्तु ने भी ज्ञान के तीन स्तर स्वीकार किये हैं। प्रथम है इंद्रियानुभव जिसके द्वारा हमें केवल विशेषों का पृथक् ज्ञान होता है। द्वितीय है पदार्थ विज्ञान जिसके द्वारा हम विशेषों में सामान्य को खोजते हैं, उनके कार्य-कारण भाव संबंध को जानते हैं और उस ज्ञान को जीवन के उपयोग में लाते हैं। तृतीय ज्ञान है तत्त्व-विज्ञान या दर्शन। यह सर्वोत्तम है। यह परम तत्त्व या परम सामान्य का, शुद्ध सत्ता का, सत् का ज्ञान है। यह परमार्थ तत्त्व के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान है। यह तत्त्व का दर्शन है।[१]

अरस्तू का प्रथम ज्ञान स्तर बहिरात्म दशा को लिए हुए है। देहात्मस्वरूप में बहिरात्मा का ज्ञान निहित होता है। जबकि अन्तरात्मा का पुरुषार्थ शुद्धात्मस्वरूप की शोध में संलग्न होता है। परमात्मा शुद्धात्मा, परम तत्त्व ही हैं।

जिस प्रकार जैन चिन्तकों ने आत्मदशा का वर्गीकरण किया, उसी प्रकार का वर्गीकृत भेद अन्य दर्शनों ने नहीं किया। किन्तु अविकसित रूप यत्किंचित् दृष्टिगत अवश्य होता है। कठोपनिषद् में ज्ञानात्मा, महदात्मा तथा शान्तात्मा रूप मिलता है।[२] डायसन ने छान्दोग्योपनिषद् के आधार पर-शरीरात्मा, जीवात्मा और परमात्मा, इस प्रकार उल्लेख किया है।[३] स्वामी रामदास जीवात्मा, शिवात्मा, परमात्मा और निर्मलात्मा चार भेद स्वीकार करते हैं, अन्त में वे इन चारों का ही एकीकरण कर देते हैं।

प्राचीनतम अंग आगम आचाराङ्ग में यद्यपि बहिरात्मा नाम से अभिहित नहीं

---

१. वही, पृ, ३१

२. कठोपनिषद् १.३.१३.

३. परमात्म प्रकाश की अंग्रेजी प्रस्तावना (डॉ. ए.एन. उपाध्ये) पृ. ३१ तथा हिन्दी रूपान्तर (पं. कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री) पृ. १०१

हैं तथापि बहिरात्मा का स्वरूप निर्देश स्थल स्थल पर दृष्टिगत होता है। बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन तीनों ही प्रकार की आत्माओं के स्वरूपलक्षण का उल्लेख सर्वत्र किया गया है। बहिरात्मा को बाल, मूढ़, मंद, अनार्य, अज्ञानी, कामकामी, महाश्रद्धी, अमुनि कहकर सम्बोधित किया है तो अन्तरात्मा को मेघावी, ज्ञानी, पंडित, वीर, धीर, सम्यक्त्वदर्शी, अनन्यदर्शी, अप्रमत्त, आर्य, दीर्घदर्शी, मतिमंत, निर्ग्रन्थ, निष्कर्मदर्शी, महर्षि, प्रज्ञामंत, परमचक्षु कहकर सम्मानित किया है। परमात्मा को सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सिद्ध आदि नामों से आलेखित किया है। वस्तुतः जैन दर्शन अर्थ प्रधान दर्शन है, भाव प्रधान है। यहाँ शब्द पर विशेष भार न देकर अर्थ को ही प्रधानता दी गई है। अरिहन्त परमात्मा की धर्म-देशना भी अर्थप्रधान ही मानी गई है।[१] द्वादशाङ्गी को सूत्रबद्ध-शब्द देने का आधार अर्थ प्रधान उपदेश है। इसी प्रकार बहिरात्मादि अवस्थाओं का उल्लेख भिन्न-भिन्न नामों से आचाराङ्ग सूत्र में अभिहित किया है। इन्हीं नामों को सूत्रकृताङ्ग में भी आलेखित किया गया है।

हालांकि आचाराङ्ग आदि प्राचीन ग्रन्थों में इन त्रिविध आत्माओं का स्वरूप परिलक्षित हुआ है। तथापि इस वर्गीकरण के विकसित स्वरूप का श्रेय आचार्य कुंदकुंद को है। पश्चात्वर्ती आचार्यों के ग्रन्थों में इसका अनुकरण अनुलक्षित होता है। कार्तिकेय, पूज्यपाद, योगीन्दु, हरिभद्र, शुभचन्द्र, अमृतचन्द्र, गुणभद्र, अमतिगति, देवसेन, ब्रह्मदेव के ग्रन्थों में इन तीनों ही भेद पर समुचित प्रकाश डाला है।

बहिरात्मा

जैसा कि इस अवस्था का नाम ही है आत्मनिरपेक्ष बहिर्मुखी वृत्ति। अज्ञानी जीवनकाल-अकाल की परवाह किये बिना, माता-पिता और पत्नि आदि में तथा धन में गाढ़ आसक्ति रखकर रात दिन चिन्ता की भट्ठी में जलता रहता है, विश्व को लूटता है और विषयों में दत्तचित्त होकर बिना विचारे हिंसकवृत्ति से अनेकों दुष्कर्म कर डालता है।[२] ये मोह से घिरे रहते है।[३] स्वर्ण, रत्न, आभूषण स्त्री आदि प्राप्त करके उसमें आसक्त हो जाते हैं। यहाँ न तप है अथवा न इंद्रियदमन,

---

१. परमात्म प्रकाश की अंग्रेजी प्रस्तावना (डॉ. एन. एन. उपाध्ये पृ. ३१ तथा हिन्दी रूपान्तर (पं. कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री) प. १०१.

२. आवश्यक निर्युक्ति, गा. १९२१, विशेषावश्यक भाष्य २१२६.

३. आचाराङ्ग १.२.२, १.२.३, सूत्र. १.१.१.६, १.२.१.२०, १.१.१.१०, १.२.१.६.

अहिंसादि व्रत फलवान् देखे जाते हैं। इस प्रकार निरा अज्ञानी उसमें मूढ़ बना हुआ विपरीत प्रवृत्ति करता है।[१] 'वह जरा और मृत्यु में फंसा हुआ, किंकर्त्तव्यविमूढ धर्म को नहीं जानता है।[२] वह आरंभजीवी अज्ञानी विषयाभिलाषा में पीड़ित होकर अशरण को शरण मानकर पापकारी सावद्य कार्यों में रमण करता है, प्रसन्न होता है।[३] आचार्य कुंदकुंद जो श्रमण आवश्यक से परिहीन है,[४] वचन विलास में लगा रहता है,[५] धर्म ध्यान नहीं करता[६] वह श्रमण भी मिथ्यादृष्टि अर्थात् बहिरात्मा है।'

बहिरात्मा का स्वरूप निर्देश करते पुनः कहते हैं "मूढ़ दृष्टि बहिरात्मा अपने स्वरूप से च्युत होता हुआ अपने शरीर को आत्मा मानता है।'[७] वह आत्मोत्पन्न ज्ञान ध्यान रूपी सुखामृत रसायण के अनुभव का त्याग करके इन्द्रिय सुखों का अनुभव करता है।[८] शरीर, स्त्री, पुत्रादि, रागद्वेष, मोह रूप विभाव को आत्म स्वरूप मानता है।[९]

इस प्रकार बहिरात्मा में निम्नलिखित तत्त्व विद्यमान रहते हैं।[१०]-

१. मिथ्यात्वोदय
२. तीव्र कषाय विष
३. देहात्म बुद्धि
४. हेयोपादेय विचारशून्य
५. गाढ़ आसक्ति

---

१. आचा. १.१.२.२ सूत्र. १.१.१.१४
२. आचार. १.२.३., १.४.४, सूत्र.१.२.११, १.२. १.३
३. आचा. १.३.१
४. आचा. १.१.५.१, सूत्र. १.१.४.१ रयण सार १३५, ज्ञानसार, ३०.
५. नि. सा. १४१, १४९-१५२
६. नि. सा. १५०.
७. नि. सा. १४१, योगसार ८.
८. मोक्ष पाहुड, ४, ५, ८, १, १०, ११.
९. रयण सार, १४१, योगसार ८.
१०.(क) वही, १३४, प्रव. सार ता. वृ. २३८, ३२९।१२.
(ख) अध्यात्म कमल मार्तण्ड, १२
(ग) समाधि तंत्र, ५
(घ) परमात्म प्रकाश, १.१३.
(च) योग सार, १०
(छ) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, १९३

बहिरात्मा के द्रव्य संग्रह की टीका में तीन भेद किये हैं-

१. तीव्र बहिरात्मा : मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती आत्मा[१]
२. मध्यम बहिरात्मा : सासादन गुणस्थानवर्ती आत्मा
३. मंद बहिरात्मा : मिश्र गुणस्थानवर्ती आत्मा

अन्तरात्मा-अन्तमुर्खी आत्म साक्षेप जिसकी वृत्ति हो वह अन्तरात्मा होता है। 'वह संयमधनी साधक सर्वथा सावधान और सर्व प्रकार से समझ युक्त होकर अकरणीय पापकर्मों में यत्न नहीं करता।'[२] वह जानता है 'जो शब्दादि विषय हैं, वे संसार के मूल कारण हैं। इसीलिए विषयाभिलाषी महद् दुःखों का अनुभव करता है।'[३] 'इस प्रकार संयम के लिए उद्यत होकर अन्तर्मुखी बनकर वह धीर पुरुष मुहूर्त्तमात्र का भी प्रमाद नहीं करता क्योंकि वय और यौवन बीतता चला जा रहा है।'[४] वह आत्माभिमुखी होकर चिन्तन करता है ये कामभोग दुरतिक्रम्य है, जीवन बढ़ाया नहीं जा सकता अतः प्रमाद न करे।[५] वह दीर्घदर्शी संसार की विचित्रता जानता है, तीनों लोकों की दिशाओं में विषयाभिलाषी परिभ्रमण करता है यह जानकर, वह संसार के बंधनों से मुक्त होता है। शरीर के अन्दर और बाहर असारता को देखकर, वह मोहाभिभूत नहीं होता। वह तत्त्वज्ञ और परमार्थदृष्टा है, मोक्ष के सिवाय अन्यत्र रमण नहीं करता।[६] वह सम्यक्त्वदर्शी संयम की आराधना करके आत्मा और शरीर का भेद विज्ञान जानने का पुरुषार्थ करते हैं। इस प्रकार ममत्व बुद्धि को त्यागनेवाला मुनि ही मुक्त, अपरिग्रही एवं त्यागी कहे गये हैं। वह कर्म स्वरूप को जानकर राग और द्वेष से दूर रहने का उपाय करता है।[७] सम्यग्दृष्टि तत्त्ववेत्ता परम तत्त्व को जानकर पाप कर्म नहीं करता।[८] ऐसे दिव्य दृष्टिवाले साधक को ब्रह्म-शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है।[९] इस प्रकार आत्माभिमुखता की ओर संलग्न हैं वे अन्तरात्मा आत्म-संकल्प में निरत है।[१०]

---

१. द्रव्य संग्रह टीका, गा. १४।४६।८
२. आचा. १. १.७. ६४
३. वही, १. २. १.
४. वही, १. २. १, १. २. ४.
५. वही, १. २.५.
६. वहीं, १. २. ६, भगवती २०, श. २ उद्दे.
७. वही, १. ३. १, मो. पा. ५-९, रय, सा, १४१, समाधितंत्र-५, परमात्म प्रकाश, १४.
८. आचा. १. ३. २
९. वही, १. ५. २, नि. सा. १४९.
१०.मो. पा. ५

अन्तरात्मा के भेद-आत्मगुण के विकास के अनुसार अन्तरात्मा के भी तीन भेद किये गये हैं-

(क) जघन्य अन्तरात्मा :- अविरत सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थावर्ती आत्मा जघन्य अन्तरात्मा है।[१]

(ख) मध्यम अन्तरात्मा :- देशविरति पंचम गुणस्थान से उपशान्त मोह ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती आत्मा मध्यम अन्तरात्मा है।[२]

(ग) उत्कृष्ट अन्तरात्मा :- क्षीण कषाय नामक बारहवें गुणस्थानवर्ती आत्मा उत्कृष्ट अन्तरात्मा है।[३]

निजानुभूति का पान करने वाले अन्तरात्मा में निम्नलिखित गुण होते हैं-

१. धर्म ध्यान का ध्याता

२. आत्मोन्मुखी प्रवृत्ति

३. शरीर और आत्मा के भिन्नत्व की प्रतीति

४. आत्म निष्ठा का पूर्ण सद्भाव

५. जिनवचनों की विज्ञता

परमात्मा

शुद्ध आत्मा ही परमात्मा है। कर्मशत्रु से रहित, रागद्वेष के विजेता, सर्वज्ञ और सर्वदशी आत्मा ही परमात्मा है।[४] अरिहन्त एवं सिद्ध ये दोनों परमात्मा हैं।[५] जीवन्मुक्त अरिहन्त को तथा विदेहमुक्त सिद्ध को कहा जाता है।

इसी प्रकार कार्य परमात्मा और कारण परमात्मा ये दो भेद भी परमात्मा के प्राप्त होते हैं।[६]

अरिहन्त या केवली कारण परमात्मा है। घाती चतुष्क कर्मों के क्षय के फल स्वरूप कैवल्य का प्राकट्य जिनमें हुआ है, वे 'सयोगी केवली' नामक तेरहवें

---

१. (क) कार्तिकेयानुप्रेक्षा, १९७, (ख) नियमसार तात्पर्यटीका भा. १४९

२. (क) का. अ. १९६, (ख) द्रव्य संग्रह गा. १४१, अष्ट., ११

३. वही.

४. (क) मोक्षपाहुड ५, (ख) समाधितंत्र ५, (ग) परमात्मप्रकाश ३०-४२

५. (का. अ. गा. १९२)

६. नि. सा., तात्पर्य वृत्ति ६, नयचक्र गा. ३४०.

गुणस्थानवर्ती हैं। अघाती चतुष्क कर्मों की सत्ता भवोपग्राही होने से वे कारण-परमात्मा हैं। भवोपरान्त वे परम शुद्धावस्था को वरण करने वाले हैं।

अष्ट कर्मों का नाश और समस्त परद्रव्यों का त्याग कर केवल ज्ञानमय आत्मा को प्राप्त करना कार्य परमात्मा है। अरिहन्त परमात्मा **कारण परमात्मा** है तथा सिद्ध परमात्मा **कार्य परमात्मा** है।[१]

सकल एवं विकल, ये दो प्रकार भी परमात्मा के है।[२] यहाँ कल शब्द का अर्थ शरीर है, जो शरीर युक्त है वे सकल परमात्मा हैं एवं जो शरीर से वियुक्त हैं, (अशरीरी), अष्ट कर्मों से मुक्त सिद्ध परमात्मा विकल परमात्मा हैं। तेरहवें सयोगी केवली और चौदहवें अयोगी केवली गुणस्थानवर्ती आत्मा परमात्मा स्वरूप है।

आत्मा की इन ३ अवस्थाओं को मिथ्यादर्शी, सम्यग्दर्शी तथा सर्वदर्शी भी कहा जा सकता है। प्रकारान्तर से इन अवस्थाओं को पतित-अवस्था, साधकावस्था तथा साध्यावस्था या सिद्धावस्था भी कहा गया है। किसी अपेक्षा से नैतिकता की पृष्ठभूमि में इनको अनैतिकता, नैतिकता तथा अतिनैतिकता नाम भी दिया जा सकता है। समीक्षा की दृष्टि से पहली अवस्था दुराचारी अथवा दुरात्मा की है, द्वितीयावस्था सदाचारी या महात्मा की है तथा चरमावस्था आदर्शात्मा या मुक्तात्मा, परमात्मा की है। पंडितवर्य सुखलालजी ने आध्यात्मिक उत्क्रान्ति की अवस्थाओं में इनको आध्यात्मिक अविकास की अवस्था, आध्यात्मिक विकासावस्था तथा आध्यात्मिक पूर्णावस्था कहा है।[३]

परमात्मा-अरिहन्त, सिद्ध

उपर्युक्त तथ्यों से यह निष्कर्ष सहज ही प्रभूत हो जाता है कि परमात्म स्वरूप अरिहन्त तथा सिद्ध हैं। सांख्य दर्शन, योगदर्शन, न्याय दर्शन, वेदान्त दर्शन सभी ने इन अवस्थाओं को किसी न किसी रूप से अंगीकार किया है। न्याय-वैशेषिक-सांख्ययोग-वेदान्त इस अवस्थाओं को जीवन्मुक्त तथा विदेहमुक्त से अभिहित किया है। जैन दर्शन सयोगी केवली-अरिहन्त तथा अयोगी केवली-सिद्ध रूप से परमात्मा के दो भेद मान्य करता है। जो क्रम से जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त ही हैं।

---

१. नि. सा. ता. वृ. ६,७ नयचक्र गा. ३४०, मो. पा. ५, प. प्र. १. १५-२५, द्र. स. १४.४२.४.
२. कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा. १९२, १९८, नि. सा., १७७-१७८, स. श. ३०-३१, प. प्र. १-३३.
३. पंडित सुखलाल 'दर्शन अने चिन्तन' भाग-२, पृ. १०१२.

अन्तरात्मा : आचार्य, उपाध्याय, साधु

आत्म स्वरूप में रमण करने वाले, आत्माभिमुख, ज्ञान दर्शन चारित्र सम्पन्न आत्मा अन्तरात्मा कहा जाता है। यद्यपि अन्तरात्मा में चतुर्थ गुणस्थानवर्ती आत्मा का समावेश किया है तथापि उत्कृष्ट अन्तरात्मा चारित्रधारी को ही मान्य किया है। जैन दर्शन भाव प्रधान दर्शन है। सम्यग्दृष्टि आत्मा भेद विज्ञानी होने से व्रतधारी होने पर भी वे अनासक्त होने से निष्कामकर्ता कहे गये है। आचाराङ्ग में अनेक स्थलों पर स्पष्ट उद्घोष किया है "सम्मतदंसी न करेई पावं" 'सम्यग्दृष्टि पापकर्म नहीं करता।' इससे यह निश्चित हो जाता है कि सम्यग्दृष्टि-आत्मदर्शी है। आत्मसापेक्ष, आत्मलक्षी परिणति होने से अन्तरात्मा कहा जाता है। भाव चारित्र में रमण करने के कारण अपेक्षाभेद से उनमें साधुत्व माना जा सकता है। आचार्य, उपाध्याय तथा साधु ये अन्तरात्मा की कोटि में आते ही हैं, इससे इतना तो निश्चित हो जाता है।

परमात्मा, अन्तरात्मा : पंचपरमेष्ठी :

जैन धर्म/ दर्शन इन्हीं दोनों अवस्थाओं में निहित आत्माओं को 'पंच परमेष्ठी' में समाविष्ट करता है। ये पंच-परमेष्ठी अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध का ध्येय भी इन 'पंच-परमेष्ठी' की स्वरूप-चर्चा है।

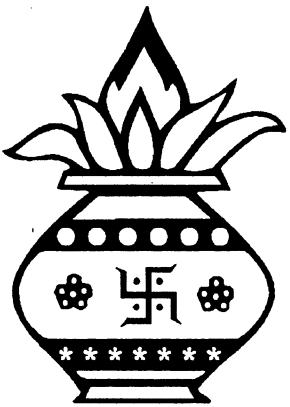

अध्याय-२

परमेष्ठी पद : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

श्रमण एवं ब्राह्मण परम्परा में परमेष्ठी पद

'पंच परमेष्ठी' जैन धर्म की आधार-शिला कही जाती है। यह 'नमस्कार मंत्र' का अपर नाम है। अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु-ये पंच पद परमेष्ठी रूप से ख्याति प्राप्त है। जैन धर्म के सभी सम्प्रदाय चाहे दिगम्बर हो या श्वेताम्बर सभी ने एक स्वर से इसकी महिमा गाई है। अनादि-निधन और शाश्वत इस मंत्र का गौरव अद्यापि अक्षुण्ण और यथावत् है। यहाँ शोध का विषय यह है कि यह नमस्कार महामंत्र परमेष्ठी पद पर कब स्थापित हुआ? ये पंच पद परमेष्ठी संज्ञा से कैसे अधिरूढ हुए?

आगमों में नमस्कार मंत्र के स्थान पर 'पंच मंगल महाश्रुत स्कंध' ऐसा उल्लेख मिलता है। श्वेताम्बर आगमों में सर्वप्रथम इस नमस्कार मंत्रका उल्लेख 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' (भगवती सूत्र), (वि. ५. ३. ४. शती), पश्चात् महानिशीथ में किया गया है। व्याख्याप्रज्ञप्ति में मात्र मंगल के रूप में उल्लेख है। जबकि महानिशीथ सूत्र (वि.सं.८-९) में पंचमंगल का विस्तृत विवेचन किया गया है। भगवती सूत्र के वृत्तिकार श्रीमद् अभयदेवसूरि ने इस पर विस्तृत टीका की है। इस टीका में इसे पंच परमेष्ठी पद से स्थान-स्थान पर सम्मानित किया है। महानिशीथ सूत्र जो कि आगमान्तर्गत ख्याति प्राप्त है, वहाँ इसे 'पंच मंगल महाश्रुत स्कंध' से सम्बोधित किया है।[१] उसमें भी मात्र एक ही स्थल है जहाँ परमेष्ठी शब्द प्रयुक्त है। वहाँ इन पाँचों पदों को परमेष्ठी रूप प्राप्त नहीं होता, मात्र अर्हन्त पद के साथ ही परमेष्ठी पद प्रयुक्त किया है।[२] इससे तात्पर्य यह निकाला जा सकता है कि यह परमेष्ठी शब्द/पद तब तक रूढ़ या प्रचलित न हुआ हो? अथवा 'महानिशीथकार' ने 'पंचमंगल महाश्रुतस्कंध' शब्द अधिक उपयुक्त समझा हो क्योंकि महानिशीथ सूत्र में उपधान विधि के अन्तर्गत इसकी चर्चा की है। अथवा यह सर्व मंगलों में प्रमुख तथा प्रथम मंगल स्वरूप होने से, हो सकता है कि इसे पंचमंगलमहाश्रुतस्कंध कहा गया हो। अथवा पंचमंगलमहाश्रुतस्कंध शब्द परमेष्ठी शब्द से अधिक माहात्म्य लिए हुए हो?

---

१. (महानिशीथ सूत्र अ. ३ सू. १३.)

२. (वही अ. ३ सू. १४.)

इससे पश्चात्वर्ती ग्रन्थों में ग्रन्थकारों ने परमेष्ठी पद का प्रयोग प्रचुरता से किया है। दिगम्बर श्रुत साहित्य में आचार्य कुंदकुंद रचित 'मोक्ष पाहुड़' में स्पष्टतया उल्लिखित है कि "अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पांच परमेष्ठी है।" वे आत्मा के विषय में चेष्टा रूप हैं, आत्मा की अवस्था हैं, इसलिए निश्चय से मुझे आत्मा का ही शरण है।[१]

श्री कुंदकुंदाचार्य (पहली शती) ने स्पष्टतया इन पाँच पदों का परमेष्ठी रूप से विधान किया है। इसके अतिरिक्त 'स्वयंभू स्तोत्र' के टीकाकार ने इसकी व्याख्या की है, 'जो परम पद में स्थित है, वह परमेष्ठी है।[२] "भाव पाहुड़' तथा 'समाधि शतक' में वर्णन है, 'जो इन्द्र, चन्द्र, धरणेन्द्र के द्वारा वंदित ऐसे परम पद में स्थित है, वह परमेष्ठी होता है।[३] इस प्रकार सर्वप्रथम कुंदकुंदाचार्य के साहित्य में इसकी उपलब्धि है। पश्चात्वर्ती अनेक ग्रन्थों में परमेष्ठी शब्द का प्रयोग किया गया है।

जैन वाङ्मय के अतिरिक्त जैनेतर साहित्य में 'परमेष्ठी' शब्द का उपयोग किया गया है या नहीं? उस पर भी हम दृष्टिपात करें। भारतीय वाङ्मय में प्राचीनता की अपेक्षा से वेदों का महत्त्व सर्वाधिक है। वेदों में 'परमेष्ठी' पद का उल्लेख कहाँ कहाँ किस सन्दर्भ में हुआ है? उसका आकलन करेंगे।

वैदिक सन्दर्भ में प्रयुक्त परमेष्ठी-

अध्यात्म विद्या का अक्षय भण्डार होने से हिन्दु संस्कृति में वेदों का अत्यधिक महत्त्व है। स्व-स्वरूप को पहचानकर परम-पदकी स्थिति को किस प्रकार प्राप्त करके जीवन सफल बनाया जाय? वह वेदों में सुन्दर रीति से प्रतिपादन किया है।

अथर्ववेद के अन्तर्गत 'धर्मप्रचार' सूक्त में परमेष्ठी पद का निर्देश है कि 'हे परमेष्ठी (श्रेष्ठ स्थान में रहने वाले) ज्ञान को प्राप्त करने वाले अग्ने तू तोले हुए घी आदि का भोजन कर और दुष्टों को विलाप करा।[४] यहाँ सायणाचार्य 'परमेष्ठी' की व्याख्या करते हैं-'उत्कृष्ट स्थाने तिष्ठतीति परमेष्ठी। स्वर्गाद्युत्कृष्ट स्थान निवासिन्। तिष्ठते औणादिकः किनि प्रत्ययः।[५] सायणाचार्य का अभिप्राय है कि जो स्वर्गादिक उत्कृष्ट स्थान में स्थित है, वह परमेष्ठी है। सातवलेकर इसकी व्याख्या अन्य रीति से करते हैं- 'परम पदे स्थाता' इति परमेष्ठी। परम श्रेष्ठ अवस्था में रहने वाले, शरीर को वश में रखने वाले, ज्ञानी धर्मोपदेशक।[६]

---

१. मोक्ष पाहुड, गा. १०४.
२. स्व. स्तोत्र. टी. ३१
३. भा. पा. टी. १२१
४. अथर्व. १. ७. २.
५. अथर्व. सायण भाष्य १. ७. २. ६.
६. अथर्व, सात. भाष्य. १. ७. २.

वास्तव में यह सूक्त अग्नि सूक्त है। इस सूक्त में अग्नि पद से किसका ग्रहण करना चाहिए? इसका निश्चय कराने वाले ये शब्द इस सूक्त में हैं- जातदेवः परमेष्ठिन्, तनूवशिन्, नृचक्षः, वन्दितः, इतः, देवः, अग्नि। इसमें परमेष्ठी पद का खुलासा करते हैं, 'परम पद में ठहरने वाला अर्थात् समाधि की अन्तिम अवस्था को जो प्राप्त हैं, आत्मानुभव जिसने प्राप्त किया है, तुर्य-चतुर्थ अवस्था का अनुभव करने वाला।[१] इस प्रकार यहाँ अग्नि के गुण धर्म बताये हैं। इससे स्पष्ट होता है कि यहाँ अग्नि से तात्पर्य धर्मोपदेशक पंडित है।[२]

आचार्य सांकलेश्वर ने परमेष्ठी पद को 'परम श्रेष्ठ स्थान में रहने वाला अग्नि' बताया है।[३]

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि जो परम-पद में स्थित है, उसे परमेष्ठी कहा है। जो परम पद में स्थित होता है, स्वाभाविक है वह पूज्य, आदरणीय, वंदनीय होता ही है।

चतुर्थ कांड में परमेष्ठी पद को प्रजापति अर्थ में समाहित करते हुए कथन है कि इन्द्र ही अग्नि, परमेष्ठी, प्रजापति और विराट् है। वह सब मनुष्यों और प्राणियों में व्यास है, वही सर्वज्ञ है और वही सबको बल देता है।[४] सायणाचार्य इसका विश्लेषण करते हैं कि 'परमेष्ठी परमे सत्यलोके स्थितः प्रजापतिः विराट[५], अर्थात् जो परम सत्य लोक में स्थित प्रजापति विराट् है, वही परमेष्ठी है।

आचार्य सातवलेकर का कथन है कि 'प्रभु ही अपने रूप से अग्नि बना है। परमेष्ठी (परमात्मा) प्रजापति (प्रजा का पालन करने वाला) ईश्वर है। सब विश्व को उठाने के कारण विराट् हुआ है। वही सब नरों में व्यापता है। वही आग्न आदि में फैला है। वही रथ खींचने वाले प्राणियों में फैला है। वही दृढ़ करता है और वही धारण करता है।[६]

आचार्य सांकलेश्वर ने प्रजापति और परमेष्ठी से धारण करने वाला इन्द्र स्वीकार किया है।[७]

---

१. अथर्व. सात. भाष्ट. १. ७. २.
२. वही
३. अथर्ववेद संहिता विधि भाषा भाष्य १. ७. २.
४. अथर्व. ४. ११. ७.
५. अथर्व. सायण, भाष्य. ४. ११.७.
६. अथर्व, सातवले, भा. ४. ११. ७.
७. अथर्व. वि. भाषा. भा. ४.११.७.

अष्टम काण्ड में अथर्ववेद में उल्लेख है-'देव, इन्द्र, विष्णु, सविता, रुद्र. प्रजापति, परमेष्ठी, विराट्. वैश्वानर वगैरह सभी ऋषियों ने आकर पुरुष के हाथ में मणि और कवच के जैसा बांधा'।[१] यहाँ परमेष्ठी से तात्पर्य किसी देवता विशेष से है। क्योंकि इन्द्र, विष्णु, सविता, रुद्र, अग्नि, प्रजापति, परमेष्ठी, विराट् और वैश्वानर आदि देवताओं के साथ परमेष्ठी को भी देवता कहा गया है।

यहाँ कहीं कहीं प्रजापति मात्र को परमेष्ठी कहा गया है[२] तो कहीं पर परमेष्ठी व प्रजापति दोनों का स्वतन्त्र रूप से उल्लेख किया गया है। नवम काण्ड में गाय के स्वरूप वर्णन में प्रजापति-परमेष्ठी स्वतन्त्र देवता कहे गये हैं।[३]

दशम् काण्ड में परमेष्ठी को परमात्म स्वरूप मान्य किया है। इस सन्दर्भ में परमात्म स्वरूप परमेष्ठी कैसे प्राप्त किया जाय? इसकी चर्चा करते कहा है, "यह पुरुष श्रोत्रिय गुरु को, परमेष्ठी परम गुरु को किसकी प्रेरणा से प्राप्त करता है? इस प्रश्न का समाधान करते हैं कि ब्रह्म (मंत्र) से श्रोत्रिय गुरु को और ब्रह्म से परमेष्ठी को प्राप्त करता है।[४] यहाँ ब्रह्म से तात्पर्य है ज्ञान। अर्थात् ज्ञान से ही परमात्मा परमेष्ठी का ज्ञान होता है। सातवलेकराचार्य ने परमेष्ठी शब्द की व्याख्या गहन एवं सुन्दर रीति से की है, "परमेष्ठी" शब्द का अर्थ है" 'परम स्थान में रहने वाला आत्मा।' परे से परे जो स्थान है, उसमें जो रहता है, वह परमेष्ठी परमात्मा है। (१) स्थूल (२) सूक्ष्म (३) कारण (४) महाकारण, इनसे वह परे है, इसलिए उसको परमेष्ठी किंवा "पर-तमे-ष्ठी" परमात्मा कहते हैं। इसका पता ज्ञान से ही चलता है। सबसे पहिले अपने ज्ञान से सद्गुरु को प्राप्त करता है तत्पश्चात् उस सद्गुरु से दिव्यज्ञान प्राप्त करके परमेष्ठी परमात्मा को जानना होता है।[५] परमात्मा-स्वरूप में यहाँ परमेष्ठी स्वीकार किया गया है, यह प्रतीति होती है।

इसी तथ्य को और अधिक स्पष्ट करते हैं कि 'जो पुरुष ब्रह्म को जानता है, वह परमेष्ठी को जानता है। जो परमेष्ठी को जानता है, वह प्रजापति को जानता है।[६] यहाँ परमेष्ठी से तात्पर्य ब्रह्म से परे लिया है। ब्रह्म से उच्चावस्था परमेष्ठी परमात्मा की है। इसी सदंर्भ में सातवलेकराचार्य का कथन है कि 'जो पुरुष मनुष्य के अंदर ब्रह्म को जानते हैं, वे ही परमेष्ठी परमात्मा को जानते हैं।' यहाँ

---

१. (क) ९.३.११ (ख) अथर्व. ८. ५. १०.
२. अथर्व. १०. ३. २४. ११. ५. ७.
३. अथर्व. १०. २. २०-२१
४. अथर्व, सातवलेकर भा. १०. २. २०-२१.
५. १. अथर्व. १०. ७. १७. २. अथर्व. १० ५. ४२.
६. अथर्व. सातवलेकर भा. १०. ७. १७.

व्यक्ति, समष्टि और परमेष्ठी का भेद देखना चाहिए। व्यष्टि एक व्यक्ति है। समष्टि व्यक्ति समूह का नाम है और परमेष्ठी स्थिर चर विश्व सम्पूर्णनाम है।[१] प्रस्तुत काण्ड में मनुष्य विश्व व्यापक परमेष्ठी को किस प्रकार जान सकता है ? इसका उल्लेख करते हुए ब्रह्म साक्षात्कार की साधना का कथन किया गया है। ग्यारहवें काण्ड में भी परमेष्ठी से अभिप्राय परमेश्वर परमात्मा का ही है।[२]

बारहवें काण्ड[३] में प्रजापति को परमेष्ठी कहकर सातवलेकराचार्य परमेष्ठी की व्युत्पत्ति करते हैं-'परमे-स्थि' 'परम उच्च स्थान में स्थित'।[४] परमेष्ठी पद की प्राप्ति के लिए दान देना, सत्य और तप आदि धर्म-कर्म जो किये जाते हैं, मुख्यत: परमेष्ठी पद की प्राप्ति के लिए किये जाते हैं, ऐसा उल्लेख किया गया है।

तेरहवें काण्ड में परमेष्ठी से अभिप्राय परमात्मा का एवं वाचस्पति का है[५] तो पंचदश काण्ड में परमेष्ठी को पुन: स्वतन्त्र देवता कहा गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'अथर्ववेद में परमात्मा, परमेश्वर, ब्रह्म-ज्ञान, प्रजापति, ब्रह्मा' वाचस्पति अर्थों में परमेष्ठी पद प्रयुक्त हुआ है। सायणाचार्य की अपेक्षा सातवलेकराचार्य ने परमेष्ठी का हार्द गूढ़तम-सुन्दर रीति से खोला है।

सामवेद में मात्र एक ही स्थल है, जहाँ पर परमेष्ठी पद का उल्लेख किया है। यहाँ परमेष्ठी प्रजापति अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है।

अथर्ववेद, सामवेद के अतिरिक्त यजुर्वेद में परमेष्ठी-पद का उल्लेख अनेकश: किया गया है।[६] इसमें अधिकांश रूप से परमेष्ठी पद प्रजापति के लिए प्रयुक्त किया है। प्रजापति के अतिरिक्त ब्रह्म अर्थ भी परमेष्ठी का किया गया है।

अथर्ववेद में ब्रह्मा, प्रजापति, परमात्मा-परमेश्वर, अग्नि, धर्मोपदेशक, ज्ञानी आदि अर्थों में परमेष्ठी पद ग्राह्य है, जबकि यजुर्वेद तथा सामवेद में 'प्रजापति' अर्थ इष्ट है। अर्थ जो भी हो, सभी में परम-पद-प्राप्त अर्थात् जो परम पद में स्थित है, पूजनीय है, वंदनीय है, आदरणीय है, आचरणीय है, उसी पर परमेष्ठी पद की श्रद्धा केन्द्रित हुई है।

वेदों के पश्चात हम उपनिषद्-साहित्य में परमेष्ठी पद का निरूपण करेंगे।

---

१. अथर्व. ११. ७. ७.

२. अथर्व. १२. ३. ४५.

३. अथर्व. सातवलेकर. भा. १२. ३. ४५.

४. १. अथर्व. १३. १. २.अथर्व. १३. ३. ५. अथर्व. १३. १. १७-१९.

५. अथर्व. १. १५. ७. २. २. अथर्व. १५. ६. २५-२६.

६. यजु. तै. स. १.६.९.२, शुक्ल यजु ५. ५४.१४.९, १४.३१, १५.५८

उपनिषद् में प्रयुक्त परमेष्ठी पद

वैदिक साहित्य में उपनिषदों को वेदान्त कहा जाता है। अध्यात्म की पराकाष्ठा की तुला पर इसे तोला गया है। यद्यपि उपनिषदों की संख्या बहुत है, तथापि यहाँ पर अपेक्षित उपनिषदों मात्र का कथन किया है। जहाँ जहाँ पर 'परमेष्ठी' पद का निर्देश किया है, उस पर हम दृष्टिपात करेंगे।

प्राचीनता की दृष्टि से बृहदारण्कोपनिषद् विशाल एवं प्राचीन है। इसमें 'परमेष्ठी' पद का निर्देश दो स्थलों पर एक समान किया है, "परमेष्ठिनः परमेष्ठी ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयंभु ब्रह्मणे नमः"[१] यहाँ ब्रह्म को परमेष्ठी पद से अलंकृत करके नमस्कार किया है।

नारद परिव्राजकोपनिषद् में नारद शंका समाधान हेतु पितामह ब्रह्मा के पास जाते हैं। पितामह ब्रह्मा समाधान करते हुए परिव्राज्य स्वरूपक्रम को नारद से कहते हैं ऐसा उल्लेख किया गया है। यहाँ इस उपनिषद् में ब्रह्मा को परमेष्ठी-पद पर अध्यारूढ़ किया है।

कैवल्योपनिषद् में भी ब्रह्मा को परमेष्ठी अर्थ परक लेते हुए कथन किया है कि, 'अश्वलायन ऋषि भगवन् परमेष्ठी ब्रह्मा के पास आकर कहने लगे।'[२]

जहाँ इन उपनिषदों में परमेष्ठी संज्ञा से ब्रह्मा अर्थ लिया है, वहाँ अन्य स्थल पर विष्णु अर्थ घटन भी किया है। महोपनिषद् में विष्णु अर्थ का उल्लेख किया गया है।[३]

ब्रह्मा-विष्णु के साथ-साथ प्रजापति को परमेष्ठी-संज्ञा से भी अभिहित किया है। अव्यक्तोपनिषद् तथा जैमिनीय उपनिषद् में परमेष्ठी-प्रजापति को कहा गया है।[४]

ब्रह्मा, विष्णु तथा प्रजापति इन तीनों को परमेष्ठी पद में घटित करने का हेतु यही हो सकता है कि ये देव-तत्त्व में अधिष्ठित हैं। देव-तत्त्व में प्रतिष्ठित होने से इनकी परम पद में स्थिति होनी भी आवश्यक है। जो परम पद में स्थित है, परमात्मा स्वरूप है। स्वाभाविक है कि परम-उच्चावस्था को प्राप्त, परम-पद में स्थित होगा ही।

---

१. बृहदारण्यक उ. ४. ६. ३, २. ६. ३.
२. नारद परि. उ. २.८.१.
३. कैवल्योपनिषद् -१. १.
४. १. अव्यक्तोपनिषद् २. जैमिनीय उपनिषद् ३. ७. ३. २, ३. ७. ३. ३.

वाष्कलमन्त्रोपनिषद् में सर्वत्र आत्म स्थिति का कथन करते हुए आत्मा की व्यापकता का स्वरूप-निर्देश के सन्दर्भ में परमेष्ठी कह कर भी सम्बोधित किया है।[१]

यहाँ द्रष्टव्य है कि नमस्कार-मंत्र में पंच परमेष्ठी पद हैं, जो कि देव और गुरु तत्त्व में समाहित है। उपनिषदों में देव तत्त्व के रूप में ब्रह्मा-विष्णु और प्रजापति को तो स्थान मिला ही है साथ ही आत्म-व्यापकता की स्थिति में भी परमेष्ठी संज्ञा दी गई है।

नमस्कार मंत्र में-आत्म-परमात्म दोनों पदों में आत्मा के उत्कर्ष को परम-स्थिति की प्राप्ति के साथ कथन किया है। आत्मा की व्यापकता तो समान रूप से लक्षित होती ही है।

इस प्रकार हमें विदित होता है कि परमेष्ठी पद से उच्चतम स्थान-निवासी संज्ञा जैन तथा उपनिषदों में समान रूप से प्राप्त है। यद्यपि देवत्व के स्वरूप में भिन्नता है तथापि देव स्वरूप से परमेष्ठी-पद का कथन तो किया ही गया है।

पुराण आदि साहित्य में परमेष्ठी-

पौराणिक साहित्य में विष्णु अर्थ में[२], महादेव अर्थ में[३] 'महाभारत में उल्लेख किया गया है। 'ब्रह्म पुराण' में शालग्राम विशेष अर्थ में, परमेष्ठी पद प्रयुक्त है।[४] 'पुराण संग्रह' में भी इसी के समान प्रयोग किया है।[५] 'वैश्वानर संहिता' में भी इसकी पुष्टि की गई है।[६] इसके अतिरिक्त 'भागवत पुराण' में ब्रह्मा अर्थ में[७] एवं विष्णु अर्थ में[८] प्रयोग किया है। शतपथ ब्राह्मण में ब्रह्मा अर्थ में इसका उल्लेख किया है।[९] अमर कोश में ब्रह्मा[१०] तथा मनुस्मृति में विष्णु अर्थ प्रयुक्त है।[११]

उपरोक्त सभी सन्दर्भों में परमेष्ठी पद देव अर्थ को लिए हुए है। पितामह ब्रह्मा, प्रजापति, विष्णु, महादेव, शालग्रामविशेष आदि अर्थों में परमेष्ठी शब्द का

---

१. बाष्कलमन्त्रोपनिषद् २५
२. महाभारत १३. १४९. ५८.
३. वही. ३. ३७. ५८
४. ब्रह्म पुराण-परमेष्ठी च शुक्लाभ पद्मचक्र समन्वितः। शब्दकल्पद्रुम, पृ.५२.
५. पुराण संग्रह-वही समानरूप से प्रथम पंक्ति श. क. ५५२.
६. वैश्वानर संहिता-इसी के समान प्रथम पंक्ति- श. क. ५२.
७. भागवत पुराण २. १. ३०, २. २२., ३. ६, २. ३. ६.
८. वही २. १. ३०, २. २. २२.
९. शतपथ ब्राह्मण ११. १. ६.
१०. अमरकोश १. १. १६.
११. मनु स्मृति १. ८०.

प्रयोग मिलता है। देव अर्थ के साथ गुरु अर्थ में भी परमेष्ठी शब्द का निर्देश प्राप्त होता है। 'बृहन्नील तन्त्र' में परमेष्ठी शब्द गुरु अर्थ को लिए हुए है।[१] महाभारत में अजमीड़पुत्र के लिए भी परमेष्ठी पद का प्रयोग किया है।[२] मारकण्डेय पुराण में तो जो परमस्थान में स्थित है, उसके लिए परमेष्ठी का उल्लेख है।[३] ताण्ड्यब्राह्मण में भी प्रजापति रूप में उल्लेख मिलता है।[४]

उक्त सभी सन्दर्भों से यही निष्कर्ष निकलता है कि वैदिक साहित्य में 'परमेष्ठी' पद को परम-उच्चावस्था में संप्राप्त आत्म तत्त्व स्वीकार किया है। देव तत्त्व तथा गुरु तत्त्व दोनों के लिए परमेष्ठी पद सभी ने एकमत से स्वीकार किया है। जैन तथा जैनेतर दोनों में इसे स्थान दिया गया है।

श्रमण परम्परा

अब यह प्रश्न हमारे सामने उभरता है कि जैन धर्म में परमेष्ठी पद को जितनी ख्याति प्राप्त है, उतनी अन्य दर्शनों में नहीं। यहाँ तक कि जैन धर्म में पंच परमेष्ठी पद ही आराधना-साधना का केन्द्र बिन्दु है। परन्तु प्रचलित आगमों में इसका उल्लेख नहींवत् है। तब इसका प्रचलित रूप कैसे प्रवेश कर गया। वेदों में जबकि अनेकशः इसका प्रयोग होने पर भी यहाँ इस पद का प्रचलन दृष्टिगत नहीं होता। प्राचीनता की अपेक्षा से वेदों को उपलब्ध जैन आगमों से अधिक विद्वद्गणों ने मान्य किया है। वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण, पुराण आदि में भी इसका प्रयोग दृष्टिगत होता है। तब क्या यह मान्य किया जाय कि वेदों से यह पद आगमों में प्रयुक्त हुआ? अथवा वेदों का प्रभाव आगमों पर पड़ा?

बौद्ध दर्शन और जैन दर्शन दोनों ही समकालीन मान्य किये गये हैं। बौद्ध त्रिपिटकों में भी इस पद का प्रयोग दृष्टिगत नहीं होता। आगम और त्रिपिटक दोनों में परमेष्ठी पद न होने से शंका होना स्वाभाविक है, क्या उस काल-उस समय में इस शब्द का प्रचलन नहीं था?

जैन आगमों को पुस्तकारूढ़ करने का श्रेय देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण को है। आगम ज्ञान उससे पूर्व परम्परा से मौखिक ही होता था। गुरु से अपने शिष्य को श्रुत परम्परा से प्राप्त होता था। आधुनिक विद्वान यह मान्य करते हैं कि गुरु-शिष्य

१. बृहन्नील तन्त्र २. पटल
२. महाभारत १. ९४. ३१.
३. मारकण्डेय पुराण ७६. २.
४. ताण्डय ब्राह्मण १९. १४. ३.

परम्परा से प्राप्त श्रुत में कुछ स्खलना भी होने की संभावना है। अतः स्खलना भी इसमें कारण हो सकता है।

वेदों को यदि आगमों से प्राचीन माना भी जाय तब भी यह प्रश्न उठता है कि वर्तमान आगमों में द्वादशाङ्गी ही दृष्टिगत होता है। द्वादशाङ्गी में भी बारहवाँ अंग 'दृष्टिवाद' का विच्छेद हो जाने से आज मात्र एकादश अंग ही उपलब्ध है। आगमों में द्वादशाङ्गी के अतिरिक्त चतुर्दश-पूर्व का भी समावेश होता है। चौदह पूर्व भी काल के प्रभाव से विच्छिन्न हो जाने से उपलब्ध नहीं है। आगमश्रुत आज अपूर्ण होने से यह भी कहा नहीं जा सकता कि यह परमेष्ठी पद वेदों से उद्धृत है या वेदों की छाप आगमों पर है।

जो भी हो आज जितना प्रचलन परमेष्ठी पद का जैन धर्म में है, उतना अन्य धर्मों में नहीं। जैनेतर साहित्य में अनेक बार उल्लेख होने पर भी वहाँ इसका प्रचलन अधिक नहीं है। 'पंच परमेष्ठी' नाम से मात्र जैन धर्म को ही इंगित किया जाता है। प्रचलन हो या न हो परमेष्ठी से तात्पर्य सर्वत्र परम पद में स्थित आत्मा का, उच्च-अवस्था प्राप्त देव-गुरु तत्त्व का ही लिया गया है। जैन धर्म में परमेष्ठी पद के अन्तर्गत पाँच पदों को स्वीकार किया है। इसकी आराधना/साधना पंच परमेष्ठी मंत्र (नमस्कार महामंत्र) द्वारा की जाती है। आगम साहित्य में मतभेद होने पर भी 'नमस्कार महामंत्र' का माहात्म्य सभी जैन सम्प्रदायों में एकमत से स्वीकार किया है।

अध्याय-३

प्रथमपद अर्हत् परमेष्ठी : अवधारणा

(१) १. अर्हत् की ऐतिहासिकता-

(क) हिन्दु, जैन, बौद्ध परम्परा के परिप्रेक्ष्य में

(ख) जैन आगमिक साहित्य में

१. अंग आगमों में २. अंगबाह्य आगमों में

(ग) आगमेतर साहित्य में

(२) अर्हत् का व्युत्पत्ति-निर्युक्ति परक अर्थ एवं पर्याय

(३) केवली के प्रकार-

१. अर्हत् २. सामान्यकेवली

४. अर्हत् की अलौकिकता, अनुपमता, अद्भुतता अद्वितीयता एवं श्रेष्ठता-

(अ) सिद्धापेक्षा प्राथमिकता

(ब) पंच कल्याणक

(क) अतिशय-वचनातिशय

(द) निर्दोष व्यक्तित्व

(५) अर्हत् पद की योग्यता-हेतु-

१. 'सवि जीव करूं शासन रसी' युक्त भावना

२. बीस स्थानक की आराधना

(६) लोक मंगलकी उदात्त भावना

१. मनोभावना द्वारा व्यक्तित्व रूपान्तरण

२. धर्म संस्थापना-

'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्' के स्थान पर अहिंसादि पंच महाव्रतों के पालन द्वारा हिंसादि दुष्टता का नाश, लोककल्याण एवं विश्व मैत्री.

३. 'भूभार-हरण' नहीं अपितु आत्म स्वराज्य प्राप्ति हेतु मुक्तिवरण

(७) इतर दर्शनों में अर्हत् विषयक अवधारणा-

(क) मीमांसा सम्मत सर्वज्ञ का अभाव और अर्हत्

(ख) हिन्दु परम्परागत अवतारवाद और अर्हत्

(ग) बौद्ध परम्परा में अर्हत् एवं बोधिसत्त्व

(घ) न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग दर्शनों के ईश्वर एवं जीवन्मुक्त

(८) अर्हत् की अवधारणा का दार्शनिक अवदान

(९) अवतार, अर्हत्, बुद्ध, ईश्वर, जीवन्मुक्त का तुलनात्मक अध्ययन

(१) अर्हत् की ऐतिहासिकता

(क) हिन्दू, जैन, बौद्ध, परम्परा के परिप्रेक्ष्य में-

प्रत्येक धर्म एंवं दर्शन का उद्भव किसी महान् व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। उसी के अनुसार प्रत्येक धर्म में आस्था के आयाम स्वरूप, उपास्य रूप तथा आदर्श के रूप में किसी न किसी महान् व्यक्तित्व को स्वीकार किया जाता है। ऐसे महनीय व्यक्तित्व को हिन्दु परम्परा ईश्वरावतार, बौद्ध परम्परा बुद्ध तथा जैन परम्परा अर्हत् को मान्य करती है। गंगा, यमुना और सरस्वती के सदृश प्राचीन भारतीय संस्कृति सन्निहित भारतीय धर्मों की इस त्रिवेणी के उपास्य रूप स्वीकृत अर्हत्, बुद्ध और ईश्वरावतार का दिग्दर्शन हम आगम ग्रन्थों के माध्यम से करेंगे।

यद्यपि ब्रह्मण एवं श्रमण परम्परा के उपास्य की संज्ञा, पर्यायभिन्नत्व पर आधारित है, तथापि यहाँ हम सर्वप्रथम यह शोध करेंगे कि पंचपरमेष्ठी में समाविष्ट प्रथम परमेष्ठी अर्हत् अभिधान का वेदों में, त्रिपिटकों में तथा जैनागमों में क्या स्वरूप है? श्रमण परम्परा में आज दो धाराएँ विकासोन्मुख है १. जैन परम्परा २. बौद्ध परम्परा। जैन परम्परा में सर्वाधिक महत्ता अर्हत् पद की है ही, किन्तु बौद्ध परम्परा में भी बुद्ध को अर्हत् पद से समलंकृत किया गया है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि श्रमण परम्परा के वर्तमान शासनपति महावीर एवं बुद्ध समकालीन थे। अतः स्वाभाविक है कि उस समय के परिवेश ने एक दूसरे को प्रभावित किया हो। अथवा उस समय ये शब्द ही प्रचलन में रहे हो। चूंकि अर्हत् से तात्पर्य पूजनीय, प्रशंसनीय भी है, अतः तत्परक अर्थानुसार भी अर्हत् पद प्रयुक्त किया गया हो।

वेदों में अर्हत् पद प्रयुक्ति-

हिन्दु परम्परा का मूल उत्स वेदों पर आधारित हैं। क्या वेदों में अर्हत् पद प्रयुक्त है? यदि इनमें अर्हत् का उल्लेख है तो किस अर्थ में है? किस रूप में है? उसका हम अवलोकन करेंगे।

वेद चतुष्क में से प्राचीनतम ऋग्वेद को मान्य किया जाता है। (ई.पू. १०००-१२००)। ऋग्वेद में बहुदेववाद प्रधान होने से उसमें अनेक देवताओं के साथ अर्हत् पद प्रयोग किया गया है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में अग्नि के लिए प्रयुक्त अर्हत् पद की स्तुति है-

हम पूजनीय और सर्वभूतज्ञ अग्नि की रथ की तरह बुद्धि द्वारा इस स्तुति को प्रस्तुत करते हैं।[१]

---

१. ऋग्वेदः १. ९४. १.

ऋग्वेद में अर्हत् अर्हन् तथा अर्हन्त इन तीन पर्यायों के साथ इस पद का प्रयोग किया गया है। पूजनीय, प्रशंस्य तथा योग्य अर्थक यह अर्हद् पद यहाँ असाधारण अर्थघटना से संयुक्त हुआ है। तात्पर्य यह है कि ऋग्वेद में भी जो असाधारण व्यक्तित्व से युक्त एवं सर्वाधिक पूजनीय, प्रशंसनीय एवं योग्य हो उसे ही अर्हत् पद से युक्त किया गया है।

ऋग्वेद की भांति अथर्ववेद में भी अग्नि देवता को अर्हत् कहा गया है।[१] भाष्य में सायणाचार्य ने अतिशयेन हार्द खोलते हुए उल्लेख किया है-अर्हते पूज्याय अर्ह पूजायाम्। अर्हः प्रशंसायाम्। (पा. ३.२.१३३) इति लटः शत्रादेशः।[२]

इस प्रकार वेदों के अध्ययन से विदित होता है कि आज जो सर्वाधिक प्रचलित एवं रूढ़ शब्द जैन धर्म में अर्हत् है, उसकी उपलब्धि मात्र जैनागमों एवं बौद्ध त्रिपिटकों में ही नहीं वेदों में भी होती है। आश्चर्य तो इस बात का है कि अर्हत् की अवधारणा सर्वत्र जो अतिशय, सर्वाधिक, पूजनीय है, उनको ही इस अर्हत् पद से समलंकृत किया गया है। वैसे देखा जाये तो जगत् में पूजायोग्य अनेक व्यक्ति होते हैं, यथा :- माता, पिता, गुरु, आचार्य बुजुर्ग आदि। ये सभी आदर-पूजा के योग्य होते हैं, किन्तु इनको अर्हत् नहीं कहा जाता। यहाँ तक कि संत-महंत आदि अनेक आध्यात्मिक कक्षा में प्रविष्ठ महापुरुषों को भी अर्हत् नहीं कहा जाता। मात्र अर्हत् उस सर्वोच्च सत्ता को कहा गया है, जिसके आगे अन्य कोई पूजनीय स्थान नहीं है। जैन और बौद्ध दोनों धर्मों में तो इस सर्वोच्च सत्ता को मान्य करके अर्हत्-तीर्थङ्कर और बुद्ध को कहा ही जाता है, किन्तु यहाँ वेदों में भी यही स्वरूप उपलब्ध हुआ है। महर्षि, संत आदि को नहीं, वरन् अग्नि, इन्द्र, रूद्र आदि सर्वोच्च स्तर पर अधिष्ठित देवाताओं को अर्हत् विशेषण से विभूषित किया है।

उपलब्ध आगम एवं त्रिपिटकों से प्राचीन ऋग्वेद मान्य किया गया है, अतः इतना तो कहा जा सकता है कि अर्हत् की अवधारणा का सूत्रपात् वेदों के समय में तो था ही। उससे पूर्व अर्हत् की अवधारणा का स्रोत आज उपलब्ध नहीं हो पाता।

वेदों से परवर्ती साहित्य महर्षि पाणिनी (ई. पू. ५ वीं शति) के व्याकरण ग्रन्थ में अर्हत् की व्युत्पत्ति किस धातु से हुई है, उसका उल्लेख है-अर्ह धातु पूजा एवं

---

१. अथर्ववेद शॉ. शौ. २०.१३.३

२. वही

प्रशंसा अर्थघटना से संयुक्त है। सायणाचार्य ने इसके हार्द को खोलते हुए कहा कि, प्रकृष्ट पूजा के योग्य अर्थ में प्रयुक्त अर्हत् पद है। (ई. पू. २सरी. शती.)

इससे परवर्ती ब्राह्मण, आरण्यक, संहिता, उपनिषद्, आदि वैदिक ग्रन्थों में भी अर्हन्, अर्हत् तथा अर्हन्त ये तीन रूप उपलब्ध होते हैं।

शतपथ ब्राह्मण[१], ऐतेरेय ब्राह्मण[२], गोपथ बाह्मण[३], तैत्तिरीय[४], शांखायन[५], आदि ब्राह्मण ग्रन्थों में वेदों के अनुसार ही पूजार्थक तथा प्रशंस्य अर्थ में प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त ऐतेरेय आरण्यक[६], तैत्तिरीय आरण्यक[७] में भी यही स्वरूप विकास पथ पर आरूढ हुआ है। यहाँ भी अग्नि, रूद्र, इन्द्र आदि देवताओं के विशेषण रूप में तथा पूजा, प्रशंसा, योग्य अधिकारी, समर्थ आदि अर्थों में प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार हमें ज्ञात होताहै कि वैदिक साहित्य में इसका जो स्वरूप निर्धारित किया गया है, वह अद्यापि विद्यमान है। वेदांग मान्य उपनिषद् में मात्र पारमात्मिकोपनिषद् में अर्हत् पद का उल्लेख समर्थ अर्थ को लेकर किया गया है।[८]

पश्चात्वर्ती साहित्य में भी इस पद का प्रयोग दृष्टिगत होता है। वाचस्पत्यम् शब्दकोष में इसके अनेक अर्थ उपलब्ध होते है- १. पूजास्तुत्यादिभिराराध्ये २. ईश्वर ३. शक्र ४. पूजनीय ५. विष्णु ६. पूजा ७. योग्य ८. गति ९. योग्यता तथा १०. मूल्य।[९] मनुस्मृति, रघुवंश गीता आदि परवर्ती साहित्य में भी इसका उल्लेख प्राप्त होता है। इस प्रकार ब्राह्मण परम्परा में अर्हत् पद के प्रर्याप्त उद्धरण हमें प्राप्त होते हैं।

बौद्ध धर्म में अर्हत्-

निवृत्तिमूलक श्रमण संस्कृति की प्रवाहित धारा में बौद्ध परम्परा अपने उपास्य के रूप में बुद्ध को परमादर्श मानकर गतिमान हुई है। इस परम्परा में अर्हत् का

---

१. शतपथ ब्राह्मण: ३.४.१.०, ३.४.१.६., ३.४.१.३.
२. ऐतेरेय ब्रा. ६.१२.
३. गोपथ ब्रा. २.२.२२.
४. तैत्तिरिय ब्रा. २.८.६.९
५. शांखायन ब्रा. ८.४, २७.४
६. ऐतेरेय आरण्यक १.५.३.
७. तैत्तिरीय आर ४.५.७.
८. पारमात्मिक उपनिषद् २.६
९. वाचस्पत्यम् पृ. ३८१-३८२

क्या स्थान है? उस का भी हम अवलोकन करेंगे। विच्छिन्न धर्म के प्रवर्त्तन हेतु गौतम बुद्ध तथा वर्द्धमान महावीर ने इस डोर को साधा, ऐसा इनके अनुयायियों का मन्तव्य है। क्योंकि अर्हत् तथा बुद्ध का जन्म समय-समय पर धर्मप्रवर्त्तन हेतु होता आया है।

इस प्रकार इसके मर्म को उद्घाटित करते हुए सारत्थदीपनी टीका में उल्लेख है कि-जो समस्त परिज्ञातस्कंध हैं, प्रहीणक्लेश भावितमार्ग, स्वस्तिकत निरोधवान्, क्षीणास्रव हैं। वे अनुत्तर योगक्षेम को वहन करते विचरते हैं, वे परिसुद्धप्रयोगवान्, कल्याणशुद्धाशया, श्रद्धा, शील, श्रुतादिगुण सम्पन्न हैं वे अर्हत् हैं।[१] इसी प्रकार जिसका संसार में जन्म-मरण रूप गमन भी समाप्त हो चुका वह अर्हत् हैं।[२]

अरहंत परमात्मा के सदृश इस लोक में अन्य कोई नहीं है। अतः वे प्रशंसा योग्य हैं।[३] यहाँ अर्हत् की असाधारणता व्यक्त की गई है। उनकी आध्यात्मिक कक्षा की पहुँच साधारण लोगों के बूते की बात नहीं। क्योंकि जो वीतराग हैं, वे वन को भी रमणीय बनाने का सामर्थ्य रखते हैं, साधना के माध्यम से यहाँ अर्हत् का स्वरूप, लक्षण, परिणाम उस काल के परिवेश आदि का विवेचन किया गया है। जो कि जैन सम्मत अर्हत् से अत्यधिक साम्य रखता है।

बौद्ध दर्शन के सुत्त निपात्त, संयुक्त निकाय, खुद्दक निकाय महापरिनिब्बान सुत्त, मज्झिम निकाय, विशुद्धिमार्ग, बुद्धचर्या, अभिधर्मकोश, आदि धर्मग्रन्थों में अर्हत्, विषयक प्ररूपणा पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। परन्तु इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि जिसकी वासनाएँ क्षीण हो गई है, क्षीणास्रव है, वीतराग, वीतद्वेष, वीततृषी है, निरासक्त, निराकुत है वही इस अर्हत्त्व का अधिकारी हो सकता है। वेदों में अर्हन्, अर्हन्त आदि संज्ञाएँ अग्नि, इन्द्र आदि देवताओं को दी गई है, वह किसी व्यक्तित्व परक न होकर व्यक्तिनिष्ठ न होकर आध्यात्मिक कक्षा के उच्चत्तम स्तर को प्राप्त देवताओं के लिए प्रयुक्त है, जो कि पूजनीय अर्थ परक है। किन्तु इस श्रमण परम्परा में यह अभिधान अर्थपरक होने के साथ आध्यात्मिक उच्चत्तम अवस्था को प्राप्त, व्यक्तित्व परक हो गया है।

उपर्युक्त उद्धरणों से अर्हत् परमेष्ठी गत विशेषण व विवेचन से हमें जैन

---

१. विनयट्ठकथी-सारत्यदीपिनी टीका-१-१७०

२. वही १-१७१

३. वही १७१

दर्शन व बौद्ध दर्शन में अत्यन्त साम्यता दृष्टिगोचर होती है। यहाँ जिन जिन गुणों का समावेश बुद्ध-अर्हत् में किया है, वे सभी तीर्थङ्कर अर्हत् में समानरूप से उपलब्ध होते है।

इस साम्यता का कारण यह भी हो सकता है कि वर्द्धमान महावीर तथा तथागत गौतम बुद्ध दोनों समकालीन थे। उस समय की संस्कृति व धर्म की परस्पर एक दूसरे पर छाप पड़ना संभव है।

जैन सम्मत अर्हत्-

अर्हत् विषयक प्ररूपणा आज जो जैन परम्परा में प्रचलित है, संभवतः अन्य परम्पराओं में इतनी विकसित नहीं। यद्यपि 'अर्हत्' शब्द देह को सभी परम्पराओं ने आत्मसात किया है, इसके बावजूद भी जैन सम्मत मान्यता सभी में प्रधान रही हैं। इसका कारण यह भी हो सकता है कि ब्राह्मण परम्परा में ईश्वर, अवतारी पुरुष तथा अनेक देवताओं की प्रधानता हो गई। श्रमण परम्परा में बौद्ध सम्प्रदाय ने प्रथमतः बुद्ध तथा उसकी पश्चादवर्ती शाखाओं में बोधिसत्त्व को प्रमुखता दी। इस्लाम धर्म में पैगम्बर, पारसी धर्म में देवदूत जरथुस्त्र, यहूदीधर्म में परमेश्वर याहवेह तथा उनके प्रतिनिधि मोजेज आदि, ईसाई धर्म में प्रभु ईसा मसीह मान्य किये गये। किन्तु जैन परम्परा अद्यापि अपना परमाराध्य अर्हत् को स्वीकार करती है। यहाँ तक कि नित्य स्मरणीय नमस्कार महामंत्र में भी प्रथम नमस्कार अर्हत् को ही किया गया है।

जैन परम्परा अर्हत् स्वरूप स्थिति में किसी ईश्वर या किसी देवता विशेष को *प्रस्थापित नहीं करती, वरन् मानव मात्र को ही नहीं, प्राणी मात्र को,* प्रत्येक जीवात्मा को इस पद पर आरूढ होने का अधिकार प्रदान करती है। प्रत्येक आत्मा अपनी आध्यात्मिक पृष्ठभूमि में साधना द्वारा, इस पद की प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकती है। यह पद व्यक्तिनिष्ठ न होकर व्यक्ति की गुणवत्ता पर आधारित है। नाम, जाति, लिंग, से परे सम्प्रदायातीत है। अवतारी पुरुष की भांति अर्हत् पुनः पुनः अवतरित नहीं होते किन्तु अपने गुण प्रकर्ष से समाज में फैली हिंसा के ताण्डव के समक्ष उत्क्रान्ति लाने हेतु जन्म लेते हैं। वे अवतीर्ण नहीं होते वरन् आत्म जागृति के द्वारा अपने सत्कर्मों से जनकल्याण हेतु सत्य धर्म का प्रवर्तन करके समाज को सही राह बताते हैं। मानव स्थित अधिकार व कर्त्तव्यों की मर्यादा में स्वयं का जीवन यापन करते हुए दुःखों से मुक्त होने के लिए शाश्वत सुख के मार्ग को स्वयं जानकर, तदनुरूप आचरण करके, अविद्या-अज्ञानान्धकार

को दूर करके केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् उद्‌बोधन देते हैं। धर्म का प्रवर्त्तन करते हैं।

जैन धर्म में सामान्यतया तीर्थंकर अर्हत्, जिन, केवली, सर्वज्ञ, वीतराग आदि समान पर्यायें हैं, किन्तु सूक्ष्मतया अथवा व्यवहार एवं निश्चय की अपेक्षा कुछ भिन्नता भी है। वैसे यथार्थ ज्ञान की कोटि में सभी का स्तर एक-सा है, किन्तु तीर्थङ्कर एवं सामान्य केवली में भिन्नता अवश्य है। ज्ञान समान हो जाने पर भी तीर्थंकर धर्म का प्रवर्तन कर सकते हैं, सामान्य केवली नहीं। यदि आगमिक, दृष्टिकोण से देखा जाये तो आगमों में एक भी स्थल ऐसा नहीं जहाँ सामान्यकेवली को अर्हत् कहा गया हो। मात्र तीर्थंकर को ही अर्हत् पद से अलंकृत किया गया है। इस प्रकार निश्चत नय की दृष्टि से तो मात्र तीर्थङ्कर को ही अर्हत् कहा जा सकता है। किन्तु ज्ञान की तुल्यता से, व्यावहारिक अपेक्षा से सामान्य केवली को भी अर्हत् कहा जा सकता है।

जैन परम्परा में भी समयानुसार २ शाखाएँ विभाजित हुई- १. श्वेताम्बर २. दिगम्बर। इन दोनों ही सम्प्रदायों में १. स्त्रीमुक्ति २. केवली भुक्ति इन दो विषयों के अतिरिक्त कुछ विशेष मतभेद अद्यापि नहीं है। किन्तु अर्हत् के स्वरूप में किञ्चिद् मात्र भी मतभेद, भिन्नता नहीं, जैसा कि बौद्ध सम्प्रदायों में हुआ है। ये दोनों ही सम्प्रदाय आध्यात्मिकता के उच्चतम शिखर पर अर्हत् की ही स्थापना करते हैं। परमेष्ठी के पाँचों ही पदों में अर्हत् का स्थान प्रमुख है। कर्मक्षय की अपेक्षा से सिद्ध अथवा मुक्तात्मा कर्म रहित हो चुके। जबकि अर्हत् के चार कर्म शेष रहते हैं। कर्मशेष होने पर भी तीर्थ-स्थापना एवं धर्म-प्रवर्त्तन करने से अर्हत् की महत्ता सर्वोपरि मान्य की गई है।

अर्हत्, जिन, सर्वज्ञ, तीर्थंकर, केवली, वीतराग आदि समान पर्यायें होने पर भी आगमिक दृष्टि से अवलोकन करने पर प्राचीनतम प्रमाणित अंग आगम में भी 'अर्हत्' संज्ञा प्राप्त होती है, तीर्थंङ्कर नहीं। आचाराङ्ग व सूत्रकृताङ्ग दोनों ही सर्वाधिक प्राचीन (ई. पू. ५वी शती) मान्य किये हैं। उसमें भी 'अरहंत' पद प्रयुक्त किया गया है।[१] अभिधान चिन्तामणि में भी आचार्य हेमचन्द्र ने अर्हत् को प्रधानता देकर अन्य पर्यायें पश्चात् संलग्न की है। (१२ वीं शती)

अर्हत् जिनः पारगतस्त्रिकालवित्।
क्षीणाष्ट कर्मा परमेष्ठयऽधीश्वरः ।।

---

१. *आचाराङ्ग सूत्र १. ४. १.*

शम्भुं स्वयम्भूर्भगवान् जगत्प्रभु-
स्त्रीर्थङ्करस्तीर्थकरो जिनेश्वरः।।
स्याद्वाद्यमयपदसार्वाः सर्वज्ञः सर्वदर्शिकेवलिनौ।
देवाधिदेव बोधिद पुरुषोत्तम वीतरागाप्ताः।[१]

अर्हत् १, जिन २, पारगत ३, त्रिकालवित् ४, क्षीणाष्टकर्मा ५, परमेष्ठी ६, अधीश्वर ७, शम्भु ८, स्वयंभू भगवान् १०, जगत्प्रभु ११, तीर्थंकर १२, तीर्थंकर १३, जिनेश्वर १४, स्याद्वादी १५, अभयपद १६, सार्वा १७, सर्वज्ञ १८, सर्वदर्शी १९, केवली २०, देवाधिदेव २१, बोधिद २२, पुरुषोत्तम २३, वीतराग २४, आप्त २५। इस प्रकार ये २५ अभिघान (नाम) अर्हत् से अभिप्रेत किये हैं।

प्राचीनतम शिलालेखों में यथा उड़ीसा के खारवेल सम्राट के शिलालेख में भी अर्हत् पद ही उद्धृत किया हैं। इससे यह कहा जा सकता है कि अर्हत् पद की प्रतिष्ठा प्रथमतः हुई। इस प्रकार इतना तो निर्विवाद कहा जा सकता है कि अन्य पर्यायों की अपेक्षा अर्हत् पद सर्वप्रथम प्रकाश में आया। अन्य पर्यायें समयानुसार विकसित हुई।

हिन्दु, जैन, बौद्ध परम्परा में समान रूप से अर्हत् पद प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि सभी ने अपनी अपनी मान्यतानुसार इसकी प्ररूपणा की है, फिर भी शब्दतः सभी ने इसे स्थान दिया है। ऐतिहासिकता की अपेक्षा अध्ययन किया जाये तो यह तथ्य उजागर होता है कि उस काल में 'अर्हत्' पद की प्रतिष्ठा समान रूप से थी। भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत सभी धर्मों ने इसको स्वीकार कर इसके माहात्म्य को दर्शाया है। पूजार्थक, पूजनीय आदि अनेकानेक धातुएँ होने पर भी अर्ह धातु से निष्पन्न इस पद को सर्व सामान्य के लिए स्वीकार नहीं किया गया। मात्र उपास्य जो कि परमात्म स्वरूप हैं, उनके लिए ही यह पद निर्धारित किया गया हो, ऐसा दृष्टिगत होता है।

अर्हत् परमेष्ठी : आगमिक सर्वेक्षण-

विविध जैनागमों में निर्दिष्ट अर्हत् परमेष्ठी विषयक तथ्यों का पर्यालोचन करें। यहाँ हम संक्षेप में विविधता में समग्रता के साथ उन तथ्यों का सर्वेक्षण करेंगे।

---

१. अभिधान चिन्तामणि २३-२४

सर्वप्रथम हम आचाराङ्ग को देखें। आचराङ्ग में यद्यपि अर्हत् संज्ञा से तो एक ही बार उल्लेख हुआ है, तथापि जिन, केवली, भगवान्, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी आदि पर्यायों के माध्यम से अनेकशः उच्चरित हुआ है। जो एक बार उल्लेख हुआ है उसमें भी त्रिकालवर्ती अर्हत् का अस्तित्व तथा एक समान उनकी प्ररूपणा का निर्देश किया गया है। प्रथम श्रुतस्कंध के सदृश द्वितीय श्रुतस्कंध में भी इसी भांति उल्लेख प्राप्त होता है। किन्तु इसके अतिरिक्त अर्हत् महावीर तीर्थङ्कर को लोकान्तिक देव अभिनिष्क्रमण हेतु विज्ञप्ति करते हैं, ऐसा भी उल्लिखित है। यह आचार प्रधान ग्रन्थ है, अतः स्वाभाविक है कि इसमें आचार-मात्र का कथन है।

दूसरा आगम है सूत्रकृताङ्ग-इस अंग सूत्र में अर्हत् की प्रक्रिया में पूर्वभूमिका का निर्देश है तथा उसकी प्रथम शर्त इंगित की है : अध्यात्म दोषों का वमन। कषाय-जयी होना इसकी अनिवार्य शर्त है।

इसी के साथ अर्हत् के स्वरूप में वे अनुत्तर ज्ञानी व अनुत्तरदर्शी होते हैं, यह भी वर्णित किया गया है। तृतीय अंग सूत्र ठाणाङ्ग में अर्हत् किन कर्मों का वेदन करते हैं तथा घाती कर्म चतुष्टय को क्षीण कर देते हैं, उल्लेख किया है। यहाँ अपेक्षा भेद से वर्गीकृत करके अवधिज्ञानी, मनःपर्यव ज्ञानी तथा केवलज्ञानी को भी अर्हत् कहा है।

स्नातक तथा सर्वाधिक ऋद्धिमान अर्हत् परमेष्ठी है। वे सर्वभाव से क्या क्या जानते देखते हैं, इस प्रकार उनके असीम ज्ञान-दर्शन को भी वर्णित किया है। इसके साथ ही अर्हत् परमेष्ठी की आयु, शरीर, अवगाहना, वर्ण, सम्पदा, पंचकल्याणकों के नक्षत्र, गण-गणधर, निर्वाण आदि प्रसंगों का प्रचुरता से उल्लेख इसमें प्राप्त होता है।

देवेन्द्र-देवगण, देवियाँ आदि दिव्यशक्तियों का आगमन भूलोक में अर्हत् परमेष्ठी के जन्म, प्रव्रज्या, केवलज्ञान, निर्वाण आदि महोत्सवों में विशेष रूप से होता है, यह भी यहाँ दृष्टिगत होता है।

अर्हत् प्रभु का अवर्णवाद-निन्दा से होने वाले फल प्राप्ति का भी यहाँ टंकण किया है। जीव सुलभबोधि और दुर्लभबोधित्व कैसे प्राप्त करता है? यह भी इसमें आलेखित है। अर्हत् परमेष्ठी के वंश, उनका समय, धर्मपुरुष होना, किस प्रकार की योनि से उनका उत्पन्न होना, चातुर्याम-पंचमहाव्रत रूपी धर्म का उपदेश देना, उल्लेख किया गया है। इस प्रकार विभिन्न उद्धरणों के माध्यम से

अर्हत् की अवधारणा पर यहाँ पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

चतुर्थ अंग समवाय में अर्हत् परमेष्ठी के ३४ अतिशय तथा वाणी के पैंतीस अतिशयों का निरूपण किया है। साथ ही एक समय में उत्कृष्टता कितने अर्हत् हो सकते हैं? इस का वर्णन है। अतीत-अनागत तथा वर्तमान के अर्हत् परमेष्ठी के अभिधानों की भी सूची यहाँ दी गई है।

पंचम अंग सूत्र व्याख्या प्रज्ञप्ति के प्रारम्भ में ही पंच परमेष्ठी को नमस्कार करके ख्याति प्राप्त नमस्कार मंत्र के पंच पदों का उल्लेख किया है। इस सन्दर्भ में अर्हत् परमेष्ठी को नमस्कार किया गया है। वृत्तिकार अभयदेवसूरीने अर्हत् परमेष्ठी का अर्थ-घटन भी सुन्दर रीति से किया है। साथ ही 'शक्रस्तव-नमुत्थुणं' जो कि शकेन्द्र के द्वारा स्तुत्य है, अर्हत् परमेष्ठी की स्तुति की गई है।

अर्हत् परमेष्ठी के जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान, परिनिर्वाण आदि महोत्सवों में देवों का आचार बताया गया है तथा उनके माहात्म्य को इंगित किया है। उनकी आशातना व नमस्कार के महत्फल का भी वर्णन है। अर्हत् प्रभु के ज्ञान की पराकाष्ठा भी द्योतित की गई है। अर्हत् महावीर के साथ ही साथ अर्हत् पार्श्वनाथ की प्ररूपणा को भी इसमें गुम्फित किया है।

ज्ञाताधर्मकथाङ्ग में अर्हत् के जन्म सूचित चतुर्दश स्वप्नों का तथा अर्हत् मल्ली जो कि उन्नीसवें तीर्थङ्कर है उनका सम्पूर्ण जीवनवृत्त वर्णित किया गया है। उनके जन्म से लेकर परिनिर्वाण तक का उल्लेख किया गया है।

इसके अतिरिक्त अर्हत् अरिष्टनेमि, अर्हत् मुनिसुव्रत आदि का वर्णन भी प्राप्त होता है। एक ही क्षेत्र में, एक समय में दो तीर्थङ्कर कदापि संभव नहीं है। अन्य क्षेत्रीय अर्हत्-तीर्थङ्कर कभी भी सम्मिलित नहीं हो सकते, यह भी यहाँ उद्घाटित हुआ है।

उपासकदशाङ्ग में अर्हत् के नामस्मरण, पर्युपासना के महत्फल का उल्लेख है। तो अंतगडदशाङ्ग में नाम-मात्र से अर्हत् अरिष्टनेमि का आलेखन है।

इस प्रकार एकादश अंग आगमों में अर्हत् परमेष्ठी संबंधित विचारणा की गई है।

अंग बाह्य आगमों में-

प्रथम उपांग औपपातिक सूत्र में पूर्वागमानुसार अर्हत् परमेष्ठी की स्तुति नमुत्थुणं सूत्र परक लभ्य होती है। अर्हत् की पर्यायें सर्वज्ञ, जिन, केवली आदि

विशेषण-उपमा स्वरूप उपलब्ध हुई है। चौंतीस अतिशय एवं वाणी के पैंतीस अतिशयों के संकेत के साथ छत्र-चामर आदि प्रतिहार्यों का वर्णन भी इसमें किया गया है। अम्बड श्रावक की अर्हत् परमेष्ठी पर अविहड श्रद्धा का भी इसमें उल्लेख प्राप्त होता है। अस्तित्ववाद में अर्हत्-चक्रवर्ती का अस्तित्व है ही इसका भी वर्णन इस सूत्र में किया गया है।

राजप्रश्नीय उपांग में उल्लिखित है कि अर्हत् प्रभु की पर्युपासना में देवगणों की उपस्थिति होना, उनका आचार है। अर्थात् अर्हत् प्रभु की पूजा देवों द्वारा भी होती है, यहाँ इसकी पुष्टि होती है।

प्रज्ञापना उपांग सूत्र में ऋद्धिमान् की गणना में अर्हत् परमेष्ठी का सर्वाधिक होना स्वीकार किया है।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति उपांग में अर्हत् परमेष्ठी के देव और मनुष्यों द्वारा जन्माभिषेक महोत्सव का विस्तृत निरूपण है। इस सूत्र में मंगलाचरण, 'नमो अरहंताण' से किया गया है। अर्हत् ऋषभ के पंचकल्याणकों के साथ उनके जीवनवृत्त को भी इसमें गूंथा गया है। इसमें भरत केवली का उल्लेख करने पर भी उनको अर्हत् पद से सुशोभित नहीं किया गया।

प्रकीर्णक ग्रन्थों के अन्तर्गत चतुःशरण प्रकीर्णक में अर्हत् परमेष्ठी का शरण ग्रहण करना ग्राह्य है तथा तदन्तर्गत स्वरूप-लक्षण एवं माहात्म्य का भी उल्लेख किया गया है।

छेद सूत्रों में महानिशीथ सूत्र में इस अर्हत् पद की विवेचना निर्युक्ति परक हुई है। विनयोपधान के अन्तर्गत आंबिल तप से इस पद की आराधना की गई है। अरहंत, अरूहंत एवं अरिहंत इन तीन प्रकार के अर्थों के साथ इसका सविस्तार निरूपण, उपदेश एवं स्थापना की गई है।

कल्पसूत्र के अन्तर्गत तीर्थङ्कर-अर्हत् के जीवन वृत्त का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। अर्हत् महावीर, पार्श्वनाथ, अरिष्टनेमि तथा ऋषभदेव के जीवनचरित्र का सुन्दर निरूपण है। उनके गण, गणधर, साधु समुदाय एवं संघ व्यवस्था का विवेचन इस सूत्र में किया गया है।

बृहत्कल्पसूत्र-

इस सूत्र में समवसरण (धर्मसभा) जो कि अर्हत् परमेष्ठी की धर्मदेशना हेतु

देवगणों द्वारा निर्मित किया जाता है,की रचना का सविशेष वर्णन उपलब्ध होता है।

चूलिका सूत्रान्तर्गत नंदीसूत्र में अर्हत् परमेष्ठी की स्तुति परक वर्णन मात्र उपलब्ध है तथा ज्ञानप्रकरण में केवली की सामान्य विवेचना हैं।

मूलसूत्रों में उत्तराध्ययन सूत्र में विशेषत: भगवान् महावीर के साथ पार्श्व भगवान को भी अर्हत् पद से अलंकृत करके जिन, लोकपूजित, स्वयं सम्बुद्धता, सर्वज्ञ, धर्मतीर्थङ्कर आदि से भी सम्बोधित किया गया है। जीव तीर्थङ्कर नाम-कर्म किस प्रकार बांधता है? वैयावच्च से जीव तीर्थङ्कर नाम कर्म बांधता है, यह भी उल्लेख किया गयाहै।

आवश्यक सूत्र के अन्तर्गत उसका प्रारम्भ नमस्कार मंत्र से हुआ। तत्पश्चात् मंगलचतुष्क में सर्वप्रथम दृग्गोचर हुआ। द्वितीय आवश्यक लोगस्स (चतुर्विंशति स्तव) में स्पष्ट आलेखन है कि चौवीस तीर्थङ्कर-अर्हत् तथा केवली है। वर्तमान चौवीसी के नामोल्लेख के साथ साथ स्वरूप, स्तुति, गुणकीर्तन तथा माहात्म्य से भरपूर है। इस छोटे से सूत्र में अर्हत्-तीर्थङ्करों का विवरण गहनता से किया है। शक्रस्तव के साथ-साथ पंचम कायोत्सर्ग, अर्हत् चैत्य का भी उल्लेख किया गया है।

इस सूत्र की निर्युक्ति में अर्हत् परमेष्ठी पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

ऋषिभाषित, सूत्र एक ऐसी विशेषता लिए हुए है कि इसे समन्वय सूत्र या अपवाद सूत्र कहा जा सकता है, क्योंकि इस सूत्र में ४५ ऋषियों का उल्लेख है। जो कि जैन, बौद्ध एवं वैदिक सम्प्रदाय से संबंधित है। इस सूत्र में सभी ऋषियों को अर्हत् पद से विभूषित किया है। मात्र अम्बड परिव्राजक को अर्हत् नहीं कहा गया है।

एक यही सूत्र है जिसमें सब ऋषियों को अर्हत् कहा है। जब कि अन्य आगमग्रन्थों में सामान्य केवली गणधर आदि में से किसी को भी अर्हत् नहीं कहा गया। इससे यह उद्भासित होता है आगम ग्रन्थों से पूर्व इसकी रचना हुई हो। वैसे नन्दी सूत्र एवं पाक्षिक सूत्र में इसकी गणना कालिक सूत्रों के अन्तर्गत की गई है।

इस प्रकार आगमिक सर्वेक्षण से अर्हत् की अवधारणा का विवरण हमें प्राप्त होता है। अब हम अर्थ की अपेक्षा से अर्हत् परमेष्ठी की अवधारणा का अवलोकन करेंगे।

2. अर्हत् का निर्युक्ति व्युत्पत्ति परक अर्थ-

यद्यपि वेदों के स्वरूप-बोध के लिए उस पर यास्क महर्षि ने निरुक्त रचा है, तथापि यास्क महोदय ने इस अपने ग्रन्थ में अर्हत् पद का निर्वचन नहीं किया। यास्क महाशय यद्यपि इसका निर्वचन नहीं करते, किन्तु अपने निघण्टु में अर्ह धातु का प्रयोग उन्होंने अवश्य किया है।[१] इससे निरूक्त ग्रन्थ में व्युत्पत्ति प्राप्त न होने पर भी इतना तो सुनिश्चित कहा जा सकता है कि यास्क महोदय ने अर्ह धातु प्रयुक्त की थी।

सर्वप्रथम इस पद की व्युत्पत्ति हमें महर्षि पाणिनी (ई. पू. ५ वीं शताब्दी) कृत व्याकरणशास्त्र में प्राप्त होती है। पाणिनी महोदय कृत 'अष्टाध्यायी'[२] में अर्ह धातु की व्युत्पत्ति की है- 'अर्हः प्रशंसायाम्'। अर्थात् प्रशंसा अथवा प्रशंस्य अर्थ में इस धातु का प्रयोग किया गया है।

उसके पश्चात् अर्हत् पद की निर्युक्ति हमें आवश्यक सूत्र की निर्युक्ति में उपलब्ध होती है। इसका निर्वचन करते कहा है "अरिहंति वंदणनमंसणाइं अरिहंति पूअसक्कारं। सिद्धिगमणं च अरिहा अरहंता तेण वुच्चंति।[३]" यहाँ पर इस पद का अर्थ, वन्दन, नमस्कार, पूजा, सत्कार तथा सिद्धिगमन किया गया है। इस निर्युक्ति का विशेषार्थ करते कहा है कि "देवासुरमणुएसु अरिहा पूआ सुरुत्तमा जम्हा। अरिणो हंता रयं हंता, अरिहंता तेण वुच्चंति"।[४] तात्पर्य यह है कि देव, असुर और मनुष्यों से पूजित अर्थात् सुरोत्तम जो देवगणों से भी उत्तम है, उनकी पूजा। पश्चात् कथन है "जो अरियों (शत्रुओं का हंता है-नाश करने वाला है, वह भी अरिहन्त है। साथ ही जो रज अर्थात् कर्मरज का भी हन्ता है, नष्ट करने वाला हो वह अरिहन्त कहलाता है।"

वे अरि अर्थात् शत्रु कौन कौन से हैं, उसका स्पष्टीकरण करते हैं-

इंदियविसयकसाए परीसहे वेयणा उवस्सग्गे।
एए अरिणो हंता अरिहंता तेण वुच्चंति।[५]

---

१. निरुक्त २.३, १. दण्डमर्हति इति वा, दण्डेन सम्पद्यत इति वा।
२. अष्टाध्यायी ३.२.१३३ (३११३)
३. आव. नि. ९२१
४. वही. ९२२
५. वही. ९१९

अर्थात् इंद्रिय, विषय, कषाय, परीषह, वेदना तथा उपसर्ग रूपी शत्रुओं को नाश करने वाला अरिहंत कहलाता है। पुनः शत्रुओं को उल्लेख है,

अट्ठविहंपिय कम्मं अरिभूअं होइ सव्वजीवाणं।
तं कम्ममरिं हंता अरिहंता तेण वुच्चंति।[१]

अर्थात् सर्व जीवों के अष्टविध कर्म शत्रुरूप हैं, जो इन अष्टकर्मों का हन्ता है, उसे अरिहन्त कहा जाता है।

पाणिनी व्याकरण एवं आवश्यक निर्युक्ति इन दोनों के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन करने से यह विदित होता है कि पाणिनी अर्हधातु की प्रशंसा अर्थ में व्युत्पत्ति करते हैं, वहाँ आवश्यक सूत्र में अरहन्त की गई निर्युक्ति में इसका स्थान पूजा परक, वंदन-नमस्कार अर्थमय हो गया है। अर्थघटना के विस्तार संकोच की ओर दृष्टिपात् करने पर जहाँ पाणिनी का व्युत्पत्तिपरक प्रशंसा अर्थ व्यापकता की ओर इंगित करता है। क्योंकि प्रशंसा गुणों की होती है। सर्व सामान्य गुण प्रशंसा अर्थ में ग्राह्य हो सकते हैं। वहाँ आवश्यक निर्युक्ति में यह अर्थ पूजनीय, योग्यत्व के अर्थ संकुल में निबद्ध हो गया। प्रशंसा एवं पूजा यद्यपि सन्निहित गुणों की ही होती है। किन्तु इसमें भेद रेखा यह है कि प्रशंसा सर्वसामान्य की भी हो सकती है, किन्तु पूजनीयता अनूठे व्यक्तित्व को ही प्राप्त हो सकती है। पूजा सदैव श्रद्धा पर अवलम्बित होती है। प्रशंसा में आस्था के आयाम नहीं। निष्ठा के अभाव में प्रशंसा का स्रोत प्रवाहित हो सकता है। जबकि पूजा में निश्चल दृढ़ श्रद्धा अपेक्षित है। श्रद्धा के अभाव में वह पूजा नहीं, मात्र दंभ हो सकता है। इस प्रकार प्रशंसा की व्यापकता से अर्हत् का अर्थ संकोच पूजा तक सीमित हो गया। आवश्यक निर्युक्ति में तो यह अर्थ आध्यात्मिकता की पराकाष्ठा के स्तर पर भी जा पहुँचा। चूंकि शब्द अनेकार्थक होते हैं, अतः निर्वचन करते हुए सिद्धिगमन अर्थघटन भी किया गया। इस प्रकार महर्षि पाणिनी से निर्युक्तिकार भद्रबाहू के (वि. छट्ठी शताब्दी)[२] मध्य समय में अर्ह के अर्थ संयोजन में कुछ भिन्नत्व की झलक प्राप्त होती है।

---

१. वहीं. ९१९
२. न्यायावतार वार्तिक वृत्ति प्रस्ता. पृ. १०३

वट्टकेराचार्यकृत मूलाचार ग्रन्थ में भी इस निर्युक्ति का ही अनुगमन किया है।[1] किन्तु षट्खण्डागम के धवला टीकाकार वीरसेनाचार्य ने इस पूजा अर्थ को भी विशेषता प्रदान करते कहा, 'अतिशय पूजार्हत्वाद्वार्हन्तः[2] अर्थात् अतिशय पूजा के योग्य होने से अर्हन्त संज्ञा प्राप्त होती है। महापुराण[3], नयचक्रवृत्ति[4], 'चारित्रपाहुड[5] टीका में भी निर्युक्ति के अर्थ को अनुलक्ष किया है।

धवला के अर्थ में यहाँ अतिशय ने भी स्थान पा लिया। क्योंकि पूजा योग्य भी अनेक पात्र हो सकते हैं। किन्तु जो अतिशय पूजनीय हो, वहाँ इस अर्थ ने विराम लिया है। यहाँ पर परमात्मा के प्रति निष्ठा व्यक्त होती है।

आवश्यकसूत्र पर श्रीमद् हरिभद्रसूरि कृत वृत्ति में इसकी बहुत ही सुन्दर व्याख्या की है-'अर्ह पूजायाम्', अर्हन्तीति 'पचाद्यच्' कर्तरि अर्हाः, किमर्हन्ति? वन्दननमस्करणे, तत्र वन्दनं सिरसा, नमस्करणं वाचा, तथार्हन्ति पूजासत्कारं, तत्र वस्त्रमाल्यादिजन्या पूजा, अभ्युत्थानादिसम्भ्रमः सत्कारः तथा सिद्धिगमनं चार्हन्ति। अथवा अर्हन्तीत्यर्हन्त।[6]

अर्थात् वन्दन शिरझुका कर, नमस्कार कहकर किया जाता है। किन्तु पूजा तथा सत्कार वस्त्र मालादि जन्य, सत्कार आदर के साथ सन्मुख जाने से होता है। इन सबके साथ विशिष्टता तो 'सिद्धिगमन' की है। जो सिद्धि की ओर गमन करने को उद्यत हैं उनको अर्हत् कहा जाता है।

सिद्धहेमशब्दानुशासन व्याकरण के कर्त्ता श्रीहेमचन्द्राचार्य ने अपने व्याकरण ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही इस पद की व्युत्पत्ति की है। उनकी स्वोपज्ञ मध्यमवृत्ति के अनुसार "अर्हमित्येतदक्षरं परमेश्वरस्य परमेष्ठिनो वाचकं मङ्गलार्थं शास्त्रस्यादौ प्रणिदध्महे।। अर्ह मह पूजायाम्। अर्ह्। अर्हति। अष्टप्रातिहार्यपूजामित्यर्हं।"'अः' (२) इत्युणादिसूत्रेण अ। 'पृषोदरादयः' (३.२.१५५) इति सानुनासिकत्वं कला बिन्दुः ? अथवा अर्हमिति मान्तोऽप्यस्ति अव्ययम् सिः 'अव्ययस्य' (३.२७) इति लुप्। अर्हं इति अक्षर पदं परमेश्वरस्य जगन्नाथस्य एकस्यैव परमेष्ठिनोर्हद्भगवतो वाचकम्। अर्हं कारेण अर्हन्नेव ध्यायते इति भावः।[7]

---

१. मूलाचार ५०५, ५६२
२. धवला १.१.१., १.४४.६.
३. महापुराण ३३/१८६
४. नयचक्रवृत्ति २७२
५. चारित्र पाहुड टी. १.३१.५.
६. आव.वृत्ति. ९२१. पृ. ४०६
७. सिद्धहेमशब्दानुशासन १.१.

श्री हेमचन्द्राचार्य ने अर्हत् के हार्द को पूर्णरूपेण विकसित किया है। अर्हम् अक्षर परमेष्ठी परमेश्वर का वाचक है। अर्ह पूजा अर्थक है। जो अष्टप्रातिहार्य से संयुक्त है उसको द्योतित करती है। पुनः कहते हैं कि 'अः' यह उणादि सूत्र का 'अ' है, जिस पर अनुनासिक कला बिन्दु है। अथवा मान्त होने से इसे अव्यय भी कहा गया है। इस प्रकार अव्यय स्वरूप होने से यह अर्ह अक्षर-पद परमेश्वर जगन्नाथ एक ही परमेष्ठी अर्हद् भगवन्त का वाचक है। तात्पर्य यह है कि 'अर्ह' होने से ही अर्हत् का ध्यान किया जाता है।

पुनः शंका करते हैं कि अर्हं वर्णों का समुदाय है, तो किस प्रकार अक्षर कहा गया है? समाधान है कि जिसका स्वरूपता क्षर नहीं होता, न स्वरूप से चलायमान होता है, अतः इसे अक्षर कहा गया है।[१]

इस प्रकार इस बृहद्वृत्ति-मध्यमवृत्ति में हेमचन्द्राचार्य ने अर्ह अक्षर-पद की पूजा अर्थ में व्युत्पत्ति करने के पश्चात् अर्ह को अर्हद् स्वरूप में स्थिर कर दिया। अभिप्राय यह है कि जहाँ पूर्वाचार्यों ने इस अर्ह धातु को पूजा अर्थ में प्रयुक्त करके समग्रता को इसमें निबद्ध कर दिया था, वहाँ हेमचन्द्राचार्य ने इस अर्हद् पद को अष्टप्रातिहार्य, परमेश्वर, परमेष्ठी का वाचक सिद्ध करके इसे सिद्धचक का आदि बीज, सकलागम, उपनिषद्भूत, अशेषविघ्न का विघातक, निखिल दृष्टादृष्ट फल-संकल्प का प्रदाता कल्पद्रुम के रूप में व्यवस्थित कर दिया।[२]

यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाये तो ब्राह्मण परम्परा के ग्रन्थों में सर्वप्रथम इसे प्रशंसा परक अर्थ में ग्रहण किया गया। किन्तु श्रमण परम्परा के प्रारम्भ में पूजा अर्थ में ग्रहण करके शनैः शनैः अर्हद् परमेष्ठी स्वरूप में जाकर यह अर्थ व्यवस्थित कर लिया गया।

यद्यपि महर्षि पाणिनी ने अर्ह् धातु को प्रशंसा अर्थ में ग्रहण किया है, किन्तु जब वेदों में यह प्रयोग देखते है तो ज्ञात होता है कि वहाँ भी अग्नि, इन्द्र, रूद्र आदि विशिष्ट देवता के रूप में ग्राह्य होकर पूजा अर्थ में ग्रहण किया गया। सायणाचार्य ने भी अर्हत् को पूजा अर्थ में, योग्य अर्थ में ग्रहण किया है। पश्चात्वर्ती ब्राह्मण साहित्य में पूजापरक अर्थ में इसे प्रयोग किया है। पूजा, योग्य, स्तुति आदि समानार्थक ही है। मनुस्मृति, गीता, रामायण, विष्णुपुराण, भागवतपुराण, रघुवंश आदि सर्व धर्म ग्रन्थों में इसे ईश्वर, शक्र, पूजनीय, विष्णु, हरि के विशेषण रूप में उपादेय माना है।

---

१. सिद्धहेमशब्दानुशासन-बृहद्वृत्ति १.१.

श्रमण परम्परा की दोनों ही धाराओं में बौद्ध तथा जैन में इसे बुद्ध तथा अरहन्त स्वरूप में मान्य किया है। जैन धर्म के दोनों ही सम्प्रदाय दिगम्बर एवं श्वेताम्बर में समान रूप से अर्हन्त् का स्वरूप मान्य किया है।

अर्हत् की इतर पर्यायें-

अर्हत् की व्युत्पत्ति एवं निर्युक्ति परक अर्थ अनेकशः किये गये हैं। किन्तु उनकी पर्यायों का कथन भी अपेक्षित है। जैनवाङ्मय का परिशीलन करने से विदित होता है कि "जैन परम्परानुसार यह मान्य किया जाता रहा है कि प्रत्येक तीर्थङ्कर के केवलज्ञान के पश्चात् इन्द्र के आदेश से आभियोग्य देव भगवान् की धर्मदेशना हेतु समवसरण (सभामण्डप) की रचना करते हैं।[१] देव, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि तिर्यञ्च उस समवसरण में उपदेशामृत का पान करते हैं। उस समय नियमानुसार इन्द्र भी आकर अर्हत् प्रभु को नमस्कार करके एक हजार आठ नामों से उनकी स्तुति करता है। सम्भव है एक हजार आठ गुणों के उपलक्षण से यह स्तुति की जाती हो। क्योंकि तीर्थङ्करों के शरीर में जो १००८ लक्षण और व्यञ्जन होते हैं, जो कि सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार शरीर के शुभ चिन्ह या सुलक्षण माने गये हैं, वे ही सम्भवतः एक हजार आठ नामों से स्तुति करने के आधार प्रतीत होते हैं। समय समय पर जैनाचार्यों के द्वारा भी इन एक हजार आठ नामों के आधार से उनके सहस्त्रनामों का गुम्फन अपने काव्य ग्रन्थों में सुन्दर रीति से किया गया है। जैन परम्परा के अतिरिक्त हिन्दु परम्परा में सहस्त्रनाम के स्तुतिपरक काव्य ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। यथा शिवसहस्त्रनाम, विष्णुसहस्त्रनाम, गणेशसहस्त्रनाम आदि। इनमें से सर्वाधिक प्राचीन विष्णुसहस्त्रनाम है जो महाभारत के अनुशासन पर्व के अन्तर्गत है। संभवतः जैन सहस्त्रनाम स्तवन भी इसी भांति का नियोजन हो।

वर्तमान में अर्हत् परमेष्ठी के सहस्त्रनाम परक सात काव्यग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। जिसमें सर्वाधिक प्राचीन आ. सिद्धसेन दिवाकर (४-५ वीं शता.) का 'शक्रस्तव' है। उसके पश्चात् आचार्य जिनसेन (वि. ९ वीं शता.) ने जिनसहस्त्रनाम की रचना की। श्री हेमचन्द्राचार्य के अर्हन्नामसहस्त्रसमुच्चयं (१२ वीं श.) नामक कृति उपलब्ध होती है। पं. आशाधर जी (१३-१४ वीं. श.) की रचना भी 'जिनसहस्त्रनाम' से उपलब्ध है। उपा. विनय विजय जी म. (१७-१८ वीं. श.) श्री जीवहर्षगणि तथा भट्टारक सकलकार्ति की 'जिनसहस्त्रनाम' रचनाएँ प्राप्त होती है। इस आधार

---

१. बृहदकल्प भाष्य-१ उद्देश्य ११७७.

से यह कहा जा सकता है कि अर्हत् परमेष्ठी के सहस्र नामों का भी उल्लेख मिलता है।

जहाँ श्री हेमचन्द्राचार्य ने अर्हन्नामसहस्रसमुच्चय में सहस्रनामों से अर्हत् परमेष्ठी को अभिव्यञ्जित किया, वहाँ 'अभिधान चिन्तामणि'[१] (अभिधानचिन्तामणि स्वोपज्ञ वृत्ति. २४-२५) में २५ अभिधानों का निरूपण किया है। हो सकता है इन २५ अभिधानों का विस्तृत रूप सहस्रनाम में किया हो अथवा सहस्र का संक्षिप्तिकरण २५ के अन्तर्गत कर दिया हो। पूर्वकथित इन पच्चीस को हम विकासक्रम के अनुसार वर्णित करें तो सर्वप्रथम है- **1. अभयद।**

अर्थात् अभय को देने वाले। हेमचन्द्राचार्य ने अपनी स्वोपज्ञ टीका में इसका विवेचन किया है कि, सप्त भयों के प्रतिपक्षी भूत अर्थात् भयों का प्रतिपक्षी अभय है। जो कि आत्मा का विशेष स्वास्थ्य है, उसके प्रदाता 'अभयद' हैं। एवं निः श्रेयस धर्म की भूमिका स्वरूप उन गुणों के प्रकर्ष से अचिन्त्य शक्तियुक्त सर्वथा परमार्थ को देने वाले अभयद हैं।

2. क्षीणाष्टकर्म-ज्ञानावरणीयादि अष्ट कर्मों को क्षीण-नष्ट करने से क्षीणाष्टकर्मा हैं।

3. जिन, जिनेश्वर, वीतराग-

राग, द्वेष, मोह को जिन्होंने जीत लिया है, वे जिन कहलाते हैं। साथ ही उन जिनों के भी ईश्वर होने से जिनेश्वर कहलाते हैं। राग के नष्ट हो जाने से वीतराग भी उनको कहा जाता है।

4. सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, केवली, त्रिकालवित्-

सर्व वस्तुओं के ज्ञाता, द्रष्टा होने से सर्वज्ञ और सर्वदर्शी कहा जाता है तथा सर्वथा कर्मावरण के विलय होने पर केवल चैतन्य स्वरूप का आविर्भाव होने से केवली नाम से अभिहित किया जाता है। त्रिकाल के ज्ञाता हैं अतः त्रिकालविद्।

5. तीर्थङ्कर, तीर्थकर, भगवान, जगत्प्रभु, परमेष्ठी, अधीश्वर, देवाधिदेव-

संसार समुद्र से तैर गंये है अतः तीर्थङ्कर, प्रवचन के आधारस्तम्भ चतुर्विध तीर्थ की स्थापना करने से तीर्थकर, जगत् का ऐश्वर्य अथवा ज्ञान होने से भगवान्, जगत् के प्रभु, परमपद में स्थित, जगत् में अधिष्ठित होने से अधीश्वर, तथा सुरेन्द्रादि देवों के देव होने से वे देवाधिदेव कहलाते हैं।

---

१. अभिधानचिन्तामणि स्वोपज्ञ वृत्ति. २४-२५

6. आप्त, स्याद्वादी, बोधिद्, सार्व-

आत्महितोपदेशक होने से आप्त तथा अनेकान्तमय उनके वचन है अत: स्याद्वादी, बोधि अर्थात् जिन धर्म की प्राप्ति एवं उसके दाता होने से बोधिद तथा समस्त प्राणियों के हितकारी होने से सार्व-सर्वीय आदि संज्ञाओं से अभिप्रेत किया जाता है।

7. शम्भु, स्वयंभू, पुरुषोत्तम-

शाश्वत सुख के स्वामी हैं अत: शम्भु, स्वयं ही अपनी आत्मा के तथाभव्यत्वादि सामग्री के परिपाक होने से स्वयंभू तथा पुरुषों में उत्तम अर्थात् तथा भव्यत्व आदि भावों से श्रेष्ठ होने से पुरुषोत्तम हैं।

8. पारगत-

संसार के प्रयोजनों से पार हो चुके हैं अथवा जो संसार के पर्यन्त-पार जा चुके हैं, अत: पारगत हैं।

यहाँ विकास क्रम के अनुसार प्राणिमात्र में अभयवृत्ति को देने वाले हैं, आत्म स्वास्थ्य के, आत्म स्वरूप के प्रदाता होने से विश्वत्सलता का उदय होता है। मैत्री भावना का पूर्णत: समावेश होने से अभयद कहा गया है। इस अभय दान वृत्ति के माध्यम से अष्टकर्मों का समूलोच्छेद कर देने के फलस्वरूप क्षीणाष्ट कर्मा कहा गया है। कर्मों के विजेता होने से जिन, जिनेश्वर, वीतराग पद पर आरूढ़ हुए हैं। कर्म राशि समाप्त हो चुकी है। अत: 'केवली' त्रिकालवित् से उनको अलंकृत किया है। ज्ञाता द्रष्टा होने से सर्व द्रव्य, गुण, पर्याय, कालभाव के ज्ञाता, द्रष्टा, संघ की स्थापना करके तीर्थकर, अत्यन्त पूजनीय होने से भगवान्, जगत्प्रभु, परमेष्ठी, अधीश्वर देवाधिदेव कहलाये। फलस्वरूप उनके वचन सर्व हितकारी, यथार्थ होने से सद् धर्म की प्राप्ति में सहायक होने से बोधिद कहा गया। सद्धर्म की प्राप्ति सर्व सुखों में सर्वोत्कृष्ट है। उन्होंने स्वयं ने ही इस श्रेष्ठ स्थिति को प्राप्त की है अत: स्वयंभू एवं पुरुषोत्तम संज्ञा पाई है। इस प्रकार संसार के सर्व प्रयोजनों से मुक्त होकर संसार के पर्यन्त जा पहुँचे हैं।

प्राणिमात्र को अभय जिनका मूल है उस वटवृक्ष के फल, परिणाम पारगत है। इन सर्व पर्यायों से अर्हत् परमेष्ठी को अभिहित किया गया है। यद्यपि आगमों में यत्र तत्र उल्लेख मिलता है, तथापि जिन, केवली सर्वज्ञ, वीतराग भगवान आदि पर्यायों का उल्लेख विशेषत: आगमों में दृष्टिगत होता है।

(3) केवली के प्रकार

सर्वथा कर्मावरण के विलय हो जाने पर केवलज्ञान स्वरूप का आविर्भाव जिनमें होता है, जिनका अज्ञानान्धकार नष्ट हो गया है, वे केवली हैं। जैन मान्यतानुसार प्रत्येक प्राणी इस सर्वोत्तम अवस्था का वरण कर सकता है। जब प्राणिमात्र इस आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त कर सकता है, तब प्रश्न उठता है क्या सभी की कक्षा, स्तर समान है? यद्यपि ज्ञान बल में साम्य होने पर भी जैन मान्यता कुछ विभाजन भी करती है। इस अपेक्षा से केवली के दो प्रकार हैं-

1. केवली 2. अर्हत्

(1) सामान्य केवली-

जैन परम्परानुसार प्रत्येक व्यक्ति परमात्म पद का अधिकारी हो सकता है। यद्यपि अर्हत् परमेष्ठी की भांति केवली के जिन नाम कर्म अतिशय संयुक्त, पंचकल्याणक महोत्सव, दिव्य स्वप्न दर्शन आदि नहीं होते। ज्ञान-सीमा में अर्हत् व सामान्य केवली में साम्य होता है।

केवली के अन्य भी प्रकार हैं, यथा-मूक केवली, मुण्डकेवली आदि। सामान्यतया मूक केवली के अतिरिक्त वे उपदेश भी देते हैं। धार्मिक चैतन्य जागरण तथा जन-जीवन कल्याण में धर्मोपदेश देना, उनका आचार है।

सामान्य केवली द्वारा धर्मोपदेश-

आगमों में अनेक स्थल हैं, जहाँ पर केवली द्वारा धर्मोपदेश की चर्चा है-

भगवती सूत्र में केवली के पास धर्मश्रवण करके बोधिलाभ, अणगारत्व यावत् केवलज्ञान प्राप्ति का उल्लेख है।[१] ज्ञाताधर्मकथांग में तेतलीपुत्र केवली के पास राजाकनकध्वज का श्रावकव्रत अंगीकार करने का वर्णन है।[२] जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति में भरत चक्रवर्ति का केवलज्ञान प्राप्ति के बाद दस हजार राजाओं को प्रतिबोध देने का निर्देश है।[३]

इस प्रकार केवली भगवान् द्वारा धर्मोपदेश का वर्णन आगम ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। दूसरी बात यह है कि केवलज्ञान के पश्चात् आत्मकल्याण शेष ही नहीं रहता, वह तो आत्मविशुद्धि की पराकाष्ठा है। वे परकल्याण के लिए ही धर्मोपदेश देते हैं।

---

१. भगवती सूत्र १.३९.१३-३२

२. ज्ञाता. १.१४

३. जम्बू. ३.८७

2. अर्हत्

यद्यपि ज्ञान तुल्यता में समकक्ष होने पर भी सामान्य केवली से अर्हत की कुछ अनूठी विशेषताएँ है, जो कि सामान्य केवली में नहीं। तीर्थकरों के जिननाम कर्म का बंध होता है, फलस्वरूप उनके कल्याणक महोत्सव देव, देवेन्द्र मनुष्यों द्वारा मनाये जाते हैं। यहां तक कि अर्हत् के जन्म के समय सर्वलोक में उद्योत होता है तथा प्राणिमात्र को सुखानुभूति होती है।[१]

क्या अर्हत् पद के अधिकारी तीर्थंकर ही होते हैं, सामान्य केवली नहीं? हम आगमिक सन्दर्भों में इसका अवलोकन करेंगे। चतुर्विंशति स्तव अर्थात् लोगस्स सूत्र में उल्लेख है-

"लोगस्स उज्जोअगरे धम्मतित्थयरे जिणे।
अरहंते कित्तइस्सं चउवीसंपि केवली।।"[२]

यहाँ स्पष्टरूप से चौबीस तीर्थकरों को ही जिन, केवली, तथा अर्हत् कहा गया है। इसी प्रकार शक्रस्तव अर्थात् नमुत्थुणं सूत्र में भी इसी प्रकार उल्लेख किया है-

"नमुत्थुणं अरहंताणं भगवन्ताणं। आइगराणं तित्थयराणं।"[३] जो धर्म का आदि करने वाले तीर्थंकर, अर्हन्त भगवन्त हैं, उनको नमस्कार हो।

45 आगमों में से किसी भी आगम में गणधर, जम्बूस्वामी या अन्तकृत अथवा सामान्य केवली को अर्हत् विशेषण नहीं दिया गया। इस अवसर्पिणी में प्रथम केवली मरूदेवी माता हुई उनको भी अर्हत् विशेषण नहीं लगाया गया।[४]

सैद्धान्तिक अपेक्षा से भी अर्हत् पद मात्र तीर्थङ्कर के साथ ही ग्राह्य हुआ है। चौंतीस अतिशय[५], बारह गुण[६], वाणी के पैंतीस अतिशय[७], इनमें अर्हत् पद से तीर्थङ्कर प्रभु की महिमा का ही गुणगान हुआ है। अष्ट प्रातिहार्य[८], समवसरण की रचना, सुवर्ण कमलों पर पदन्यास, च्यवन के समय माता को दिव्यस्वप्न दर्शन[९], जन्म के 6 मास पूर्व ही देवों द्वारा रत्नों तथा सोनैयों का वर्षण, जन्मावसर पर इन्द्र का आसन चलायमान होना, छप्पन दिक्कुमारिकाओं द्वारा सूति कर्म करना, जन्माभिषेक हेतु शक्रेन्द्र का विकुर्वणा द्वारा पंच रूपों में मेरू गिरि पर ले जाकर

१. आव. चूर्णि पृ. १३५, पण्णवणा २३.
२. आव. सूत्र अध्ययन २
३. भगवती, १.१., २.१, ३.१. औपपातिक ८७, कल्पसूत्र पृ. ३
४. आव. चूर्णि. पत्र १८१
५. समवायाङ्ग ३४.१ भगवती ९.३३
६. ज्ञाताधर्मकथाङ्ग ९, भगवती १२.८, विशेषावश्यक ३०४९,
७. समवायाङ्ग ३५.१
८. भग. वृत्ति १.१ आव. चू. १८२
९. नायाधम्मकहा १.१.२९, अंतगड-३.८, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति पंचम वक्ष

क्षीरोदक से १००८-१००८ सुवर्ण, रत्न, मृत्तिका आदि कलशों द्वारा अभिषेक करना। दीक्षा के अवसर पर लोकान्तिक देवों द्वारा विनम्र प्रार्थना करना, महाभिनिष्क्रमण से पूर्व एक वर्ष तक 'संवत्सर दान' (वर्षीदान) आदि[१] अनेक गाथाएं तीर्थङ्कर प्रभु के यशोगान से जुड़ी हुई हैं। जब कि सामान्य केवली के साथ ऐसा एक भी प्रसंग नहीं होता। इससे यही ज्ञात होता है कि अर्हत् पद को तीर्थङ्कर मात्र के लिए ही उपयोग किया गया है।

फिर किस अपेक्षा से केवली को अर्हत् कहा गया है? उस पर भी हम दृष्टिपात करें। भगवतीसूत्र का प्रारम्भ नमस्कार महामंत्र के मंगल से हुआ है। नमस्कार महामंत्र जिसे कि परमेष्ठी मंत्र तथा पंचमंगलमहाश्रुतस्कंध भी कहा जाता है, उसके टीकाकार अभयदेवसूरि ने इस पद पर विस्तृत वृत्ति/टीका रची हैं। 'णमो अरहंताण' में अरहन्त पद की व्याख्या करते हुए श्रीमद् अभदेवसूरि का कथन है कि -"अमरवरविनिर्मिताशोकादिमहाप्रातिहार्यरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तः"[२] अर्थात् देवों द्वारा रचित अशोकवृक्षादि (आठ) महाप्रातिहार्यरूप पूजा के जो योग्य हैं, वे अरहंत कहलाते हैं। इसी प्रकार का कथन आवश्यक निर्युक्ति में है।[३]

इसी 'अरहताणं' पद की व्याख्या अभयदेव सूरी दूसरी प्रकार से करते हैं "अथवा अविद्यमानं वा रहः-एकान्त रूपो देशः अन्तश्चः मध्यं गिरिगुहादीनां सर्ववेदितया समस्तवस्तुस्तोमगतप्रच्छन्नत्वस्याभावेन येषां ते अरहोन्तरः[४]" तात्पर्य यह है कि सर्वज्ञ होने से भगवान् से जगत् की सर्व वस्तुओं में से कोई गुप्त नहीं होती। अतः भगवान् अरहोन्तर कहलाते हैं।

"अथवा अविद्यमानो रथः-स्यन्दनः सकलपरिग्रहो-पलक्षणभूतोन्तश्च विनाशो जराद्युपलक्षणभूतो येषां ते अरथान्ताः[५]" अर्थात् जिनके सर्व प्रकार का परिग्रह और जन्म जरा मृत्यु नहीं है, ऐसे अरथान्त अरहंत भगवान् को नमस्कार हो।[६]

---

१. आव. चूर्णि पत्र १३६-१५७., नाया. ८.
२. भगवतीवृत्ति १.१ प्रका. जिनागम प्रकाशक सभाः बम्बई. अनु. संशो.- पं. बेचरदासजी
३. अरहंतिवंदणनमंसणाणि अरहंति पूयसक्कारं।
सिद्धिगमणं च अरहा अरहंता तेण वुच्चंति। आव. नि. गा. ९२१
४. भगवती सूत्र वृत्ति १.१ प्रका.-जिनागमप्रकाशक सभा. अनु. पं. बेचरदासजी
५. भ. वृ. १.१
६. भ. वृ. १.१

पुनः व्याख्या करते हैं-'अथवा 'अरहंताणं' ति क्वचिदप्यासक्तिमगच्छद्भ्यः क्षीणरागात्[१] अर्थात् 'अरहंताणं' राग का क्षय होने से किसी भी पदार्थ पर आसक्ति नहीं होने से अरहंत भगवन्तों को नमस्कार हो।[२]

भिन्न रूप से पुनः व्याख्या करते हैं- ''अथवा अरहयद्भ्यः-प्रकृष्टरागादिहेतुभूतमनोज्ञेतरविषय-सम्पर्केऽपि वीतरागत्वादिकं स्वं स्वभावमत्यजद्भ्यः इत्यर्थः''-अथवा 'अरहंताण' यानि अरहयद्भ्यः (रह धातु का त्याग देना अर्थ होता है) अर्थात् प्रकृष्ट राग तथा द्वेष के कारणभूत अनुक्रम से मनोहर तथा अमनोहर विषय का सम्पर्क होने पर भी वीतरागत्व आदि जो अपना स्वस्वभाव है, उसका त्याग नहीं करने वाले ऐसे अरहन्त भगवन्तों को नमस्कार हो।[३]

अन्य पाठान्तरका भी सूरिदेव उल्लेख करते हैं-''अरुहंताण'' मित्यपि पाठान्तरम्, तत्र अरोहद्भ्यः अनुपजायमानेभ्यः, क्षीणकर्म्मबीजत्वात्-अथवा 'अरहंताणं' के स्थान पर 'अरुहंताणं' पाठ भी मिलता है। 'जन्म नहीं लेते'- इस पाठ का तात्पर्य है। क्योंकि कर्म रूपी बीज क्षीण हो जाने से भगवान् पुनः जन्म नहीं लेते है।[४]

इस प्रकार उपर्युक्त व्याख्याएँ श्री अभयदेवसूरिजी म. ने मात्र 'अरहंताणं' पद की दो है। जिसमें तीर्थङ्कर व केवली दोनों को अरहंत कहा जा सके, ऐसी समान व्याख्या भी है। पर पाठान्तर में जिन व्याख्याओं को आलेखित किया है, अधिकांश वे ही व्याख्याएँ केवली भगवन्त के साथ विशेष रूप से लागू होती हैं। कर्मरूपी शत्रुओं का नाश, तथा जन्म, जरा मृत्यु के निवारण हो जाने से अपुनरागमन के अतिरिक्त किसी भी रहस्य का गुप्त न होना, सर्व परिग्रह का त्याग, राग का क्षय, आसक्ति न होना, वीतरागता से युक्त होना, इन सभी में समानता होने पर भी अष्ट महाप्रातिहार्य आदि गुणयुक्त होने से तीर्थङ्करत्व ही अर्हत् पद के उपयुक्त है। सामान्य केवली में इन गुणों का कोई स्थान नहीं।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब तीर्थङ्कर को ही अर्हत् पद के लिए उपयुक्त समझा जाये तो सामान्य केवली को पंच-पदों में से किस पद पर आरूढ करके नमस्कार किया जाय? सिद्ध पद तो केवली पर्याय में अर्थात् तेरहवें तथा चौदहवें

१. वही.
२. वही.
३. वही.
४. वहीं.

गुणस्थान के आरोहक्रम में हो नहीं सकता। अतः 'णमो सिद्धाणं' के अन्तर्गत भी नहीं माना जा सकता। आचार्य तथा उपाध्याय पद भी केवली भगवान् के उपयुक्त नहीं है। शेष रहा पंचम पद 'णमो लोए सव्व साहूणं'। इस पद में नमस्कार किया जा सकेगा। क्योंकि अर्हन्त, आचार्य, उपाध्याय भी साधु पद से विहीन नहीं है। अतः सहज ही साधु पद में तो गणना की जा सकती ही है।

इस प्रकार आगमिक उद्धरणों को देखते हुए ज्ञात होता है कि 'अर्हत्' के अधिकारी मात्र तीर्थङ्कर को ही मानना चाहिये, केवली को नहीं। इस के अतिरिक्त संघ रूपी तीर्थ के प्रस्थापक भी अर्हत् ही होते हैं।[१] साधु-साध्वी तथा श्रावक-श्राविका, इन चारों को चतुर्विध संघ कहा जाता है, जिसे अर्हत् तीर्थ रूप में स्वीकार करके स्वयं 'णमो तित्थस्स' कह कर अपनी योजनगामिनी देशना प्रारम्भ करते हैं। इस संघ की स्थापना अपने अपने शासन काल में स्वयं तीर्थङ्कर करते हैं। सामान्य केवली का यह सामर्थ्य नहीं। इन सभी उद्धरणों की देखते हुए यह कहा जा सकता है कि तीर्थङ्कर ही अर्हत् कहे जाने चाहिये सामान्य केवली नहीं।

(5) अर्हत् की अलौकिकता, अनुपमता, अद्भुतता, अद्वितीयता एवं श्रेष्ठता

जैन परम्परा अर्हत् परमेष्ठी तीर्थङ्कर को स्वीकार करती है, अन्य केवली आदि को नहीं। इस प्रकार अर्हत् परमेष्ठी के अन्तर्गत तीर्थङ्कर की ही अलौकिकता आदि का ग्रहण किया जाएगा। जैन परम्परा अर्हत् परमेष्ठी को मानवीय व्यक्तित्व के रूप में अंगीकार करती है। किन्तु ऐसे व्यक्तित्व की विकसित अवस्था अलौकिक, अनुपम, अद्भुत, अद्वितीय व श्रेष्ठतम स्वीकार करती है।

अलौकिकता-अर्हत् परमेष्ठी का जन्म इस लोक में मानव स्थिति को प्राप्त होने पर भी अलौकिकता के साथ उनका जीवन प्रकाशित होता है। यह अलौकिकता हमें जैन परम्परा के प्राचीनतम ग्रन्थ आचाराङ्ग के प्रथम श्रुतस्कंध में प्राप्त होता है। उसमें अर्हत् परमेष्ठी के लिये उल्लेख कि चाहे अतीत में अर्हत् हुए हो या वे वर्तमान में विचरण कर रहे हो अथवा भविष्य काल में होने वाले हो, सभी अर्हत् की प्ररुपणा समान ही होगी। उनके वचन आदेश अलौकिक होंगे। आचाराङ्ग के द्वितीय श्रुतस्कंध में, कल्पसूत्र में, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग तथा परवर्ती साहित्य में अलौकिकता वर्णित की गई है। यथा-अर्हत् परमेष्ठी की माता गर्भावक्रान्ति (च्यवन) के समय स्वप्नों को देखती है।

---

१. विशेषावश्यकभाष्य-७६६, भग. १.१., ११ : ११, १६५, २०८, नाया, १, १६, जम्बू प्र. ५, ११२

अर्हत् परमेष्ठी की माता की योनि अशुभ पदार्थों से रहित होती है। वे स्वयं अशुचि से रहित निर्मल रूप से जन्म लेते हैं तथा उनका जन्मोत्सव देव-देवेन्द्र द्वारा मनाया जाता है। जिस समय अर्हत् परमेष्ठी का जन्म होता है, उस समय परिवेश समग्र लोक में शान्त एवं सुखमय होता है। सुगन्धि वायु बहने लगती है। जन्म के समय समस्त लोक में दिव्य प्रकाश व्याप्त हो जाता है।

जन्म महोत्सव के अतिरिक्त अर्हत् परमेष्ठी का अभिनिष्क्रमण (दीक्षा) महोत्सव, कैवल्य, महोत्सव तथा निर्वाण महोत्सव इन्द्रों एवं देवगणों द्वारा संपादित किये जाते हैं। जिस समय अर्हत् परमेष्ठी दीक्षा ग्रहण करते हैं, उस समय देवगण अपार धनराशि उनके कोषागार में डाल देते हैं। वे प्रतिदिन एक करोड़ बावन लाख स्वर्ण मुद्राओं का दान करते हैं। उनके आहार ग्रहण के समय भी देवगण सार्द्ध बारह करोड सोनैयों की वर्षा करते हैं। सर्वज्ञता की प्राप्ति होने पर रजत स्वर्णरत्नमय समवसरण (धर्मसभा-स्थल) की रचना भी देवगण करते हैं जिस में वे स्वयं तो पूर्वाभिमुख बिराजमान होते हैं, किन्तु अन्य तीन दिशाओं में उनके प्रतिबिम्ब की स्थापना उनके ही प्रभाव से देवगणों द्वारा की जाती है। जिसमें अर्हत् परमेष्ठी लोककल्याण हेतु धर्मदेशना/धर्मोपदेश देते हैं। धर्ममार्ग का प्रवर्त्तन करते हैं।

अनुपमता-

अर्हत् परमेष्ठी का रूप सर्वांग सुन्दर दर्शाया गया है। उनके स्वरूप की उपमा अन्य भौतिक जड़ पदार्थों से कदापि संभव नहीं। उनका शारीरिक एवं आध्यात्मिक स्तर उच्चत्तम होने से, अलौकिक एवं दिव्य होने से अन्य पदार्थ उस कक्षा में आ ही नहीं सकते। यद्यपि उनका अस्तित्व भी जड़ पदार्थों की भांति विनश्वर है तथापि वह अनुपमेय अतुलनीय है।

अद्‌भुतता-

अर्हत् परमेष्ठी का स्वरूप, उनका रूप-लावण्य, दैविक महोत्सव, उनके अष्ट प्रातिहार्य युक्त समवसरण की रचना, यहाँ तक कि जन्म के पूर्व से उनकी हर क्रिया, उनकी स्थिति देवकृत महोत्सव सर्व जगत् को चमत्कृति युक्त प्रतीत होते हैं। फलतः लोक में अद्‌भुतता को प्रकट करते हैं। सर्वज्ञता त्रिकालवर्ती ज्ञान *के कारण ही यथार्थ तत्त्व को प्रकट करती उनकी वाणी संशय को दूर करने से* चमत्कार युक्त प्रतीत होती है। उनके गौतम आदि ग्यारह गणधर शिष्यों ने अपने अन्तर्मन के संशय दूर हो जाने के फलस्वरूप ही उनका शिष्यत्व स्वीकार किया

था। इस प्रकार उनका अनुत्तर ज्ञान-दर्शन जन समूह में अद्‌भुतता को प्रकट करता था। धर्म संघ का प्रवर्त्तन और संघ की स्थापना व गठन अद्‌भुत प्रतीत होता है।

अद्वितीयता-

अर्हत् परमेष्ठी के सदृश अन्य किसी का व्यक्तित्व उस भांति न होने से वे अद्वितीय है। सामान्य केवली भी उनके सदृश केवलज्ञान-केवलदर्शन के धारक होने पर भी अर्हत् परमेष्ठी कल्याणक महोत्सवों, अतिशय, वचनातिशय आदि अनेक अनुष्ठानों में अद्वितीय है। रूप, गुण, सम्पदा, संघीयव्यवस्था, धैर्यता, गंभीर्यता-निर्मलता, तेजस्विता आदि सर्व में इस जगत् में उनका दूसरा कोई सानी नहीं है। एकमात्र अर्हत् परमेष्ठी ही इस अद्वितीयता के स्वामी है। त्रिकालवर्ती, तीनलोक में, सर्वत्र अर्हत् परमेष्ठी के सदृश अन्य कोई नहीं है।

श्रेष्ठता-

उपरोक्त सर्व गुण सम्पन्न होने से अर्हत् परमेष्ठी श्रेष्ठ तत्त्वों में से एक है। उनकी श्रेष्ठता का ज्ञापन करने वाला सूत्र है 'शक्रस्तव।' इस शक्रस्तव (नमुत्थुणं) के द्वारा शक्रेन्द्र अर्हत् परमेष्ठी की स्तुति करते हुए उनकी उच्चतम श्रेष्ठता को सूचित करता है। वे श्रेष्ठ क्यों है? तो उल्लेख है कि वे धर्म की आदि (प्रारम्भ) करते हैं, वे स्वयं ही बोध को प्राप्त हुए हैं, पुरुषों में उत्तम, पुरुषों में सिंह के सदृश, पुंडरीक श्वेत कमल से श्रेष्ठ हस्तियों में गंधहस्ति के समान श्रेष्ठ, लोक में उत्तम, लोक के नाथ, लोक के हितकर, लोक के प्रदीप, लक में प्रद्योतकर, अभयद, चक्षुद, धर्मद, धर्मदेशना देने वाले, धर्म के नायक, धर्म के सारथि, धर्मरूपी चातुरंत सेना के चक्रवर्ति, अप्रतिहत ज्ञान दर्शन के धारक, छद्मस्थावस्था वियुक्त, ऐसे अर्हत् परमेष्ठी स्वयं तिर चुके अन्यों के तारक, स्वयं विजित अन्य को जिताने वाले, स्वयं बुद्ध एवं जगत् को बोधिप्रदाता, स्वयं मुक्त एवं जगत् के मोचक है। सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, शिव-अचल, अरूह, अनंत, अक्षय, अव्याबाध, अपुनरागमन स्थान को प्राप्त है।[१]

इस प्रकार शक्रस्तव सूत्र अर्हत् परमेष्ठी की पुरुष श्रेष्ठता (आत्मा और मनुष्य), लोक एवं धर्म में ज्ञान प्रकाशन में सूर्य की भांति श्रेष्ठता, स्वयं के गुणों को अन्यों में आरोपित करने की क्षमता में श्रेष्ठ औदार्य को प्रदर्शित करता है।

---

१. भगवती सूत्र १.१

(अ) सिद्धापेक्षा प्राथमिकता-

जैन परम्परा में यद्यपि कर्ममुक्तावस्था में सिद्ध परमेष्ठी का स्थान प्रथम आता है। सिद्ध परमेष्ठी के अष्ट कर्मों का क्षय हो चुका है। वे परम शुद्ध, बुद्ध मुक्त, शिवस्थान सिद्धि गति को प्राप्त कर चुके हैं। इसके बावजूद भी अर्हत् परमेष्ठी का स्थान प्रथम मान्य किया गया है। हालांकि जिस समय अर्हत् परमेष्ठी दीक्षा ग्रहण करते हैं, उस समय वे भी सिद्ध को नमस्कार करते हैं। अर्हत् परमेष्ठी से स्तुत्य, परमशुद्धावस्था को प्राप्त सिद्ध परमेष्ठी को प्रथम स्थान प्राप्त होना चाहिये था। जबकि उनका स्थान प्रथम न होकर द्वितीय है। अर्हत् परमेष्ठी के चार घाती कर्म ही क्षय हुए हैं, चार अघाती कर्मों से वे युक्त हैं। इतना होने पर भी अर्हत् को प्रथम स्थान प्राप्त है।

इस प्राथमिकता का कारण यह है कि अर्हत् प्रभु ने ही धर्म का प्रवर्त्तन किया है। संघ की स्थापना करी और लोककल्याण हेतु धर्मोपदेश दिया। अपनी धर्मदेशना के अन्तर्गत ही उन्होंने सिद्ध परमेष्ठी का परिचय दिया। अर्हत् ने ही अज्ञान रूपी अधंकार को ज्ञान रूपी प्रकाश से नष्ट किया। लोक में कहा भी है-

गुरु गोविन्द दोनों खड़े किसके लागूं पाय।
बलिहारी गुरुदेव की, गोविन्द दियो बताय॥

गुरु एवं गोविन्द में प्रथम नमस्कार गुरु को करने को कहा गया है। इसी प्रकार यहां भी अर्हत् परमेष्ठी को इसी अपेक्षा से प्राथमिकता दी गई है। वे ही जगत् के आसन्न उपकारी है। यद्यपि सिद्ध परमात्मा परम विशुद्ध है, किन्तु लोक कल्याण हेतु वे असमर्थ है। ज्ञान का मार्ग निर्देशन करने में अक्षम है। अतः अर्हत् को सिद्धापेक्षा प्राथमिकता दी गई है। यहाँ तक कि नमस्कार महामन्त्र में भी सर्वप्रथम उनको ही नमस्कार किया गया है।

(ब) पंचकल्याणक-

तीर्थङ्कर के ही कल्याणक महोत्सव होते हैं, केवली के नहीं।[१] ये पंच कल्याणक निम्न हैं-

1. च्यवन कल्याणक (गर्भ कल्याणक)-

अर्हत् जब देवविमान से च्यवित होकर माता के गर्भ में अवतरण करते हैं,

---

१. (अ) "पंच महाकल्याण सव्वेसिं जिणाण हवंति नियमेण।" पंचाशक (हरि.) ४२४. (ब) जस्स कम्ममुदएण जीवो पंच महाकल्लाणाणि पाविदूण तित्थ दुवालसंगं कुणदि तं तित्थयर नाम। धवला १३/५,१०१/३६६/७ गोम्मट सार जीवकाण्ड टीका ३८१/६

उसे च्यवन कल्याणक कहा जाता है। इस समय श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार उनकी माता चौदह और दिगम्बर परम्परा के अनुसार वह सोलह स्वप्न देखकर जागृत होती है। एवं इन्द्रादि देवगणों के साथ तथा नरेन्द्र (पिता) आदि उनके गर्भावतरण का महोत्सव मनाते हैं।[1]

2. जन्म कल्याणक-

जैन मान्यतानुसार जब अर्हत् परमेष्ठी का जन्म होता है, तब देवलोक से इन्दादि देवगणों से परिवृत्त होकर जन्म महोत्सव करते हैं। सूतिकर्म आदि दिक्कुमारिकाएँ करती हैं। उसके पश्चात् उनको मेरू पर्वत पर ले जाकर वहाँ उनका जन्माभिषेक किया जाता है। इस जन्म कल्याणक का सविस्तार वर्णन आचारङ्ग सूत्र[2] में एवं जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति[3] में दिया गया है। इसी प्रकार राजप्रश्नीय सूत्र में तो यहाँ तक उल्लेखित है कि सभी प्रकार के देवों की यह आचार परम्परा है कि उनके महोत्सवादि में वे अर्हत/तीर्थङ्कर की पर्युपासना करें।[4] देव-देवेन्द्रादिक के अतिरिक्त इस लोक में जहाँ-जहाँ अर्हत् परमेष्ठी का जब-जब जन्म होता है, तब सुरनरादि उनके परिगण भी जन्मोत्सव खूब उल्लास से करते हैं।

3. दीक्षाकल्याणक-

अर्हत् परमेष्ठी के दीक्षाकाल के एक वर्ष पूर्व ही लोकान्तिक देव उपस्थित होते हैं, और प्रव्रज्या हेतु उनसे प्रार्थना करते हैं। यह भी लोकान्तिक देवों की आचार परम्परा है। अर्हत् परमेष्ठी एक वर्ष तक दान देते हैं, जिसे वर्षीदान कहा जाता है। वे इस वर्षीदान में करोड़ो स्वर्ण मुद्राओं का दान करते हैं। जिस दिन वे दीक्षा ग्रहण करते हैं, तब देव-देवेन्द्रादि आकर उनका अभिनिष्क्रमण महोत्सव करते हैं। वे विशेष पालकी में आरूढ होकर वनखण्ड की ओर जाते हैं, जहाँ अपने वस्त्राभूषण त्याग कर पंचमुष्ठि लोच कर दीक्षित होते हैं। यह नियम है कि तीर्थङ्कर स्वयंबुद्ध हैं, किसी से भी बोधि प्राप्त नहीं करते। तात्पर्य यह है कि उन्हें किसी गुरु के पास ज्ञानार्जन हेतु जाना नहीं पड़ता और न ही गुरु से वैराग्य की प्राप्ति होती हैं। अतः वे स्वयं ही सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार करके व्रत अंगीकार कर दीक्षित होते हैं। वे स्वयं ज्ञानी होते हैं।[5] दीक्षा ग्रहण के पश्चात् उसी समय उनको मनः पर्यव ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।[6]

---

१. कल्पसूत्र १५-७१. २. आचा. २.१५.११, २.१५,२६-२९, कल्प. ९७
३. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति-पंचम, द्वितीय वक्षस्कार ४. राजप्रश्नीयसूत्र-१४-६७
५. कल्पसूत्र ११०-११४, आचा. २.१५,१-६
६. आचारांग-२.१५, जम्बूद्वीप प्र. द्वि.व.पृ. ६५-६९, ज्ञाता-१.८.२०९

कैवल्य कल्याणक-

अर्हत् परमेष्ठी दीक्षित होने के पश्चात् उग्र साधना में तल्लीन हो जाते हैं। परीषहों एवं उपसर्गों को सहन करते हुए निःशेष कर्म राशि को ध्वंस करके केवल ज्ञान प्राप्त करते हैं। केवलज्ञान के उत्पन्न होने के पश्चात् उस समय भी स्वर्ग से देवगण-एवं इन्द्रगण आकर कैवल्य महोत्सव करते हैं। अष्ट प्रातिहार्य युक्त समवसरण (धर्म सभा-स्थल) की रचना करते हैं। रत्नजड़ित इस समवसरण की विशेषता यह है कि इसमें चाहे जितने लोग हो सर्व समा जाते हैं। अर्थात् उसकी विशेषता है कि वह जन समुदाय के अनुसार छोटा या बड़ा हो जाता है। इसमें बारह परिषद् इस प्रकार बैठती है कि कोई किसी के आड़े नहीं आता। सर्व को अर्हत् प्रभु के मुखारविन्द के दर्शन के साथ धर्मश्रवण का लाभ मिलता है।

निर्वाण कल्याणक-

जिस समय अर्हत् परमेष्ठी का निर्वाण होता है (निधन होता है) उस समय उनका परिनिर्वाणोत्सव करने हेतु देव-देवेन्द्र मनुष्यलोक में आते हैं। उस समय उनके देह का अग्नि संस्कार आदि क्रिया कर्म देवेन्द्र मनुष्यों के साथ करते हैं। तथा उनके शेष अस्थि आदि को क्षीर समुद्र में प्रवाहित कर देते हैं।

इस प्रकार अर्हत् परमेष्ठी के पंचकल्याणक होते हैं। इन पांचों कल्याणकों में महोत्सव करने के लिए देव-देवेन्द्र मनुष्यों के साथ उपस्थित होते हैं।

(स) अतिशय-वचनातिशय-

सामान्यतया अतिशय स्वयं ही अपना अर्थ प्रकट करता है। कुमारपालचरित्र में श्रेष्ठता[१], महापुराण में महिमा, प्रभाव[२], सुरसुंदरीचरित्र में बहुल, अत्यन्त[३], उपदेशरत्नाकर में चमत्कार[४], वाचस्पतिकोश में अतिरेक[५], प्रकर्षभाव के अर्थ को प्रगट करता है। अभिधान चिन्तामणि[६], में कथन है-जिसके कारण तीर्थङ्कर जगत् में श्रेष्ठ साबित होते हैं, वह अतिशय है।

---

१. कुमा. च. १,५
२. महापुराण
३. सुरसुन्दरी चरिय
४. उप. रत्ना, १,३
५. वाच. कोश
६. अभि. चिन्तामणि. ५७-५८

सामान्यतया जैनाचार्यों ने चार मूल अतिशयों का उल्लेख किया है[१]-

1. ज्ञानातिशय
2. वचनातिशय
3. अपायापगमातिशय
4. पूजातिशय

1. ज्ञानातिशय-

केवलज्ञान अथवा सर्वज्ञता की उपलब्धि ही ज्ञानातिशय माना गया है। दूसरे शब्दों में अर्हत्/तीर्थङ्कर सर्वज्ञ होते हैं, वे सभी द्रव्यों की भूतकालिक, वर्तमानकालिक तथा भविष्यकालिक सभी पर्यायों के ज्ञाता होते हैं। अर्थात् वे त्रिकालज्ञ होते हैं। इस प्रकार अर्हत् का अनन्तज्ञान युक्त होना ही ज्ञानातिशय है।

2. वचनातिशय-

यथार्थ, अबाधित और अखण्डनीय सिद्धान्त का प्रतिपादन अर्हत्/तीर्थङ्कर का वचनातिशय कहा गया है। इन वचनातिशय के प्रकारान्तर से पैंतीस अतिशय भी उपलक्षण से कहे गये हैं।

3. अपायापगमातिशय-

समस्त मल एवं दोषों से रहित होना अपायापगमातिशय है। अर्हत् परमेष्ठी अट्ठारह दोषों से रहित होते हैं।

4. पूजातिशय-

देव, असुर, तिर्यञ्ज्ञ, मनुष्यों द्वारा पूजित होना अर्हत् परमेष्ठी का पूजातिशय है। जैन परम्परा अर्हत् को देव-देवेन्द्रों से भी पूजनीय मान्य करती है।

इस प्रकार मूल में चार अतिशय है। अन्य जो 34 अतिशय समवायाङ्ग सूत्र में वर्णित है,[२] उन उत्तर भेदों को जैनाचार्यों ने तीन विभागों में विभक्त किया है-

क. सहज अतिशय
ख. कर्मक्षयज अतिशय
ग. देवकृत अतिशय

श्वेताम्बर परंपरा 1. सहज अतिशय चार, 2. कर्मक्षयज अतिशय ग्यारह तथा

---

१. अनन्तविज्ञानमतीतदोषमबाध्यसिद्धान्तममर्त्यपूज्यम्-अन्ययोगव्यवछेदिका। (हेमचन्द्र)
२. समवाय. ३४

3. देवकृत अतिशय उन्नीस स्वीकार करती है। जब कि दिगम्बर परंपरा इन्हें भिन्न रूपेण मान्य करती है-

अ. जन्म के अतिशय

ब. केवलज्ञान के अतिशय

स. देवकृत अतिशय

इन अतिशयों की संख्या में भी भिन्नता है। दिगम्बर परम्परा में 1. जन्म के अतिशय दस, 2. केवलज्ञान के अतिशय, ग्यारह तथा देवकृत अतिशय तेरह मान्य करते हैं।[१]

अब हम दोनों के स्वरुप को देखें-

(क) सहज अतिशय-

1. सुन्दर रुप, सुगन्धित, निरोग, पसीना एवं मलरहित शरीर।
2. कमल के समान सुगन्धित श्वासोच्छवास।
3. गौ दुग्ध के सदृश स्वच्छ, दुर्गन्ध रहित माँस और रूधिर।
4. चर्मचक्षुओं से आहार और नीहार का न दिखना।

(ख) कर्मक्षयज अतिशय-

1. योजनमात्र समवसरण में कोडाक्रोडी देव, मनुष्य और तिर्यञ्चों का समा जाना।

2. एक योजन तक फैलने वाली भगवन् की अर्धमागधी भाषा युक्त वाणी को मनुष्य, तिर्यञ्च और देवताओं द्वारा अपनी भाषा में समझ लेना।

3. सूर्य प्रभा से भी तेजस्वी प्रभामंडल का सिर के पीछे होना।

4. सौ योजन तक रोग न होना।

5. वैर का न रहना।

6. ईति अर्थात् धान्य आदि को नाश करने वाले चूहों आदि का अभाव।

7. महामारी आदि का न होना।

8. अतिवृष्टि न होना।

9. अनावृष्टि न होना।

---

१. तिलोयपण्णति ८९६-९१४, जंबूद्वीवपण्णत्तिसंगहो १३/९३-११४.२ दर्शन पाहुड टी. ३५.२८

10. दुर्भिक्ष न पड़ना।

11. स्वचक्र और परचक्र का भय होना।

(ग) देवकृत अतिशय-

1. आकाश में धर्मचक्र का होना।

2. आकाश में चंवरों का होना।

3. आकाश में पादपीठ सहित उज्ज्वल सिंहासन।

4. आकाश में तीन छत्र।

5. आकाश में रत्नमय धर्मध्वज।

6. स्वर्ण कमलों पर चलना।

7. समवसरण में रत्न, सुवर्ण और चांदी के तीन परकोटे।

8. चतुर्मुख उपदेश

9. चैत्यवृक्ष

10. कण्टकों का अधोमुख होना।

11. वृक्षों का झुकना।

12. दुन्दुभि बजना।

13. अनुकूल वायु।

14. गन्धोदक की वृष्टि।

15. पक्षियों का प्रदक्षिणा देना।

16. पाँच वर्णों के पुष्पों की वृष्टि।

17. नख और केशों का न बढ़ना।

18. कम से कम एक कोटि देवों का पास में होना।

19. ऋतुओं का अनुकूल होना।[१]

दिगम्बर परम्परा के ग्रंथों में दोनों की संख्या में भी भिन्नता है।[२]

---

१. 1. समयाव ३४

२. नियमासार ७१, तत्त्वानुशासन १२३-१२८, क्रिया कलाप ३-१/१

वचनातिशय-

जैनागमों में पैतीस वचनातिशयों के उल्लेख मिलते हैं।[1] संस्कृत टीकाकारों ने प्रकारान्तर से ग्रन्थों में प्रतिपादित वचन के पैंतीस गुणों का उल्लेख किया है। समवाय अंग में इसका उल्लेख किया जा चुका है।

अतिशय अनन्त भी कहे जा सकते हैं-

जिस प्रकार निशीथ चूर्णि नामक ग्रन्थ में अर्हत् भगवन् के १००८ बाह्य लक्षणों को उपलक्षण मानकर सत्त्वादि अन्तरङ्ग लक्षणों को अनंत कहा गया है, उसी प्रकार उपलक्षण से अतिशयों को परिमित मानकर भी उनको अनन्त कहा जा सकता है। इसमें कोई शास्त्र विरोध नहीं है। ऐसा स्याद्वाद मंजरी नामक ग्रन्थ में स्पष्ट उल्लेख किया गया है।[2]

(द) निर्दोष व्यक्तित्व-

जैन परम्परा अर्हत् परमेष्ठी को अट्ठारह दूषणों से रहित मान्य करती है। ये दोष निम्न हैं-1. दानान्तराय, 2. लाभान्तराय, 3. वीर्यान्तराय, 4. भोगान्तराय,5. उपभोगान्तराय, 6. मिथ्यात्व, 7. अज्ञान, 8. अविरति, 9. कामेच्छा, 10. हास्य, 11. रति, 12. अरति, 13. शोक, 14. भय, 15. जुगुप्सा, 16. राग, 17. द्वेष, 18. निद्रा।[3]

श्वेताम्बर परम्परा में प्रकारान्तर से उन्हें निम्न 18 दोषों से रहित भी कहा है-

1. हिंसा, 2. मृषावाद, 3. चोरी, 4. कामक्रीड़ा, 5. हास्य, 6. रति, 7. अरति, 8. शोक, 9. भय, 10. क्रोध, 11. मान, 12. माया, 13. लोभ, 14. मद, 15. मत्सर, 16. अज्ञान, 17. निद्रा, 18. प्रेम।

श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं में अर्हत् को जिन दोषों से रहित माना गया है, उसमें मूलभूत अन्तर यह है कि दिगम्बर परंपरा अर्हत् के कवलाहार (भोजनग्रहण) का निषेध करती है, वहाँ श्वेताम्बर परम्परा नहीं। इसीलिए वहाँ क्षुधा और तृषा का अभाव स्वीकार किया गया, श्वेताम्बर परम्परा में नहीं है।

अर्हत् पद की योग्यता में हेतु

अर्हत् पद प्राप्ति के लिए जीव को वर्तमान जन्म से पूर्व के तृतीय भव (जन्म) में विशिष्ट साधना करनी पड़ती है। जैनागमों में अर्हत् पद प्राप्ति के लिए

---

१. पणतीसं सच्चवयणाइसेसां पण्णता-समवाय ३५

२. स्याद्वाद मंजरी १/८/४

३. राजेन्द्रअभिधान कोश पृ. २२४८

इस योग्यता के लिए विशिष्ट साधनाओं को मान्य किया है, परन्तु इनकी संख्या में कुछ मतभेद है। श्वेताम्बर परम्परा में मान्य आगमों में यह संख्या 20 उल्लिखत है, तो तत्त्वार्थ सूत्र में 16। इस तत्त्वार्थ के आधार पर दिगम्बर परंपरा भी अर्हत्/तीर्थङ्कर नामकर्म उर्पाजन हेतु 16 पद की साधनाओं को मान्य करती है।

श्वेताम्बर परम्परा में मान्य **बीस स्थानक पद** निम्न है-

1. अर्हत् 2. सिद्ध 3. प्रवचन 4. गुरु 5. स्थविर 6. बहुश्रुत 7. तपस्वी 8. ज्ञान 9. दर्शन 10. विनय 11. आवश्यक 12. निरतिचार 13. क्षणलव 14.तप 15. त्याग 16. वैयावृत्य 17. समाधि 18 ज्ञानवृद्धि 19. श्रुतभक्ति 20. प्रवचन प्रभावना।

आवश्यक निर्युक्ति-चूर्णि[१] (आव. नि. पृ. १३४-१३५), ज्ञाताधर्मकथाङ्ग[२] (ज्ञाताधर्म. 1.8.18), प्रवचन सारोद्धार[३] (प्रव. सारो, 882-903), त्रिषष्ठी शलाका पुरुष[४] (10.1.229) में इन्हीं बीस स्थानकों का उल्लेख किया गया है। जो भी अर्हत्/तीर्थङ्कर होंगे, उनके लिए आवश्यक है, तीर्थङ्कर नामकर्म का तृतीय भव में उपार्जन करना। श्वेताम्बर व दिगम्बर दोनों ही परंपरा में इस तथ्य को तो मान्य किया ही है। किन्तु इन संख्याओं में मतभेद हैं।

तत्त्वार्थ सूत्रकार ने इन पदोंका समावेश 16 पदों में ही कर दिया है। बंधहेतु के 16 पद निम्न हैं-

1. दर्शन विशुद्धि-वीतराग कथित तत्त्वों में निर्मल और दृढ़ रुचि।

2. विनय सम्पन्नता-मोक्षमार्ग और उसके साधनों के प्रति समुचित आदरभाव।

3. शीलव्रतानतिचार-अहिंसा, सत्यादि मूलव्रत तथा उनके पालन में उपयोगी अभिग्रह आदि दूसरे नियम या शील के पालन में प्रमाद न करना।

4. अभीष्ठा ज्ञानोपयोग-तत्त्व विषयक ज्ञान प्राप्ति में सदैव प्रयत्नशील रहना।

5. अभीक्ष्य संवेग-सांसारिक भोगों से जो वास्तव में सुख के स्थान पर दुःख के ही साधन बनते हैं, डरते रहना।

6. यथाशक्ति त्याग-अपनी अल्पतम शक्ति को भी बिना छिपाए आहार दान, अभयदान, ज्ञानदान आदि विवेकपूर्वक करते रहना।

---

१. आव. नि. पृ. १३४-१३५

२. ज्ञाताधर्म १.८.१८

3. प्रव. सारो ८८२-९०३

४. त्रिषष्ठी श. १०.१.२२९

7. यथाशक्ति तप-शक्ति छिपाए बिना विवेकपूर्वक हर तरह की सहनशीलता का अभ्यास।

8. संघ साधु समाधिकरण-चतुर्विध संघ और विशेषकर साधुओं को समाधि पहुँचाना अर्थात् ऐसी क्रिया जिससे वे स्वस्थ रहें।

9. वैयावृत्त्यकरण-कोई भी गुणी यदि कठिनाई में पड़ जाय तो उस समय योग्य ढंग से उसकी कठिनाई दूर करने का प्रयास करना।

10-13. चतु:भक्ति-अर्हत्, आचार्य, बहुश्रुत और शास्त्र-इन चारों में शुद्ध निष्ठापूर्वक अनुराग रखना।

14. आवश्यक परिहाणि-सामायिक आदि षड् आवश्यकों को, अनुष्ठान को भाव से न छोड़ना।

15. मोक्षमार्ग प्रभावना-अभिमान तजकर ज्ञानादि मोक्षमार्ग को जीवन में उतारना तथा दूसरों को उपदेश देकर प्रभाव बढ़ाना।

16. प्रवचन वात्सल्य-जैसे गाय बछड़े पर स्नेह रखती हैं, वैसे ही जगत् के सब प्राणियों पर निष्काम स्नेह रखना।[१]

इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र में ये 16 बंध-हेतु अर्हत् पद प्राप्ति में आवश्यक कहे हैं। यदि हम दोनों बंधहेतुओं को तुलनात्मक दृष्टिकोण से देखें तो कुछ सामान्य ही अन्तर दिखाई पड़ता है। चतु:भक्ति में वहाँ 7 पद भक्ति के लिए प्रयुक्त किये गये। इस प्रकार तीन पद ये विशेष हैं। इन दोनों ही हेतुओं में कुछ साम्यता के लिए हुए हैं तो कुछ नाम से वैषम्य। अर्थत: दोनों में कहीं न कही साम्यता दृष्टिगोचर हो ही जाती है। पर इतना तो अवश्य कहा ही जा सकता है कि इस पद की प्राप्ति के लिए विशिष्ट आराधना-साधना आवश्यक है। अपने आत्मोत्थान के लिए धर्म से अभिप्रेत अन्य अनुष्ठानादि अवश्य करणीय है। यहाँ दृष्टि आत्म सापेक्ष ही नहीं, वरन् परोपकार, पर सेवा, सापेक्ष है। परहितसापेक्ष आनंद ही आत्म-आराधना में विशेष बल देता है। कर्म क्षय में सहायक होता है। आत्मा जब परात्मलक्षी होता है, तभी स्वकार्य सिद्धि में अग्रसर हो पाता है। स्वार्थयुक्त दृष्टि संकीर्णता की द्योतक है तो परमार्थता परमपद प्राप्ति में हेतु बनते हैं।

यह परमार्थ दृष्टि प्राणी मात्र को अपने संकुल में ले लेती है। तभी भावना उल्लसित होती है-

'सवि जीव करूं शासन रसी'

---

१. तत्त्वार्थसूत्र ६.२३ विवे. पं. सुखलालजी

प्राणीमात्र को धर्म मार्ग में, मोक्ष मार्ग में अग्रसर कर दूं। सर्व जीव कर्म बन्धनों से, दुःख से, पीड़ा से मुक्त हो और शाश्वत सुख को प्राप्त करें। इन पदों की आराधना में अर्हत् की आत्मा इतना तल्लीन हो जाती है कि परहित में ही स्वहित अनुस्यूत होने लगता है।

जगत् की सर्व आत्मा में आत्मदर्शित्व भाव समाविष्ट हो जाता है। यह आत्मसमदर्शित्वभाव ही परमात्मसमदर्शित्व भाव को पुष्ट करता है। आत्मसमदर्शित्व भाव-परमात्मसमदर्शित्व भाव आत्मसात् तभी हो सकते हैं जब सर्व जीवों के प्रति वातसल्यभाव हो। सर्व जीवों के हित की चिंता हो, आत्मौपम्य दृष्टि हो। यह आत्मसमदर्शित्व भाव तब तक प्रगट नहीं होता, जब तक जीवमात्र के प्रति शुभ की कामना, हित की भावना, मंगल कल्याण की कामना जागृत न हो। इस प्रकार सकल जीवराशि के जीवों को परममित्र स्वरूप मानकर उनके सब दुःखों का नाश हो, वे परम सुखके भोक्ता बने इत्यादि भावना के द्वारा 'सवि जीव करुं शासन रसी-ऐसी भावदया मन उल्लसी' यह भावना भावित करके अर्हत्/तीर्थङ्कर नामकर्म पद का उपार्जन करते हैं। क्योंकि अर्हत् की आत्मा में सर्व जीवों के प्रति हित का भाव परम पराकाष्ठा पर स्थिर हुआ है। इसी कारण अर्हत् को सार्व कहा जाता है। यह हिताशय भाव समत्व की प्राप्ति के लिए सर्वजीव हिताशय है। सच्चिदानन्द प्राप्ति हेतु सर्वजीवहिताशय है। स्व पर भेद नाशक हिताशय भाव है। वैषम्य नाशक सर्वजीव हिताशय है। कषाय मोचक, *अध्यवसाय (परिणाम-विचार) विशोधक है, शान्तिप्रदायक है। स्वार्थनाशक तथा* तिरस्कारभाव नाशक होकर, समता स्वरूप, विश्ववात्सल्यभाव होने से सर्व जीव विषयक स्नेह परिणाम, मैत्री को पुष्ट करता है। यह स्नेह परिणाम ही लोकोत्तर दया को प्रगट करता है। जीवमात्र के प्रति करुणा का प्रागट्य ही हित के लिए कल्याण के लिए प्रेरित करता है। सब जीवों के प्रति उनकी दृष्टि परमात्म स्वरूप होने से मंगलकारी अर्हत् पद प्राप्ति स्वरूप तीर्थङ्कर नामकर्म का बंध होता है। इस प्रकार ये पद अर्हत् पद की योग्यता में सहायक होते हैं।

(6) लोकमंगल की उदात्त भावना-

जैसा कि गत पृष्टों में हमने देखा कि अर्हत् परमेष्ठी के अणु अणु में प्राणी-मात्र के प्रति भाव दया के परिणाम उल्लसित होते हैं। वे परिणाम उनके लोक कल्याण की भावना के परिचायक है। दुःख से संतप्त इस संस्कार को कैसे उबारा

जाय? इस करुणा से अभिभूत उन अर्हत् परमात्मा ने उपदेश के माध्यम से परिवर्तन किया। उनका स्वयं का ही ऐसा अतिशय था कि उनके स्नेहिल सामीप्य में प्राणी-मात्र निवैर हो जाते थे। यह रूपान्तरण उनकी लोक मंगल की उदात्त भावना को द्योतिक करता है।

मनोभावना द्वारा व्यक्तित्व रूपान्तरण-

आज तक मनुष्य की जो प्रतिमा बनी है, मनुष्य और पशु के बीच जो भेद रेखा खींची गई है, उसमें महत्त्वपूर्ण धारणा है-हृदय का परिवर्तन। मनोविज्ञान की यह मान्यता है कि अन्य कोई भी प्राणी हृदय परिवर्तन करना नहीं जानता। बड़े से बड़ा अक्लमंद पशु भी हृदय परिवर्तन करना नहीं जानता। मात्र मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो हृदय परिवर्तन करना जानता है। उसने हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त की स्थापना की है और उसका प्रयोग भी किया है।

मनुष्य ने अपनी मौलिक मनोवृत्तियों का परिष्कार किया है। मनोविज्ञान के सदंर्भ में हृदय परिवर्तन का अर्थ हो सकता है-मौलिक मनोवृत्तियों का परिष्कार। जो मौलिक मनोवृत्तियों का परिष्कार है, वह चेतना का परिवर्तन है, हृदय का परिवर्तन है। दिशा बदल जाना, साधारण बात नहीं। आदमी एक दिशा में चलता है तो एक ही प्रकार का आचरण और व्यवहार होता है। जब दिशा बदली है, तब सारी स्थितियाँ बदल जाती है, आचरण और व्यवहार बदल जाता है। मनुष्य एक ऐसा प्राणी है, जिसने दृष्टि को बदला है, मौलिक वृत्तियों का परिष्कार किया है, हृदय का परिवर्तन किया है, मन का परिवर्तन किया है, चेतना का रूपान्तरण किया है। इन सारे संदर्भों से कहा जा सकता है कि मनुष्य की सबसे बड़ी उपलब्धि है हृदय का परिवर्तन।

1. हृदय परिवर्तन का पहला सूत्र है-आत्मानुशासन। जब तक आत्मानुशासन का विकास नहीं होता, तब तक नहीं माना जा सकता कि हृदय परिवर्तन घटित हुआ है। वास्तव में हृदय परिवर्तन एक अर्मूत क्रिया है हमारी चेतना की। उसे देखा तो नहीं जा सकता, किन्तु आत्मानुशासन के विकास को देखकर मान सकते हैं कि इस व्यक्ति का हृदय परिवर्तन हो गया है। आत्मानुशासन का विकास समाज और सामाजिक मूल्यों की प्रतिष्ठा एक महत्त्वपूर्ण अवदान है। आत्मानुशासन के बिना अहिंसा की कल्पना नहीं की जा सकती। अहिंसा का पूरा विकास आत्मानुशासन के आधार पर हुआ है।

2. हृदय परिवर्तन का दूसरा सूत्र है-अभय का विकास। अभय के बिना अहिंसा की कल्पना नहीं जा सकती। भय एक मौलिक मनोवृत्ति है। डर समूचे जीवन में व्याप्त है। आदमी को अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों का भय सताता रहता है। स्मृति, चिन्तन और कल्पना करके वह डरता है। डर मनुष्य के जीवन में क्षण-क्षण में साथ चलता है, किन्तु मनुष्य ने विकास किया अभय का। उसने इस दिशा में इतना विकास किया कि न उसे काल का भय रहता है, न देश का भय रहा और न मृत्यु का भय रहा।

साधना करते-करते इतना विकास हो जाता है कि भय शब्द समाप्त हो जाता है। आदमी ने उन सांपों के साथ, हिंस्र पशुओं के साथ भी मैत्री स्थापित की जो आदमी को मारकर खा जाते थे। जिनका नाम सुनते ही आदमी कांप उठता था। इस प्रकार मैत्री का विकास किया, अभय का विकास किया। जैसे-जैसे जीवन में अहिंसा, अभय और मैत्री का विकास होता है, सभी प्राणी मित्र बन जाते हैं।

मनुष्य ने अपनी साधना और अभय की वृत्ति के द्वारा ऐसी तरंगों को निर्मित किया है, तरंगों को फैलाया है कि उनकी सन्निधि में भूखे पशु भी आक्रमण नहीं करते और भयाक्रान्त पशु भी आक्रामक नहीं होते। वे स्वयं अभय बनकर पास में आकर बैठ जाते हैं। जब ध्यान की रश्मियाँ, राग-द्वेष मुक्त चेतना की रश्मियाँ विकीर्ण होती है, तब सामने वाले व्यक्ति का भय समाप्त हो जाता है। हमने अनेक चित्रों में शेर और बकरी को एक घाट पर साथ-साथ पानी पीते देखा है। यह अभय का प्रतीक है। यह प्रतीक है निर्मल चित्तधारा का। जब चित्त की धारा निर्मल होती है, वीतरागता का विकास होता है, तब ऐसी घटनाएं स्वाभाविक बन जाती है।

3. हृदय परिवर्तन का तीसरा सूत्र है-सहिष्णुता का विकास। सहिष्णुता का फलित है-शान्ति। यदि सहिष्णुता नहीं तो शांति हो ही नहीं सकती। सहिष्णुता का अर्थ है-एक-दूसरे का सहन करना। भिन्न विचार, भिन्न आचार, भिन्न संस्कार, भिन्न रुचि, सब का कुछ भिन्न है। इतनी भिन्नता होने पर भी शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व हो जाना। कहीं कोई कठिनाई नहीं होना। सर्दी-गर्मी, अधंकार और प्रकाश, आग-पानी सब एक साथ रह सकते हैं। विरोधी तत्त्वों का सह-अवस्थान हो सकता है। अनेकान्त सिद्धान्त की सबसे बड़ी फलश्रुति है-विरोधी युगलों का एक साथ रहना। यही अनेकान्त की मूल आधारभूमि है। जब सहिष्णुता

का विकास होता है, तब कलह, कदाग्रह समाप्त हो जाता है। तब यह सोचने का अवसर मिलता है, मैं उसे समझूं, वह मुझे समझे। मैं उसका सहन करुं, वह मेरा सहन करे। जब एक-दूसरे को सहने की भावना का विकास होता है, तब शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व फलित होता है और इस प्रकार सहिष्णुता के विकास द्वारा शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व का विकास हुआ।

4. हृदय परिवर्तन का चौथा सूत्र है-करुणा का विकास-

मनुष्य के हृदय में करुणा-दया-अनुकम्पा होती है। पशु समाज में क्वचित् करुणा का उदाहरण मिल भी जाता है, परन्तु सभी पशुओं में करुणा का विकास नहीं देखा जाता। मनुष्य की यह विशेषता है कि उसने करुणा का विकास किया है। करुणा की प्रतिष्ठा कर उसको महान् मूल्य दिया है।

हृदय परिवर्तन होना यह महान् उपलब्धि है, मनुष्य की। अर्हत् परमेष्ठी का यह अतिशय है कि उनकी सन्निधि में मनुष्य ही नहीं प्राणी मात्र निवैर हो जाता है। यह उनकी लोकमंगल की उदात्त भावना का ही सुफल है। उनके समवसरण (धर्मसभा स्थल) में प्राणी मात्र को स्थान प्राप्त था। सभी उस समवसरण में धर्म श्रवण करने के अधिकारी थे।

इस प्रकार हृदय परिवर्तन के सूत्रों से हमने देखा कि जब वीतरागता चरम सीमा पर पहुँच जाती है, तब व्यक्तित्व रूपान्तरण स्वयमेव ही हो जाया करता है। इतिहास इसका साक्षी है। अर्हत् परमेष्ठी के सन्निकट पहुंचे प्राणीमात्र में रूपान्तरण हुए बिना नहीं रहता। यहाँ तक कि अनिच्छा से भी यदि उनका धर्मोपदेश श्रवण करना पड़ा हो तो भी वह उसके आत्म-विकास हेतु परिवर्तन की दिशा में अत्यन्त सहायक सिद्ध हुआ है। फलतः आचार, विचार, व्यवहार सभी पहलुओं में रुपान्तरण की झलक दिखाई देती है।

परिवर्तन के साथ सर्वप्रथम आवश्यक है कि चित्तवृत्तियों में परिवर्तन हो। जब तक मन के परिणाम/अध्यवसायों में परिवर्तन नहीं आएगा, तब तक व्यवहार पक्ष भी समुज्ज्वल नहीं बन सकेगा। एतदर्थ अर्हत् परमेष्ठी के समवसरण में सर्व प्राणियों के वैर-भाव का शमन हो जाना, यह उनके अप्रतिम माहात्म्य को इंगित करता है। उनकी वाणी-उपदेश-आगम तो दूर की बात उनका सहवास, उनकी स्थिति एवं उनका अस्तित्व ही रुपान्तरण के लिए एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। क्रोध, मान, माया, लोभ, मद, मत्सरता, अभिमान आदि दोषों का अपगम होकर सुख-शांति समाधि आदि गुणों की प्रतिष्ठापना हो जाती है।

मनोविज्ञान मात्र मनुष्य के मन-हृदय के परिवर्तन को स्वीकार करता है, जबकि अर्हत् प्रभु का अतिशय बहुल व्यक्तित्व प्राणी मात्र में वैचारिक शुद्धता का द्वारोद्घाटन करती है। अर्हत् महावीर परमेष्ठी द्वारा भंयकर विषधर चंडकौशिक को बोध, अर्हत् मुनिसुव्रत द्वारा अश्वावबोध आदि अनके ऐतिहासिक संदर्भों से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। अनेक ऐसे भी प्रमाण उपलब्ध होते हैं, जिनमें मात्र परमेष्ठी पदों का नाम स्मरण ही इतना प्रभावक है, तो उनका दर्शन, उनका उपदेश का प्रभावोत्पादक होना अतिशयोक्ति नहीं।

इस प्रकार अर्हत् परमेष्ठी की लोक मंगल की उदात्त भावना मन-हृदय तथा व्यक्तित्व रूपान्तरण में आमूल-चूल परिवर्तन लाकर साधना मार्ग में, सत्य पथ पर आरूढ़ करती है। कल्याण कामना को प्रस्फुटित करती हुई अन्तरभावना आसुरी वृत्तियों के नाश में सहायक सिद्ध होकर अमृतत्व का संचार करती है। कषाय-विषय विकारों से उत्पीड़ित जन मानस, राग द्वेष का नाश होने से धर्माचरण में प्रेरित होता है। स्वहित और परहित में तत्पर हो जाता है। इस प्रकार अर्हत् परमेष्ठी सद्प्रवृत्तियों में प्रेरित और दुष्प्रवृत्तियों से निवृत्ति दिलाकर सुख और शान्ति का साम्राज्य स्थापित करते हैं।

(2) धर्मसंस्थापना-

'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्' द्वारा धर्म की स्थापना न करके उसके स्थान पर अहिंसादि पंचमहाव्रतों के पालन द्वारा हिंसादि दुष्टता का नाश तथा लोक कल्याण एवं विश्वमैत्री के लिए धर्मसंस्थापना-

जब भी किसी धर्म प्रवर्तक के द्वारा धर्मसंघ की स्थापना होती है, वह निश्चित प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर होती है। हिन्दु परम्परा में अवतार का अवतरण निश्चित प्रयोजन को लेकर होता है तो बौद्ध एवं जैन परम्परा में अर्हत् भी निश्चित उद्देश्य को लेकर ही इस धरा पर अवतीर्ण होते हैं। इतना अवश्य है कि अवतार का अवतरण पुनः पुनः होता रहता है, वे देव तत्त्व से मनुष्य या पशु के रूप में अवतीर्ण होते हैं, किन्तु अर्हत् उसी भव में मुक्त हो जाते हैं एवं अर्हत् मनुष्य देह में ही हो सकते हैं, अन्य देह में नहीं। उनका पुरागमन नहीं होता।

धर्म संस्थापना भी निश्चित प्रयोजन को लेकर ही होती है, इसी हेतु के लिए अवतार इस धरा पर आते हैं, हिन्दु परम्परा में अवतार जगत् की रक्षा के लिए पुनः पुनः पृथ्वी पर प्रगट होते हैं। जब-जब आसुरी तत्त्वों का आधिक्य हो जाता है,

एवं धर्मतत्त्वों का ह्रास होने लगता है, तब धर्म की रक्षा हेतु अवतार जन्म धारण करते हैं। उनका प्रयोजन दुष्टों का नाश एवं सज्जनों का त्राण है। इसी आधार पर वे धर्म की स्थापना करते हैं।

अर्हत् परमेष्ठी भी धर्म संघ की स्थापना तो करते हैं, किन्तु उनकी स्थापना प्रयोजन भिन्नता को लिए हुए हैं। वे लोक कल्याण एवं विश्वमैत्री के लिए धर्म की स्थापना करते हैं। जिसका माध्यम हिंसा के स्थान पर अहिंसा का प्रतिष्ठान है। वे जन-जन के हृदय में, अहिंसा की प्रतिष्ठा करके, विश्वमैत्री का प्रागट्य मनोमस्तिष्क में करते हैं। उनका उद्देश्य आसुरी तत्त्वों का नाश तो है, पर वह कर्त्तव्यनिष्ठ नाश न होकर व्यक्तित्व परक असुरता का नाश है। तात्पर्य यह है कि जन-जन के हृदयगत आसुरी विचारों का परिवर्तन कर देना। वह परिवर्तन अहिंसादि पंचमहाव्रतों के पालन द्वारा लोक कल्याण एवं विश्वमैत्री को स्थापित करने के लिए है।

हिन्दु परम्परा में धर्म संस्थापना के लिए अवतारी पुरुषों का पृथ्वी पर आने का उल्लेख हमें अपने प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। ऋग्वेद में 'भू' शब्द से विष्णु का तीन पादों के क्रम का उल्लेख है, जिसके कारण उनको त्रिविक्रम कहा गया है।[1] वहीं कुछ मन्त्रों में विष्णु को जगत् का रक्षक एवं समस्त धर्मों का धारक कहा गया है।[2] महाकाव्य काल में वाल्मिकी जी ने भी विष्णु के अवतरण का मुख्य प्रयोजन देव शत्रु का वध करना कहा है।[3] किन्तु मानस में गोस्वामीजी ने अवतार राम का मुख्य प्रयोजन विप्र, धेनु, सुर, सन्त आदि सभी के निमित्त असुरों का वध करना कहा है।[4] महाभारत में विष्णु को कृष्ण के रूप में अवतार लेकर रणभूमि में दानवों और दैत्यों का संहार करते हुए प्रस्तुत किया।[5] यहाँ स्पष्ट रूप से कहा गया है कि आपने सहस्त्रों बार अवतार धारण करके अधर्म में रुचि रखने वाले असुरों का वध किया है।[6] धर्म की रक्षा एवं स्थापना के लिए ईश्वर विविध योनियों में अवतार ग्रहण करते हैं, यह मान्यता है।[7]

---

१. ऋग्वेद १.२२.१६
२. वही १.२२.१८
३. वाल्मिकी रामायाण-१.१५.२५.
४. रामचरितमानस
५. महाभारत आश्वमेधिक पर्व-५४.१३.१६
६. वही वनपर्व १२.१८-१९,२८
७. वही ८४.१६

इसी तथ्य की पुष्टि गीता में भी की गई है। धर्म के पतन का कारण असुरों का उत्थान कहा गया है। धर्मोत्थान के लिए अवतार आवश्यक है। साधुओं के परित्राण, दुष्टों के विनाश और धर्म की स्थापना को युग-युग में आवश्यक मान्य किया है।[१] विष्णुपुराण ने भी ऐसा ही उल्लेख प्राप्त होता है।[२]

इस प्रकार वैदिक महाकाव्य, महाभारत, गीता एवं विष्णु पुराण में प्राप्त उल्लेखों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि धर्म स्थापना के लिए जब-जब पृथ्वी पर अधर्म का आधिपत्य बढ़ता है, साधुवर्ग पीड़ित होता है, दुर्जन बलवान होते हैं, तब दुष्टों का संहार करके आसुरी शक्तियों का विनाश करने के लिए अवतार प्रतिपल जागृत रहते हैं एवं अन्य को एक क्षण मात्र भी इसमें प्रमाद न करने का उपदेश देते हैं।

जबकि जैन परम्परा में धर्म संस्थापना का हेतु इससे पूर्णतया विपरीत है। क्योंकि अहिंसा ही जिनके मूल में रही है, वहाँ प्राणि-वध को तो अवकाश ही नहीं है। अहिंसादि के पालन द्वारा जीव-रक्षा का उद्‌बोध आगम शास्त्रों में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। जीव-दया की प्रतिपालना हेतु संयम पथ पर आरूढ़ होकर स्वयं अर्हत् प्रभु उद्‌बोध देते हैं। वे स्वयं इस प्रतिपालना के लिए प्रतिपल जागृत रहते हैं एवं अन्य को एक क्षण मात्र भी इसमें प्रमाद न करने का उपदेश देते हैं।

आचारङ्ग आदि सूत्रों में स्पष्टतया हिंसादि का त्याग एवं अहिंसादि महाव्रतों की परिपालन का उल्लेख हमने पूर्व में कर दिया है। स्वयं तो हिंसा न करें, किन्तु अन्यों से हिंसादि न करवाये। यहाँ तक कि जो हिंसादि करता है उसकी अनुमोदना/प्रशंसा भी न करें। इस प्रकार अत्यन्त सूक्ष्मता से महाव्रतों की परिपालना का उल्लेख किया गया है। जिसके माध्यम से आसुरी प्रवृत्तियों का ही नाश हो जाता है। सुख और शांति जन-जन में व्याप्त हो जाती है। फलतः लोक कल्याण की मंगल कामना का संचार होता है। स्वार्थ का स्थान जब परमार्थ ग्रहण कर लेता है। तब विश्व मैत्री को वीणा बजने लगती है। लोक में सुख और चैन की वंशी बजने से संघर्ष, पीड़ा, क्रान्ति का नामो निशान नहीं रहता। युद्ध और संग्राम का वातावरण अभय के नाद गुंजारव से समाप्त हो जाता है। इस प्रकार जहाँ ब्राह्मण ग्रंथों में धर्म की स्थापना के लिए अवतार का अवतरण दुष्टों का नाश एवं सज्जनों

---

१. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहं॥ परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥ गीता. ४.७-८

२. विष्णुपुराण ५.१.५०

का त्राण हेतु पुरस्सर होता है, वहाँ अर्हत् परमेष्ठी द्वारा धर्म संघ की प्रतिष्ठापना लोककल्याण एवं विश्वमैत्री की भावना से ओतप्रोत होकर की जाती है।

(3) ''भूभारहरण'' नहीं अपितु आत्म स्वराज्य हेतु 'मुक्तिवरण'-

दुष्टों का संहार एवं साधुओं का संरक्षण, इस हेतु के साथ एक अन्य भी प्रयोजन अवतार का है। सृष्टि का सृजन एवं संहार दोनों उद्देश्य को लेकर ही अवतार का जन्म होता है। महाभारत के शांतिपर्व में आलेखित है कि 'परमेष्ठी ब्रह्मा ने सर्व प्रजाओं को उत्पन्न किया। उसमें दैत्यों, दानवों, गंधर्वों तथा राक्षसों की संख्या भी बहुत है। वास्तव में यह पृथ्वी उनके भार द्वारा दब गई है। साथ ही इस पृथ्वी पर अनेक दैत्य, दानव, राक्षस आदि बहुल बलवान् होंगे। क्योंकि भिन्न-भिन्न तपश्चर्या आदि करके उत्तम वरदान प्राप्त कर लेंगे। फलस्वरूप वे गर्विष्ट बनकर देवों, ऋषियों और तपोधनों को दुःख देंगे। अतः इस कारण अनेक स्वरूप धारण करके दुष्टों को संहार करके, सज्जनों का रक्षण करके पृथ्वी का भार हल्का करूं। युगों-युगों में शरीर धारण करके पृथ्वी का रक्षण करूं।[१]

अर्हत् परमेष्ठी का संहार व्यक्ति परक, दुष्परक न होकर दुष्टता, व्यक्तित्व परक है। भूभारहरण हेतु दुष्टता का नाश होकर मुक्ति-वरण को प्राधान्य दिया गया है। दुष्टता का संहार, कर्मों का नाश है। जब कर्म शत्रुओं का नाश होगा तो कर्मों से मुक्त होने पर मुक्तिवरण होगा। आत्मा का मोक्ष हो जावेगा। जहाँ अवतरण का उद्देश्य भू भार हरण हेतु संहार है, वहाँ अर्हत् का आगमन भी संहार हेतु तो है किन्तु वह संहार दुष्टता का है। क्रोधादि कषायों का, रागद्वेष की परिणति का, एवं घाति-अघाति कर्मों का है। कर्म-क्षय करके आत्मसाम्राज्य की प्राप्ति हेतु मुक्तिवधू का वरण यहाँ अपेक्षित है। दुष्ट संहार में आत्मा का अधोगमन, दुर्गति होती है जबकि कर्म-संहार हो जाने पर चेतना का उर्ध्वारोहण होकर मुक्ति हो जाती है।

इतर दर्शनों में अर्हत् विषयक अवधारणा-

जैन परंपरा के मन्तव्यानुसार अर्हत् परमेष्ठी की भिन्न-भिन्न पर्यायें हैं, यथा- सर्वज्ञ, जिन, केवली, तीर्थङ्कर आदि। यहाँ आध्यात्मिक स्तर पर सर्वोच्च कक्षा अर्हत् परमेष्ठी की है। जैन दर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनों में यह कक्षा किस कोटि की है? यहाँ प्रश्न यह उठता है कि अन्य दार्शनिक परम्परा में अर्हत् का

---

१. महाभारत शांति पर्व ३४९/२९-३७

अस्तित्व है या नहीं ?.यदि अन्य दार्शनिक इसकी अवधारणा स्वीकार करते हैं तो किस स्वरूप में ? जो अवधारणा जैन परंपरा स्वीकार करती है, अन्य दर्शनों में वह स्वरूप स्थिति है या नहीं ? अब इस प्रकरण में हम विभिन्न दार्शनिक परंपराओं के अन्तर्गत इस अवधारणा का तुलनात्मक अन्वेक्षण करेंगे।

'अर्हत्' पद दर्शन साहित्य में दो प्रकार से व्यवहृत हुआ है-1. दिव्य/देव स्वरूप में 2. धर्म संस्थापक रूप में। ब्राह्मण परंपरान्तर्गत वैदिक साहित्य में अर्हत् पद प्रयुक्ति, प्रजापति, ब्रह्मा, अग्नि आदि को पूज्य भाव प्रगट करता है। तात्पर्य यह है कि वैदिक साहित्य में अर्हत् पद पूज्य भाव में आलेखित है, वह देवताओं के विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया गया है, वहाँ अन्य रूढ़ अर्थ नहीं किया गया है। जब कि जैन परंपरा गत अर्हत् विशिष्ट व्यक्तित्व को लिए हुए है। अर्हत् परमेष्ठी मानव देह धारी है, देव नहीं।

यदि ब्राह्मण साहित्य में इस स्तर को देखना हो, तो धर्म संस्थापक के रूप में अवतारी पुरुषों का वहाँ ग्रहण किया गया है। हकीकत में ये अवतारी पुरुष भी दैवीय अंश ही है, वे ही जब इस धरा पर अधर्म को साम्राज्य छा जाता है, तब पुनः धर्मसंस्थापना हेतु शांति प्रवर्तन के लिए अवतीर्ण होते हैं। इस अपेक्षा से उनका अवतरण पुनः पुनः इस धरा पर होता है। जबकि जैन परंपरा मान्य अर्हत् मात्र एक बार ही तीर्थङ्करत्व को प्राप्त कर तद्भव मोक्षगामी होते हैं।

ब्राह्मण परंपरा वेदानुगामी है। वेद-अनुगामी भी अनेक दर्शन पल्लवित हुए। उसमें मात्र मीमांसा दर्शन के अतिरिक्त अन्य वेदान्त, न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग आदि दर्शनों ने अवतार को मान्य किया है। मीमांसा दर्शन तो सर्वज्ञता से ही इन्कार करता है। सर्वज्ञ कोई नहीं हो सकता यह उनका अत्याग्रह है।

यद्यपि सर्वज्ञत्व के नास्तिपक्षकार मुख्यतया तीन है-चार्वाक, अज्ञानवादी एवं पूर्वमीमांसक।

चार्वाक इन्द्रियगम्य भौतिक लोकमात्र को मानता है। इसलिये उसके मत में अतीन्द्रिय आत्मा तथा उसकी शक्ति रूप सर्वज्ञत्व के लिए कोई स्थान ही नहीं।

अज्ञेयवादी का अभिप्राय आधुनिक वैज्ञानिकों की तरह ऐसा जान पड़ता है कि ज्ञान और अतीन्द्रिय ज्ञान की भी एक अन्तिम सीमा होती है। ज्ञान कितना ही उच्च कक्षा का क्यों न हो, पर त्रैकालिक सभी स्थूल-सूक्ष्म भावों को पूर्ण रूप से जानने में स्वभाव से ही असमर्थ है। अर्थात् अन्त में कुछ न कुछ अज्ञेय रह ही जाता है। क्योंकि ज्ञान की शक्ति ही स्वभाव से परिमित है।

वेदवादी पूर्वमीमांसक आत्मा, पुनर्जन्म, परलोक आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का अस्तित्व स्वीकार करता है। वह अपौरूषेयवादी होने से वेद के अपौरुषेयत्व में बाधक ऐसे किसी भी अतीन्द्रिय ज्ञान को मान नहीं सकता। इसी एकमात्र अभिप्राय से उसने वेद निरपेक्ष साक्षात् सर्वज्ञ या धर्मज्ञ के अस्तित्व का विरोध किया।[१] वेद द्वारा धर्माधर्म या सर्व पदार्थक जानने वाले का निषेध नहीं किया।

हिन्दु परम्परागत अवतारवाद और अर्हत्

यद्यपि ब्राह्मण परंपरा मान्य वैदिक साहित्य में अर्हत् पद प्रयुक्ति बहुलता से प्राप्य है, तथापि यह प्रयुक्ति मात्र 'पूजनीय' 'प्रशंसनीय' अर्थ में ही अभिव्यक्त होती है। यह पूज्य भाव दैवीय अंश के लिए ही निहित है, जो कि प्रजापति, अग्नि, इन्द्र आदि के विशेषण के रूप में याज्ञिक क्रियाकाण्डों के अवसर पर प्रगट किया गया है। 'धर्मप्रवर्त्तक'- धर्मसंस्थापक के रूप में ब्राह्मण साहित्य में अवतारी पुरुषोत्तम का उल्लेख प्राप्त होता है। वास्तव में यह अवतरण दैवीय अंशों का ही है। जब-जब धर्म की ग्लानि होती है (हानि होती है), अधर्म का साम्राज्यछा जाता है, तब-तब अधर्म का नाश करने के लिए, धर्म के अभ्युदय के लिए इन्द्र-विष्णु आदि दिव्य अंशों का मानव देह में अवतरण होता है। यह अवतरण ही अवतार के रूपान्तरण को प्राप्त हुआ है। अवतार अर्थात् ईश्वर/परमात्मा का अवतरण।

अवतार और अवतारवाद : प्रयोग और अर्थ

भारतीय वाङ्मय में अवतार शब्द प्रयोग प्राचीनकाल में होता रहा है। 'अब्' उपसर्गपूर्वक 'तृ' धातु में 'घञ्' प्रत्यय के योग से 'अवे तृस्त्रोघञ्' से निष्पन्न है। अवतार शब्द जो किसी उच्चस्थल से नीचे उतरना-अर्थ प्रकट करता है अर्थात् दिव्य शक्ति का दिव्यलोक से भूतल में उतरना अर्थ अभिव्यक्त करता है। वास्तव में यह अवतरण जन सामान्य सापेक्ष नहीं, वरन् ईश्वरीय अपेक्षित है। ईश्वर का स्वयं का ही शरीर धारण करने के अर्थ में प्रयुक्त है।

वैदिक साहित्य में अवतार शब्द स्पष्टतः उल्लिखित न होने पर भी अवतृ से निष्पन्न अवतारी और अवत्तर शब्द का प्रयोग किया गया है। सायणाचार्य ने भाष्य में इसका तात्पर्य 'संकट दूर करना' किया है।[२]

---

१. मी. श्लोक वा. चोदना श्लो. २.११०

२. *ऋग्वेद ६.३.३.५.२*

अवतारी के साथ 'अवत्तर' शब्द अथर्ववेद में उपलब्ध है। 'जिसमें रक्षण का सारभूत अंश विद्यमान हो'[१] इस अर्थ में सायणाचार्य ने उल्लेख किया है। 'यजुर्वेद' में इसका 'उतरने' अर्थ में प्रयोग किया है।[२] टीकाकार गृफिथ ने भी "Deseend upon rhe earth" अर्थात् उतरना अर्थ ही मान्य किया है।[३]

इस प्रकार वेदों में 1. संकट दूर करना 2. रक्षण के सारभूत अंश की विद्यमानता तथा 3. उतरना-इन तीन अर्थों में अवतार की संयोजना की गई है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण[४], शतपथ ब्राह्मण[५], मैत्रायणी संहिता[६] में भी इन्हीं अर्थों की पुष्टि की गई है। व्याकरणाचार्य पाणिनी ने भी उतरने का अर्थ उल्लेख किया है।[७] जबकि गीता में अवतार की अपेक्षा 'आत्म सृजन और दिव्य जन्म' का प्रयोग हुआ है।[८] वाल्मिकी रामायण, महाभारत, विष्णुपुराण आदि पौराणिक साहित्य में अवतार शब्द 'विष्णु के शरीर धारण करने या भूतल पर अवतीर्ण होने से सम्बन्धित है।'[९] इसी प्रकार श्रीमद् भागवत में अवतार के स्थान पर सृजन, सृष्टि तथा जायमान अर्थ अधिकांशत: दृष्टिगत होते हैं।[१०]

वास्तव में ईश्वर अशरीर है, किन्तु रक्षण हेतु, धर्म-अभ्युदय हेतु उनका भूतल पर अवतरण होता है। लक्ष्यपूर्ति के पश्चात् देहोत्सर्ग करके पुन: ईश्वरत्व को धारण कर लेते हैं।

हिन्दु मान्यता के विपरीत जैन मान्यता में अवतरण शब्द संदर्भ प्राप्त होने पर भी अर्थ-भेद स्वीकार किया है। जैन साहित्य में भी अवतार शब्द के प्राकृत और अपभ्रंश रूप विद्यमान है। जैसे ग्रंथों में 'अवइण्णु'-अवत्तीर्ण हुए के साथ पयंडगउ' अर्थात् प्रकट शरीरा शब्द प्रयुक्त हुए हैं।[११] यहाँ इसका तात्पर्य भी अवतरण अर्थात् जन्म ग्रहण तो है ही, किन्तु इसे यहाँ 'अवतार' का पर्यायवाची मान्य नहीं किया जा सकता, क्योंकि जैन परंपरा ईश्वर के अवतरण को स्वीकार नहीं करती।

---

१. अथर्ववेद १८.३.५
२. यजुर्वेद १७.६
३. वही गृफिथ अनुवाद
४. तैत्तिरीय ब्राह्मण २.८.३.३
५. शतपथ ब्राह्मण ९.१.२.२७
६. मैत्रायणी संहिता २.१०.१
७. पाणिनीय अष्टाध्यायी ३.३.१२०
८. गीता ४.६-९
९. वाल्मिकी रामायण १.१६.३, महाभारत १.६४.५४, विष्णुपुराण ५.१.६०-६५
१०. भागवत १.३.५, १०.३.८
११. पउमचरिउ (स्वयंभू भाग-१,१.१६.५, हरिवंशपुराण ९२.३)

साथही मुक्तात्मा का अपनुरागमन मान्य किया है अर्थात् वह जन्म-मरण पुनः पुनः नहीं करती है। अनीश्वर वादी होने से जैन परंपरा अवतार की अवधारणा अवतरण अर्थ में स्वीकार नहीं करती।

बौद्ध परंपरा में महायान संप्रदाय के विख्यात ग्रंथ सद्धर्भ पुण्डरीक,[१] में भी क्रमशः अवतीर्य, अवतारिता, जाता, उत्पन्न, प्रादुर्भाव आदि शब्द प्रयुक्त है। 'मंजुश्री मूल कल्प'[२] में अवतारयेत्, अवतारार्थ के अतिरिक्त समागत, आविष्ट शब्दों का उल्लेख है। 'बौद्ध गान ओ दोहा' में अवतरित, निर्माणकाय[३], दोहाकोश में 'बोधिसत्त्व अकम्पित अवतरे', 'कायाधारणा', 'सगुण पहसे'[४] आदि प्रयोग मिलने पर भी इनका अर्थ हिन्दु परंपरा के अवतार के सदृश नहीं।

हिन्दु परंपरा में यह अवतरण विष्णु या ईश्वर के अवतरण को दर्शाती है जबकि जैन और बौद्ध परंपरा किसी विशिष्ट दैवीय शक्ति या ईश्वर को नहीं किन्तु बुद्ध या अर्हत् तीर्थङ्कर के मात्र जन्म को सूचित करती है उनके पुरागमन को नहीं।

यहाँ अवतरण शब्द विकास का सूचक है। मूलतः जैन और बौद्ध परंपरा अवतारवाद के स्थान पर उत्तारवाद-उत्थान की सूचक है, जो कि आत्मीय गुणों का आरोह करती है। वैदिक परंपरा विशेष रूप से अवतारवाद पर अवलम्बित है।

अवतरण का प्रयोजन-

अर्हत् तथा बुद्ध का जन्म इस धरा पर आध्यात्मिक उत्क्रांति के लिए होता है। वे स्वयं आत्मगुणों का प्राकट्य साधना के द्वारा सम्पूर्ण कर्मक्षय के पश्चात् करते हैं। तत्पश्चात् धर्मप्रवर्त्तन करके संघ की स्थापना करते हैं. जिन आत्मिक गुणों का आधान वे स्वयं करते हैं, उसी ज्योति को अन्य भव्यात्माओं में प्रज्जवलित करने का मार्ग निर्देशित करते हैं। क्या हिन्दु परंपरा में अवतार का अवतरण भी निश्चित् प्रयोजन पुरस्सर होताहै ? इस पर ही हम दृष्टिपात करें।

वाल्मिकी रामायण में राम के जन्म का मुख्य प्रयोजन 'असुरों का विनाश है' इसी कारण उन्हें विष्णु का अवतार कहा गया है।[५] महाभारत, महाकाव्य में भी अवतार का मुख्य उद्देश्य 'दैवी शक्ति की विजय' मान्य की है। महाभारत में विष्णु को श्रीकृष्ण के रूप में अवतार लेकर रणभूमि में दानवों और दैत्यों का संहार करते हुए प्रस्तुत किया गया है। साथ ही यह भी दर्शाया गया है कि ईश्वर विभिन्न रूपों में, विविध योनियों में अवतार ग्रहण करते हैं।[६]

---

१. सद्धर्भ पुण्डरीक-पृ. १३६, ३०१, १२८, १२५, २४० २. मंजुश्री कल्प-पृ. ५०२, २०२, २१६, २३६, २३७ ३. बौद्धगान ओ दोहा पृ. ९१, ९३, ११२ ४. दोहाकोश- पृ. ९४, ९६, १५९
५. वाल्मिकी रामायण १.१५.१४-२२, १.१.१८, १.७६.१२, ३.१२.३३, १.१७.१-२३
६. महाभारत वनपर्व १२.१८-२०, २८ : शांतिपर्व ३४७.७९, अश्वमेधिकपर्व ५४.१६

जबकि गीता में पुनर्जन्म और साधारण जन्म से भिन्न ईश्वर की उत्पत्ति का वैशिष्ट्य का निर्देश किया है।[१] गीता हमें बतलाती है कि साधारण मनुष्य जिस प्रकार विकास को प्राप्त होता हुआ या ऊपर उठता हुआ भागवत जन्म को प्राप्त होता है, उसका नाम अवतार नहीं है, बल्कि जब भगवान् मानवता के अंदर प्रत्यक्ष रूप से उतर आते हैं और मनुष्य के ढांचे को पहन लेते हैं, तब वह अवतार कहलाते हैं।

कहा जा सकता है कि मानवप्राणी के रूप में भगवान् के प्राकट्य की संभावना को दृष्टान्तरूप से सामने रखने के लिए अवतार होता है, ताकि मनुष्य देखें कि यह क्या चीज है और उसमें इस बात का साहस हो कि वह अपने जीवन को उसके जैसा बना सके।

यह अवतरण मनुष्य के आरोहण या विकास को सहायता पहुँचाने के लिए होता है। इस बात को गीता ने बहुत स्पष्ट करके कहा है ऐसा श्री अरविन्द का मन्तव्य है।[२]

अवतार प्रणाली-

अवतार लेने का यही उद्देश्य होता है, पर इसकी प्रणाली क्या है ? अवतार के सम्बन्ध में एक यौक्तिक या संकीर्ण विचार है जिसमें केवल इतना ही दिखाई देता है कि अवतार किन्हीं नैतिक, बौद्धिक और क्रियात्मक दिव्यतर गुणों की असाधारण अभिव्यक्ति मात्र होते हैं, जो साधारण मानवजाति का अतिक्रमण कर जाते हैं। भगवान अपने-आपको प्रकृति के अनन्त गुणों में प्रकट करते हैं और इस प्राकट्य की तीव्रता उन गुणों की शक्ति और सिद्धि से जानी जाती है। उनकी विभूति नैर्व्यक्तिक भाव से उनके गुणों की अभिव्यक्त शक्ति है, वह उनका बहि: प्रवाह है। चाहे ज्ञान रूप में हो अथवा शक्ति, प्रेम, बल या अन्य किसी रूप में और व्यक्तिक्त भाव से यह मनोमय रूप और सजीव सत्ता है जिसमें वह शक्ति सिद्ध होती है और अपने महत् कर्म करती है।

इस प्रकार कोई भी महान् पुरुष का अवतार होना तो तब कहा जा सकता है कि अपने परमेश्वर और परमात्मा होने का आन्तरिक ज्ञान हो और यह ज्ञान हो

---

१. गीता ४.५.८

२. श्री अरविन्द/गीता प्रबंध पृ. १६६-१६७ प्रका. पांडिचेरी : श्री अरविन्द आश्रम द्वितीय संस्करण १९८४

कि वे अपनी भागवत सत्ता से मानव प्रकृति पर शासन कर रहे हैं। अवतार में एक विशेष अभिव्यक्ति होती है, वे दिव्य जन्म से ऊपर होते हैं, सनातन, विश्वव्यापक, विश्वेश्वर व्यष्टिगत मानवता के एक आकार में उतर आते हैं 'आत्मानं सृजामि' और वे केवल परदे के अन्दर ही अपने स्वरूप से सचेतन नहीं रहते, बल्कि बाह्य प्रकृति में भी उन्हें अपने स्वरूप का ज्ञान रहता है।

अवतार स्पष्ट रूप से मनुष्य जैसे ही होते हैं। अवतार के सदा दो रूप होते हैं-भागवत रूप और मानव रूप। भगवान् मानव प्रकृति को अपना लेते हैं, उस सारी बाह्य सीमाओं के साथ भागवत चैतन्य और भागवत शक्ति की परिस्थिति, साधन और करण तथा दिव्य जन्म और दिव्य कर्म का एक पात्र बना लेते हैं। यदि ऐसा न हो तो अवतरण का उद्देश्य ही पूर्ण नहीं हो सकता।

यदि अवतार अद्‌भुत चमत्कारों के द्वारा ही काम करें, तो इससे भी अवतरण का उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता। असाधारण अथवा अद्‌भुत चमत्कार रूप अवतारके होने का कुछ मतलब नहीं रहता। यह भी जरूरी नहीं है कि अवतार असाधारण शक्तियों का प्रयोग करें ही नहीं, क्योंकि असाधारण शक्तियों का प्रयोग मानव प्रकृति की संभावना के बाहर नहीं है, परन्तु इस प्रकार की शक्ति का प्रयोग न भी हो तो अवतार में कोई कमी नहीं आती, न यह कोई मौलिक बात है। अवतार ऐंद्रजालिक जादूगर बनकर नहीं आते, प्रत्युत्त मनुष्य जाति के भागवत नेता और भागवत मनुष्य के एक दृष्टान्त बनकर आते हैं। पर जब किसी संकट के मूल में कोई आध्यात्मिक बीज या हेतु होता है, तब मानव-मन और आत्मा में प्रवर्तक और नेता के रूप में भागवत चैतन्य का पूर्ण या आंशिक प्रादुर्भाव होता है, यही अवतार है।

जैन और बौद्ध परंपरा इसके विपरीत दृष्टिगत होती है। दैवीय अंश का अवतरण मान्य न करके मानव स्वयं अपने पुरुषार्थ-बल-वीर्य-पराक्रम द्वारा कर्मों से जूझ कर दिव्यता स्वरूप परमात्म पद का वरण करते हैं। हाँ! आत्मा में आंशिक शक्ति विद्यमान है, किन्तु उसका पूर्ण प्राकट्य स्वयं को ही करना होता है। न उसमें दैवीय शक्ति सहायक हो पाती है, न अन्य कोई साधन। यद्यपि प्रयोजन सदृशता सर्वत्र ऐक्यता लिए हुए है-धर्म संस्थापना एवं लोक मंगल। साध्य एक होने पर भी साधन सर्वथा भिन्नता धारण किए हुए हैं।

बौद्ध परंपरा में अर्हत् एवं बोधिसत्व

बौद्ध परंपरा सर्वोच्च पद पर परम साध्य स्वरूप में बुद्ध को मान्य करती है। जैसा कि पूर्व में उल्लिखित है कि भगवान गौतम बुद्ध को नमस्कार करते हुए कहा 'नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मा सम्बुद्धस्स'। साथ ही प्रतिदिन स्मृत पद में 'तिपि सो भगवां अरहं' इस प्रकार भगवान का स्मरण भी किया जाता रहा है। इन संदर्भों से इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यहाँ अर्हत् पद की गरिमा कोई कम नहीं। जो भी बुद्ध होते हैं, वे अर्हत् होते ही हैं। तब प्रश्न उभरता है कि जिस प्रकार जैन परंपरा में जैनागमों में तीर्थङ्करों को अर्हत् पद से विभूषित किया गया है, उसी प्रकार बौद्ध परंपरा भी क्या यह स्वीकार करती है जो बुद्ध हैं वे ही अर्हत् हैं अथवा बुद्ध के अतिरिक्त भी अर्हत् का अस्तित्व है ?

उपर्युक्त पदों से यहाँ इतना तो निश्चित हो जाता है कि जो बुद्ध हैं, वे अर्हत् हैं ही। अब शेष यह ज्ञात करना है कि बुद्ध के अतिरिक्त भी अर्हत् होते हैं या नहीं? जब हम बौद्ध परंपरा के परिप्रेक्ष्य में यह देखते हैं तो वहाँ मात्र बुद्ध के लिए ही नहीं अन्य भिक्षुओं को भी अर्हत् कहा गया है। भिक्षु के अतिरिक्त श्रावक वर्ग भी इससे वंचित नहीं रह पाते। बौद्ध ग्रंथों में अनेकशः ऐसे उल्लेख हैं, जहाँ ऋषि मुनियों के साथ श्रावकों ने भी इस पद को वहन किया है।[१] इस प्रकार प्रत्येक साधक साधना के बल पर इस पद का अधिकारी हो सकता है। चाहे वह भिक्षु हो या श्रावक। परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है जो भी बुद्ध हुए हैं, वे अर्हत् होते ही हैं। यहाँ केवली के समकक्ष अर्हत् को यहाँ रखा जा सकता है।

अर्हत् किसे कहा जाये? इसका किंचित् स्वरूप निर्देश पूर्व में किया जा चुका है। अर्हत् का आदर्श क्या है ? भगवान बुद्ध के मूल उपदेश जो पालि निकायों में निहित है, अर्हत्त्व की प्राप्ति को ब्रह्मचर्य का, जीवन साधना, अंतिम लक्ष्य बताया है। इस प्रकार अर्हत् प्राप्ति का वहाँ एक बड़ा गौरव है। स्वयं बुद्ध अर्हत् कहे गये हैं। बुद्ध के चिर उपस्थापक शिष्य आनन्द, जो छाया की भांति उनसे संलग्न रहते थे, उच्च कोटि के साधक थे, वे बुद्ध के परिनिर्वाण-काल तक अर्हत्त्व प्राप्त नहीं कर पाये थे। अर्हत्त्व प्राप्त करना कोई साधारण कार्य बौद्ध साधना में नहीं था।

---

१. सुत निपात-कसिभारद्वाजसुत्त ४. आलवक सुत ३०, समिय सुत्त ३२.३२

स्थान-स्थान पर विभिन्न सुत्तों में अर्हत् के स्वरूप का वर्णन किया गया है- जो कृतकृत्य हो गया हो[१], क्षीणास्रव हो[२], अंतिम देह को धारण किया हो[३], जिनका मान प्रहीण हो गया हो[४], ग्रंथियाँ नष्ट हो चुकी हो[५], वह लोक में अनुत्सुक है[६] विद्या और चरण से सम्पन्न, सुगति को प्राप्त, लोकविद्, अनुत्तर,[७] सम्यक् संबुद्ध, अभय और दृढ है।[८] सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा[९] केवली[१०] ऋद्धिप्राप्त, चित्त की बातें जानने वाले हैं।[११] प्रज्ञावान, भावितात्म, समाहित ध्यानरत, स्मृतिमान, सर्वशोक प्रक्षीण हैं।[१२] वे पूजनीयों में पूज्य, सत्कार पात्रों में जो सत्कार के पात्र एवं आदरणीयों में आदरणीय हैं।[१३] इस प्रकार अनेकशः अनेकधा अर्हत् का विशद स्वरूप उपलब्ध होता है।

जिस प्रकार जैन परंपरा में अर्हत् के अनेकशः विशेषण प्राप्त होते हैं। अर्हत्-तीर्थङ्करों के विशेषणों का बहुतायत से उल्लेख किया है, उसी प्रकार यहाँ भी स्थल स्थल पर विवेचन विशेषण युक्त किया गया है। जहाँ जैन परंपरा तीर्थङ्कर को अर्हत् स्वीकार करती है, वहाँ बौद्ध परंपरा वह स्थान बुद्ध को प्रदान करती है। बौद्ध अर्हत् की कोटि जैन परंपरा में सामान्य केवली के सदृश है। सामान्य केवली भिक्षु-गृहस्थ सर्व हो सकते हैं, उसी प्रकार बौद्ध अर्हत् में यह मान्य किया है। हाँ बुद्ध को वह स्तर प्राप्त है। बुद्धत्व का अंगीकरण तीर्थङ्कर की कोटि में जा सकता है। अतः अर्हत् के तुल्य बुद्ध एवं सामान्य केवली के तुल्य अर्हत् मान्य किये जा सकते हैं। इसी भाँति बौद्ध परंपरा में भी संघ स्थापना, धर्म प्रवर्तन आदि कार्य बुद्ध

---

१. वही, अरहन्त सुत्त-१.३.५, मानत्थद्ध सुत्त ७.२.५
२. वही, महद्धनसुत्त १.३.८. नन्दन सुत्त २.२.४. मानत्थद्ध सुत्त ७.२५ देवदहखण सुत्त ३४.३.४.१ इच्छानङ्गल सुत्त ५२.२.१
३. वही अरहन्त सुत्त १.३.५
४. वही महद्धन सुत्त १.३.८
५. वही महद्धन सुत्त १.३.८
६. वही महद्धन सुत्त १.३.८
७. सुसीम सुत्त (संयुक्त नि. ११.१२)
८. धजग्ग सुत्त (संयुक्त नि. ११.१.३)
९. भारद्वाज सुत्त (सं. नि. ३३.३.३-४)
१०. अग्गिक सुत (सं. नि. ७.१.८)
११. (अपरादिट्ठि सुत) (सं. नि. ६.१४)
१२. नन्दन सुत्त (सं. नि. २.२.४)
१३. देवादूत सुत्त (सं. नि. ७. २. ३)

ही संपादन कर सकते हैं-अन्य अर्हत् नहीं। जैन परंपरा में घाति कर्म क्षय एवं कैवल्य लाभ आदि से संयुक्त अर्हत् एवं सामान्य केवली की समानता का उल्लेख किया गया है किन्तु बौद्ध परंपरा में इस तुल्यबलता को दर्शाया नहीं गया। बुद्ध का अर्हत् होना सर्वत्र दृष्टिगत होता है किंतु अर्हत् और बुद्ध की ज्ञान सीमा की समानता या विषमता का उल्लेख दृष्टिगत नहीं होता।

बुद्ध के जन्म सम्बन्धी विलक्षणताएं-

बुद्धके जन्म संबंधित अलौकिकता का वर्णन दीधनिकाय के महापदान सुत्त में उल्लिखित किया है[१]-

1. तुषित नामक देवलोक से च्युत हो स्मृतिमान जागृत होकर माता के उदर में प्रविष्ट होते हैं।

2. जब माता के गर्भ में प्रवेश करते हैं, तब समस्त लोक में विपुल प्रकाश होता है तथा लोक धातु (ब्रह्माण्ड) में कम्पन होता है।

3. माता के गर्भ में होने के पश्चात् सदैव चार देवपुत्र चारों दिशाओं में माता की रक्षा के लिए रहते हैं, ताकि उनकी माता को कोई भी कष्ट न दें।

4. जब से वे माता के गर्भ में आते हैं, तब से उनकी माता शीलवती होती है, वह हिंसा, चोरी, दुराचार, मिथ्याभाषण तथा मादक वस्तुओं के सेवन से विरत रहती है।

5. उनकी माता का चित्त पुरुष की ओर आकृष्ट नहीं होता। कामवासना के लिए उनकी माता पुरुष के राग से जीती नहीं जा सकती।

6. उनके गर्भ में आने के पश्चात् उनकी माता को सभी प्रकार के सुखोपभोग उपलब्ध रहते हैं।

7. उनकी माता को कोई व्याधि नहीं होती तथा बोधिसत्त्व की माता उनको अपने उदर में स्पष्ट देखती है।

8. उनकी माता उनके जन्म के सात दिन बाद मरकर तुषित देवलोक में उत्पन्न होती है।

9. माता पूरे दस माह कुक्षि में रखकर प्रसव करती है। दस माह से पहले नहीं करती।

---

१. दीघ निकाय भाग-२, महापदानसुत्त १.४.२० पृ. १५-१६

10. माता खड़े-खड़े ही प्रसव करती है।

11. माता की कुक्षि से निकलकर पृथ्वी पर गिरने भी नहीं पाते विचार देवपुत्र उन्हें लेकर माता के सम्मुख रहते हैं।

12. प्रसव के समय उनका शरीर कफ, रूधि आदि मलों से अलिप्त रहता है।

13. जब वे माता की कुक्षि से बाहर आते हैं, तब आकाश से शीत एवं उष्ण जल की दो धाराएं बहती है, उससे उनका एवं उनकी माता का प्रक्षालन होता है।

14. जन्म के पश्चात् वे पैरों पर खड़े होकर उत्तर की मुँह करके सातकदम चलते हैं, श्वेत छत के नीचे सभी दिशाओं को देखते हैं और घोषित करते हैं कि इस लोक में मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं अग्र हूँ, मैं ज्येष्ठ हूँ। यह मेरा अंतिम जन्म है, फिर मेरा जन्म नहीं होगा।

15. जन्म के समय सम्पूर्ण लोक में प्रकाश होता है तथा संसार की बुराईयाँ कुछ समय के लिए दूर हो जाती है।

बुद्ध के शरीर के 32 लक्षण-

बुद्ध के शरीर को दीघनिकाय में निम्न ३२ लक्षणों युक्त बताया है[१] -

1. वे सुप्रतिष्ठतपाद होते हैं।
2. उनके पादतल में सर्वाकार परिपूर्ण चक्र होते हैं।
3. उनकी एड़ियाँ ऊंची होती है।
4. उनकी अंगुलियाँ लम्बी होती है।
5. उनके हाथ, पैर मृदु और कोमल होते हैं।
6. उनके हाथ और पैर की अंगुलियों के बीच छेद नहीं होते।
7. उनके पाँवों के टखने शंकु के समान वर्तुलाकार होते हैं।
8. उनकी जांघे हिरनी की जांघों के समान होती हैं।
9. उनके हाथ इतने लम्बे होते हैं कि वे बिना झुके अपनी हथेलियों से अपने घुटनों का स्पर्श कर सकते हैं।
10. उनकी जननेन्द्रिय चमड़े से ढकी होती है।

---

१. दीघनिकाय भाग-२ महापदानसुत्त १.४.२० पृ. १५-१६

11. उनके शरीर का वर्ण स्वर्ण के समान होता है।

12. उनके शरीर पर धूल नहीं जमती।

13. उनके प्रत्येक रोमकूप में एक ही बाल होता है।

14. उनके बाल अंजन के समान नीली कान्तियुक्त तथा कुंडलित (घुंघराले) होते हैं।

15. वे लम्बे अकुटिल शरीर वाले होते हैं।

16. उनके शरीर के सात भाग ठोस होते हैं।

17. उनका शरीर सिंह पूर्वार्द्ध काय अर्थात् उनकी छाती उठी हुई होती है।

18. उनके दोनों कंधों के ऊपर का भाग ठोस होता है।

19. उनका शरीर निग्रोध परिमण्डल (वर्तुलाकार) होता है अर्थात् पालखी मारकर बैठने पर उनके शरीर की चौड़ाई-लम्बाई बराबर होती है।

20. उनके दोनों कंधे समान परिमाण के होते हैं।

21. उनकी शिराएं (नाड़ियाँ) सुन्दर होती हैं।

22. उनकी ढोड़ी सिंह के समान होती है।

23. उनके मुख में 44 दाँत होते हैं।

24. उनके दाँत सम होते हैं।

25. उनकी दंत पंक्ति छिद्र रहित होती है।

26. वे दीर्घ जिह्वा होते हैं।

27. उनका स्वर मधुर होता है।

28. उनकी दंतपंक्ति शुभ होती है।

29. उनकी आँखे अलसी के पुष्प से समान नीली होती है।

30. उनकी पलकें गाय के समान होती है।

31. उनकी भौंहों की रोम-राजी अत्यन्त कोमल और शुभ्र होती है।

32. उनका मस्तक उष्णीषाकार अर्थात् बीच में से कुछ ऊँचा होता है।

इस प्रकार बुद्ध का शरीर इन ३२ लक्षणों से युक्त होता है। जिस प्रकार जैन परंपरा में अर्हत् का शरीर अलौकिक तथा १००८ लक्षण-गुणों से संपृक्त होता है। उसी प्रकार बुद्ध का शरीर विशिष्ट अलौकिकता एवं ३२ लक्षणों से युक्त होता है। इनमें से कुछ अलौकिकता अर्हत् से साम्य रखती है तो कुछ पूर्णता विषमता युक्त, विलक्षण है।

धर्मचक्र के प्रवर्तन हेतु ब्रह्मा द्वारा प्रार्थना-

जिस समय अर्हत् बुद्ध सम्यक् संबुद्ध होते हैं उस समय बुद्ध के मन में यह विचार आता है लोक मेरे उपदेश को ग्रहण नहीं करेंगे। उसी समय ब्रह्माजी आकर प्रार्थना करते हैं प्रभो! धर्म का उपदेश करें क्योंकि धर्म जानने में हमारी रुचि है।[१]

बुद्ध का सशरीर देवलोकगमन-

भगवान बुद्ध ने अपनी माता को धर्मोपदेश देने के लिए एक वर्षावास तुषित लोक में व्यतीत किया, ऐसा पालि त्रिपिटक में उल्लेख किया गया है।[२]

साथ ही यह भी उल्लेख है कि भगवान बुद्ध एक बार शुद्धावास देवलोक में गये। जहाँ पूर्व ६ बुद्धों तथा उनके काल में जिन व्यक्तियों में प्रव्रज्या धारण की थी, उनमें से अनेक लोग इस देवलोक में देवता के रूप में जन्मे थे। उन सभी ने आकर बुद्ध को अपना परिचय दिया और बताया कि वे किस बुद्ध के शासनकाल में प्रव्रजित होकर इस देवलोक में जन्मे हैं।[३]

प्रतिहार्य-

जिस प्रकार जैन परंपरा में अर्हत्/तीर्थंकर के अष्ट प्रातिहार्य अवश्यंभावी होते हैं, उसी प्रकार बुद्ध प्रातिहार्य दिखलाते थे। प्रतिहार्य से तात्पर्य चमत्कार लिया गया है। अवदान के प्रातिहार्य सूत्र में प्रातिहार्य से संबंधित कथा का वर्णन है।[४] उसमें बुद्ध द्वारा श्रावस्ती के राजा प्रसेनजित के आग्रह से ऋद्धि-प्रातिहार्य दिखाने हेतु प्रार्थना की जाने पर बुद्ध ने अनेक बुद्धों की सृष्टि की। दोनों परंपरा में अन्तर यह है कि जैन परंपरा में ये आठ प्रातिहार्य देव-देवेन्द्र द्वारा निर्मित होते हैं जबकि बौद्ध परंपरा में प्रातिहार्यों को स्वयंबुद्ध द्वारा निर्माण किये जाते हैं।

---

१. दीघनिकाय भाग-२ महापदान सुत्त १.६.६२-६४ पृ. ३६

२. बौद्ध धर्म दर्शन पृ. ११८

३. दीघनिकाय भाग-२ महापदानसुत्त १.६.७२-७४ पृ. ३९-४३

४. १. अवदान उद्धृत-बौद्ध धर्म दर्शन पृ. ११८

बुद्ध की विशेषताएँ-

मज्झिम निकाय में बुद्ध की अनेक विशिष्ट विशेषताओं का वर्णन किया है। दसबल एवं चार वैशारद्य इन में विशेषतया होते हैं-

दसबल[१] -

1. तथागत स्थान को स्थान रूप में, अस्थान को अस्थान के रूप में जानते हैं।

2. तथागत अतीत, अनागत और वर्तमान में किये गये सत्त्वों के कर्मों के विपाक स्थान और विपाक हेतु को जानते हैं।

3. वे सर्वत्रगामिनी प्रतिपदा को जानते हैं।

4. वे समस्त लोक या ब्रह्माण्ड को यथार्थ रूप से जानते हैं।

5. वे विविध स्वभाव वाले सत्त्वों अर्थात् प्राणियों को यथार्थ रूप से जानते हैं।

6. तथागत सभी प्राणियों के इन्द्रियों की सामर्थ्यता और असामर्थ्यता को जानते हैं।

7. वे ध्यान, विमोक्ष, समाधि और समापत्ति के बाधक (मलों) और सहयोगी कारकों को यथार्थ रूप से जानते हैं।

8. उन्हें अनेक पूर्वजन्मों (निवासों) का ज्ञान होता है।

9. अपने विशुद्ध एवं दिव्य चक्षु से कौन प्राणी मरकर कहाँ उत्पन्न होगा ? कहाँ से मरकर उत्पन्न हुआ है, इसे जानते हैं।

10. तथागत आस्त्रवों का क्षय हो जाने से चित्त की विमुक्ति और प्रज्ञा की विमुक्ति को इसी जन्म में प्राप्त कर लोक में विचरण करते हैं।

चार वैशारद्य[२] -

1. तथागत सभी तथ्यों के ज्ञाता होते हैं, अतः उन्हें प्राश्निकों से कोई भय नहीं होता।

2. तथागत क्षीणास्त्रव (निर्मल चारित्रवान्) होते हैं। उन्हें इस बात पर कोई भय नहीं होता कि उनके निर्मल चारित्र पर कोई आक्षेप आ सके।

---

१. मज्झिम निकाय भाग-१ महासीहनाद सुत्त १२.२ पृ. १८.१०१)

२. मज्झिमनिकाय,महासींहनाद सुत्त भाग-१ १२.३ पृ. १०१-१०२

3. उनको कोई विघ्न या बाधा नहीं रहती।

4. तथागत को अपने द्वारा उपदिष्ट धर्ममार्ग के सम्बन्ध में ऐसा कोई संशय या विचार नहीं होता कि यह सम्यक् प्रकार से दु:ख क्षय की ओर नहीं ले जाता है।

अपने इन्हीं दसबलों और चार वैशारद्यों के कारण तथागत परिषद् में सिंहनाद करते हैं और धर्मचक्र का प्रवर्तन करते हैं। अपने बत्तीस पुरुष लक्षण, अस्सी अनुव्यंजन, अष्टादश आवेणिक धर्म के माध्यम से वे श्रेष्ठता साबित करते हुए धर्मसंघ की स्थापना करते हैं।

बुद्धत्व का अधिकारी-

निदानकथा के अनुसार जो आठ लक्षणों से युक्त हो, वही बुद्धत्व को प्राप्त हो सकते हैं। ये आठ लक्षण है-

मनुस्सत्तं लिंगसम्पत्ति हेतु सत्थारदस्सनं।

पब्बज्जा गुणसम्पत्ति अधिकारी च छन्दता॥[1]

मनुष्ययोनि, लिंगसम्प्राप्ति (पुरुषलिंग), हेतु (बुद्धजीव), शास्ता के दर्शन, प्रव्रजित होना (प्रव्रज्या), गुण-सम्प्राति, अधिकार (शक्ति) व छन्दता (इच्छा स्वातन्त्र्य)।

उपरोक्त आठ मूलभूत लक्षण बुद्धत्व प्राप्ति के आवश्यक अंग है। संयुक्तनिकाय-अट्ठकथा[2] में इन आठ धर्मों के अतिरिक्त चार बुद्ध भूमियाँ- उत्साह, उन्मार्ग, अवस्थान तथा हितचर्या तथा छ अध्याशय-निष्क्रम, प्रविवेक, अलोभ, अद्वेष, अमोह और नि:सरण को प्राप्त करना भी आवश्यक है। जातक में बुद्धत्व के लिए तीनचर्या-जातत्थ, लोकत्थ, भूतत्थ तथा स्त्री, पुत्र, राज्य, अंग, जीवन परित्याग विषयक पांच महात्याग भी बताये हैं।[3] इस प्रकार बुद्धत्व प्राप्ति के लिए ये गुण होना आवश्यक है।

अर्हत्व एवं बुद्धत्व की प्राप्ति के उपया-

बौद्ध परम्परा में अर्हत्व-बुद्धत्व प्राप्ति के लिए साधक को कुछ अवस्थाओं या सोपानों से गुजरना पड़ता है। आध्यात्मिक विकास की इन अवस्था को भूमियाँ

---

१. निदानकथा हरिदास संस्कृत ग्रंथमाला) पृ. २३७-२३९

२. संयुक्त निकाय अट्ठकथा १-५० उद्धृत निदानकथा भूमिका पृ. ३९

३. जातक सं. ५५२ उद्धृत वही. पृ. ४०

कहा जाता है। इन भूमियों की मान्यता में बौद्ध धर्म के संप्रदायों में विभिन्न मत है। हीनयान इस हेतु भूमियों को, तो महायान इस विकास में दस भूमियों को बुद्धत्व प्राप्ति के लिए स्वीकार करते हैं।

(अ) अर्हत् पद प्राप्त करने के चार चरण-

बौद्ध धर्म में जिन प्राणियों का विकास प्रारम्भ नहीं हुआ उनको पृथक्जन या मिथ्यादृष्टि कहा जाता है तथा जो विकासोन्मुख हैं, वे आर्य-सम्यथ्य दृष्टि कहलाते हैं। मज्झिमनिकाय में इस अवस्था या भूमि को धर्मानुसारी या श्रद्धानुसारी भूमि कहा गया है। निर्वाणमार्ग के साधक को अर्हत् पद प्राप्त करने के लिए चार भूमिकाओं को पार करना होता है। ये चार भूमिका है[1]-

1. स्त्रोतापन्न भूमि
2. सकृदागामी भूमि
3. अनागामी भूमि
4. अर्हत् भूमि

1. स्त्रोतापन्न भूमि-

स्त्रोतापन्न का शाब्दिक अर्थ है 'प्रवाह-धारा में पड़ा हुआ, यह प्रवाह निर्वाणगामी है। जब साधक संसार से विरक्त होकर, निर्वाणगामी मार्ग पर आरूढ़ होता है तब वह स्त्रोतापन्न कहलाता है। वह इस मार्ग में 1. सत्काय दृष्टि-देहात्मबुद्धि, 2. विचिकित्सा संदेहात्मकता 3. शीलव्रत परामर्श-व्रतादि क्रियाकांडों में रूचि इन तीन संयोजनों का त्याग कर देता है तथा वह चार अंगों में अविचल श्रद्धा युक्त होता है-

1. बुद्धानुस्मृति
2. धर्मानुस्मृति
3. संघानुस्मृति
4. शील समाधि से युक्त

इस प्रकार स्त्रोतापन्न साधक के हृदयपटल में बुद्ध, धर्म, और संघ के प्रति अटूट श्रद्धा होती है। साथ ही उसके आचार-विचार की विशुद्धि परिपूर्ण होती है। वह अधिक से अधिक सात जन्मों में निर्वाण प्राप्त कर लेता है।[2]

---

१. मज्झिम निकाय प्रथम भाग ६.१.३ पृ. ४५, बुद्धचरितः धर्मानंदकौसंबी पृ. १११-११२, २५४-२५६, बौद्ध दर्शन (पं. उपाध्याय बलदेव) पृ. १४०

२. दीघनिकाय पृ. ५७-५८, २८८ उद्धृतः बौद्धदर्शन पृ. १४१

2. सकृदागामी भूमि-

'सकृदागामी' शब्द का अर्थ है-केवल एक बार आनेवाला अर्थात् जन्म लेने वाला। स्रोतापन्न साधक जब कामराग (कामवासना) और पटिघ (क्रोध) इन दो संयोजनों को शिथिल कर देता है, तब वह सकृदागामी बनता है। इस भूमिका में आस्रवक्षय अर्थात् क्लेशक्षय करने का प्रयत्न प्रबल होता है। जैसे-जैसे क्लेशक्षय करता है वैसे-वैसे प्रज्ञाप्रकाश अधिकाधिक प्रगट होताहै। सकृदागामी को निर्वाण से पहले केवल एक जन्म और लेना होता है।

3. अनागामी-

'अनागामी' शब्द का अर्थ है अपुनरागमन अर्थात् पुनः कमी नहीं आने वाला। जब सकृदागामी कामराग और पटिघ का पूर्ण क्षय कर देता है, तब वह अनागामी बनता है। अनागामी की जब मृत्यु होती है, तब उसका जन्म इहलोक में नहीं होता है। वह ब्रह्मलोक में अवतार लेता है और वहाँ से सीधे ही निर्वाण प्राप्त करता है। इस भूमिका में सत्काय दृष्टि, विचिकित्सा, शीलव्रतपरामर्श, कामराग और प्रतिघ इन पाँच संयोजनों का पूर्णतः क्षय कर देता है।

4. अर्हत्-

अनागमी साधक जब शेष पाँच संयोजन-रूपराग (ब्रह्मलोक की प्राप्ति की इच्छा), अरूपराग (अरूप देवलोक प्राप्ति की इच्छा) मान, औद्धत्य (चित्त की चंचलता) और अविद्या (अज्ञान) का नाश कर देता है तब अर्हत् भूमिका में प्रविष्ट होता है। समूल क्लेशों का उच्छेद हो जाने से पूर्ण प्रज्ञा का उदय होता है। जलकमलवत् वह जगत् में अलिप्त रहता है। वह जीवन्मुक्त है। वह वर्तमान जन्म में ही निर्वाण प्राप्त कर लेता है। उसका पुनर्भव नहीं होता। बुद्ध और अर्हत् में इतना ही अन्तर है कि बुद्ध स्वप्रयत्न से ही निर्वाण का साक्षात्कार करते हैं, जबकि अर्हत् का निर्वाण-साक्षात्कार परोपदेश-परनिमित्त सापेक्ष है।

इस प्रकार क्रमशः इन चार भूमियों में पसार होता हुआ साधक निर्वाण लाभ प्राप्त कर लेता है। महायान में इन भूमियों में विभिन्नयों दर्शायी है। वे इस हेतु दस भूमियों को स्वीकार करते हैं-

(ब) बुद्धत्व प्राप्ति में सहायक दस भूमियाँ-

संक्रमणकालीन स्थिति में लिखे गये ग्रंथ 'महावस्तु' में अग्र दस भूमियों का विवेचन किया गया है-

1. दुरारोह 2. बद्धमाना 3. पुष्पमंडिता 4. रूचिरा 5. चित्तविस्तार 6. रूपवती 7. दुर्जया 8. जन्मनिदेश 9. यौवराज्य 10. अभिषेक।[१]

महावस्तु में उल्लिखित ये दस भूमियाँ महायान संप्रदाय के ग्रंथ "दसभूमिशास्त्र" से भिन्न है। दसभूमिशास्त्र में निम्न दस भूमियाँ (अवस्थाएँ) दर्शायी गई है।[२]

1. प्रमुदिता 2. विमला 3. प्रभाकरी 4. अर्चिष्मी 5. सुदुर्जया 6. अभिमुक्ति 7. दूरंगमा 8. अचला 9. साधुमती 10. धर्ममेधा।

असंग के महायान सूत्रालंकार और लंकावतार में ११ भूमियों का उल्लेख किया गया है। इसमें अधिमुक्तिचर्या भूमि को प्रथम भूमि की संज्ञा दी गई है और उसके पश्चात् प्रमुदिता आदि १० की परिगणना की है। लंकावतार में धर्ममेधा तथा तथागत भूमियों को अलग-अलग माना गया है।

अधिमुक्तचर्याभूमि-

इसमें साधक को पुद्गल नैरात्म्य तथा धर्म नैरात्म्य का यथार्थ ज्ञान होता है। यह अवस्था विशुद्धि की अवस्था कही जाती है। उसे बोधिप्रणिधिचित्तावस्था भी कहा जाता है। इस भूमि में बोधिसत्त्व दान-पारमिता का अभ्यास करताहै। यह बुद्धत्व की दिशा में साधना का पूर्व चरण है-

1. प्रमुदिता-इस भूमि को बोधिप्रस्थानचित्त की अवस्था कहा जाता है। इसमें शील-पारमिता का अभ्यास करता है। इसमें पूर्ण शील विशुद्धि को प्राप्त करता है।

2. विमला-इसमें शान्ति पारमिता का अभ्यास करता है। यह अधिचित्त शिक्षा है। इस भूमि का लक्षण ध्यान की प्राप्ति है। इससे अच्युत समाधि का लाभ होता है।

3. प्रभाकरी-इस भूमि में साधक समाधि के द्वारा अनेकानेक धर्मों का साक्षात्कार कर लोकहित के लिए बोधि-पक्षीय धर्मों-की परिणामना करता है। ज्ञान रूपी प्रकाश को लोक में फैलाने के कारण इसे प्रभाकरी कहा गया है।

4. अर्चिष्मती-इस भूमि में साधक क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का विनाश करता है तथा वीर्य-पारमिता का अभ्यास करता है।

---

१. १. उद्घृत-बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास पृ. ३५९

२. वही. पृ. ३६०-३६२

5. सुदुर्जया-इस भूमि में साधक दूसरों के धार्मिक विचारों को पुष्ट करता है और स्वचित्त की रक्षा के लिए दु:ख पर विजय प्राप्त करता है। यह कार्य अति दुष्कर होने से ही इसे सुदुर्जया कहा गया है। इसमें ध्यान-पारमिता का अभ्यास करता है। इस भूमि में प्रतीत्यसमुत्पाद का साक्षात्कार हो जाने से भवापत्ति विषयक संक्लेशों से रक्षा हो जाती है।

6. अभिमुखी-इस भूमि में प्रज्ञा-पारमिता के आश्रय से संसार और निर्वाण दोनों के अभिमुख रहता है। उसमें प्रज्ञा का यथार्थ उदय होता है। इसमें प्रज्ञा की पूर्णता को प्राप्त हो जाता है।

7. दूरंगमा-इसमें शाश्वतवाद और उच्छेदवाद अर्थात् एकांतिक मार्ग से बहु दूर चला जाता है। बोधिसत्त्व की साधना पूर्ण कर निर्वाण लाभ के योग्य हो जाता है। इसमें स्वयं सभी पारमिता का पालन करता है एवं विशेष रूप से उपाय कौशल्य पारमिता का अभ्यास करता है।

8. अचला-इस भूमि में संकल्प शून्यता एवं विषम रहित अनिमित्तविहारी समाधि की उपलब्धि होती है। चित्त के संकल्प रहित होने से इस अवस्था में तत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है।

9. साधुमति-इस भूमि में बोधिसत्त्व के हृदय में संसार के सभी प्राणियों के प्रति दयाभाव एवं शुभ भावनाओं का उदय होता है। वह प्राणियों के बोधिबीज को परिपुष्ट करता है। समाधि की विशुद्धता एवं प्रतिसंविन्मति (विश्लेषणात्मक अनुभव करने वाली बुद्धि) इस भूमि की प्रधानता है। बोधिसत्त्व को इस अवस्था में दूसरे प्राणियों के मनोगत या आन्तरिक भावों को जानने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है।

10. धममेधा-जिस प्रकार अनन्त आकाश को मेघ व्याप्त कर लेता है उसी प्रकार इस भूमि में धर्माकाश को समाधि व्याप्त कर लेती है। इस भूमि में बोधिसत्त्व दिव्य भव्य शरीर प्राप्त कर कमल पर विराज मान दृष्टिगोचर होते हैं। वस्तुत: यह बुद्धत्व की पूर्णप्राप्ति की अवस्था है। यहाँ बोधिसत्त्व बुद्ध बन जाता है।

इस प्रकार दस भूमि रूप अवस्थाएँ प्राप्त करके मनुष्य बुद्धत्व की प्राप्ति कर लेता है, ऐसा महायान संप्रदाय का मन्तव्य है। चार भूमियाँ हीनयान संप्रदाय स्वीकार करता है जो प्राचीन बौद्ध परंपरा में भी मान्य थी। चार अवस्थाएँ हो या

दस हो। दोनों का लक्ष्य निर्वाण ही है। राग-द्वेष-मोह आदि कर्मक्षय हो जाने पर ही अर्हत्व या बुद्धत्व की प्राप्ति हो पाती है। जैन परंपरा भी इस प्रकार चौदह गुणस्थान मान्य करती है। जो भी आत्मा केवल ज्ञान का वरण करती है, उनको इन चौदह गुणस्थानों पर आरोहण करके, गुणश्रेणी करनी पड़ती है। उसके पश्चात् अर्हत् हो या सामान्य केवली हो, उनको कर्मक्षय करके मोक्षावस्था प्राप्त हो सकती है। उपर्युक्त भूमियाँ इन चौदह गुणस्थानों के समकक्ष कही जा सकती है।

हिन्दु परम्परा में जिस प्रकार अवतार का प्रयोजन धर्म संस्थापना है, उसी प्रकार बौद्ध परंपरा भी धर्मप्रर्वत्तन तथा संघ स्थापना हेतु बुद्ध का अवतार लेना स्वीकार करती है। हिन्दु परंपरा एतदर्थ दिव्य अंशों का अवतरण मान्य करती है किन्तु बौद्ध परंपरा मनुष्य का ही विकासक्रम आध्यात्मिकता के सोपानों द्वारा उत्कर्ष पर पहुँचातीहै, दिव्य अंशों को नहीं। जैसा कि जैन परंपरा भी स्वीकार करती है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में अर्हत्

ब्राह्मण परंपरा वेद अनुलक्षी है। वेद विहित तथा वेद मान्य दर्शनों में न्याय-वैशेषिक दर्शन की भी गणना की गई है। वैशेषिक सूत्र दर्शन के प्रणेता कणाद तथा न्याय दर्शन के प्रणेता गौतम है। न्याय-वैशेषिक धर्म संस्थापक के रूप में अवतारवाद को मान्य करते दिखाई नहीं देते, जैसा कि इतर परंपरा में मान्य किया गया है। वास्तव में वैशेषिक दर्शन पदार्थ विचारणा के अतिरिक्त पूर्णतया न्याय दर्शन पर ही अवलम्बित है। अर्थात् न्याय दर्शन के सिद्धान्तों पर अनुगमन करता है।

न्याय दर्शन में अवतारवाद का वर्णन दृष्टिगत नहीं होता। अत: धर्मप्रवर्तन-संस्थापक में रूप किसे मान्य किया गया? सर्वोच्च कक्षा पर न्याय वैशेषिककार ने ईश्वर को मान्य किया है। ईश्वर ही जगत् का नियन्ता है, तो वही सृष्टि का संहार भी कर सकता है। स्रष्टा के साथ-साथ वह उपदेष्टा है, मार्गदर्शक है। जैन परंपरा अर्हत् को ही मात्र धर्म संस्थापक के रूप में स्वीकार करती है, किन्तु न्यायदर्शन में धर्मसंस्थापक के अतिरिक्त मुख्य कार्य सृष्टिकर्त्ता के रूप में मान्य किया है।

न्यायसूत्रकार गौतम ने ईश्वर से संबंधित तीन सूत्र रचे हैं[१]

1. कर्मफल का कारण कर्म नहीं, परंतु ईश्वर है।

2. क्योंकि पुरुष कर्म न करें तो फल मिलता नहीं।

3. कर्म एवं कर्मफल ईश्वरकृत होने से ये दोनों सिद्धान्त तर्क हीन है।

उपुर्यक्त तीन सूत्रों में से गौतम दो सूत्रों को तर्कहीन मानकर तीसरे सूत्र में अपने सिद्धान्त की स्थापना करते हैं। एक कर्म फल के नियत-संबंध की अवगणना करता है तो दूसरा ईश्वर की ही अवगणना करता है। वास्तव में कर्म और कर्मफल में नियत संबंध तो है ही, परंतु इच्छित फल प्राप्ति के लिए कौन सा कर्म करना चाहिये ? यह ज्ञान ईश्वर प्रदान करता है। लौकिक विषय का ज्ञान तो उसके विशेषज्ञों से भी प्राप्त हो सकता है, किन्तु राग आदि दोषों का दूर करने के लिए कौन सा कर्म, कौन सी साधना करनी, यह ज्ञान रागादि दोषों से रहित, सर्वज्ञ ईश्वर ही करा सकता है। इस प्रकार कर्म एवं कर्मफल के नियत संबंध को जानने के लिए ईश्वर की आवश्यकता है।[२] ईश्वर केवल उपदेष्टा है,मार्गदर्शक है, तथा कर्म फल के नियत संबंध का ज्ञान कराने वाला है। इस अर्थ में ही वह कर्मकारयिता है।

दर्शन-शास्त्र में इष्ट फल मुक्ति मान्य किया है। सब मुक्ति को चाहते हैं। इस इच्छित फल के लिए कौन सा कर्म करना चाहिये ? क्या साधना करनी चाहिये, किस क्रम से करनी चाहिये, इसका ज्ञान साधना करके जो दु:खमुक्त हो चुके, जीवन्मुक्त देताहै। यह जीवन्मुक्त ही उपचेष्टा है, पथप्रदर्शक है। इस प्रकार-

1. वात्स्यायन जीवन्मुक्त को ही ईश्वर मानते हैं।

2. प्रशस्तपादने ही सर्वप्रथम नित्यमुक्त सृष्टिकर्त्ता ईश्वर की कल्पना न्याय, वैशेषिक, में दाखिल की।

3. वात्स्यायन के जीवन्मुक्त के साथ ही बुद्ध और जैन अर्हत् की तुलना हो सकती है।

4. नित्यमुक्त सृष्टिकर्त्ता ईश्वर बौद्ध और जैन में है ही नहीं।

इस प्रकार न्याय-वैशेषिक दर्शन में ईश्वर को परमोच्च शिखर पर स्थापित

---

१. न्यायसूत्र -४.१.१९-२१

२. षड्दर्शन-२ (न्याय-वैशेषिक) नगीन जी. शाह, यूनिवर्सिटी ग्रंथ निर्माण बोर्ड, गुजराज राज्य)

किया है। साथ-साथ जगत् का कर्ता, धर्ता, सब कुछ उसी के आधीन किया है। जैन दर्शन के अर्हत् एवं ईश्वर में साम्यता संभव नहीं है। इसके अनेक कारण है, क्योंकि जैन परंपरा के अर्हत् एवं ईश्वर में बहुत भिन्नता है। यहाँ अर्हत् जीवात्मा रूप से परमात्मा में परिणत होता है, वहाँ यह परिणमन नहीं है। ईश्वर आत्म स्वरूप होकर भी परमात्मा ही है।

अर्हत् सशरीरी है तो ईश्वर अशरीरी है।

अर्हत् कर्मों से मुक्त होता है तो ईश्वर के बंधन मुक्ति ही नहीं है।

अर्हत् सर्वगुणसम्पन्न है तो ईश्वर में पाँच गुणों का प्राधान्य माना है।

अर्हत् जगतकर्तृत्व से कुछ संबंध नहीं रखते, तो ईश्वर को जगत्कर्त्ता माना गया है।

अर्हत् आत्मभावेन नित्य है तो ईश्वर सर्वदा नित्य ही है।

जैन परंपरा इच्छादि विकारों का अर्हत् में होना स्वीकार नहीं करती, वहाँ ईश्वर में यह आत्मविशेष गुणों में से एक है। इच्छादि को विकार अर्थात् दोष मानकर उसका सर्वज्ञ में परिहार किया है।

वस्तुतः प्रारम्भ में नैयायिकों में ईश्वर मात्र कर्मफल प्रदाता के रूप में ही मान्य किया गया था किन्तु उत्तरकालीन न्याय वैशेषिक ग्रन्थों में इस विषय का विस्तार होता गया। टीकाकारों में भी परस्पर मतभेद होने लगा। क्योंकि ईश्वर की संख्या के विषय में मतऐक्य नहीं है। भाष्यकार वात्स्यायन स्वयं ईश्वर की संख्या अनेक मानते दिखाई देते हैं, तो अन्य टीकाकार मात्र एक ही ईश्वर मान्य करते हैं।

अर्हत् एवं ईश्वर को गुण साम्य की अपेक्षा से देखा जाय तो सर्वज्ञता, वीतरागता, उपदेष्टा, मोक्षामार्गप्रदाता, जगदुद्धारक, धर्मसंस्थापक, धर्मप्रवर्तक आदि है। राग-द्वेष का नाश होना, ज्ञाताद्रष्टा होना ये साम्यता यहाँ दृष्टिगत होती है।

यहाँ एक बात पर ध्यान सहज ही चला जाता है कि ईश्वर को धर्मसंस्थापक, उपदेष्टा, आप्तकल्प्य आदि रूप में नैयायिक स्वीकार करते हैं तो यह संस्थापना, उपदेश आदि प्रकार करते हैं ? क्योंकि अर्हत् परमेष्ठी का यह कार्य स्पष्टतः दृष्टिगत होता है किन्तु ईश्वर के विषय में ऐसा समाधान पूर्ववर्ती तथा पश्चात्वर्ती किसी भी नैयायिक ने नहीं किया। यद्यपि जैन परंपरा सर्वोच्च पद पर ईश्वर को आसीन किया है। सृजन से लेकर संहार तक के सभी कार्यों का उत्तरदायित्व ईश्वर पर ही छोड़कर स्वयं मुक्त होते दिखाई देते हैं।

सांख्य-योग दर्शन के जीवन्मुक्त एवं अर्हत्-

सांख्य दर्शन यद्यपि वेद निष्ठ ही है, किन्तु ईश्वरीय सत्ता के प्रति उदासीन है। सांख्यदर्शन ईश्वरीय सत्ता को आवश्यक नहीं समझता। प्रकृति एवं पुरुष इस द्वैतवाद पर अवलम्बित यह दर्शन, जड़-चैतन्य (प्रकृति-पुरुष), पुनर्जन्म, मुक्ति, तत्त्वज्ञान के सिद्धान्त को मान्य करके भी ईश्वर की सर्वोच्च सत्ता अंगीकार नहीं करता।

तब प्रश्न उभरता है कि जब सांख्य-ईश्वर को मान्य नहीं करते तो धर्म संस्थापक के रूप में सर्वोच्च पर किसको प्रतिष्ठित करते हैं। सांख्य के मतानुसार सर्व दुःखों की निवृत्ति हो जाने पर ही पुरुष परमपुरुषार्थ मोक्ष को प्राप्त करता है[१] यह दुःख निवृत्ति तत्त्वज्ञान पर आधारित है।[२] जब तक मनुष्य को तत्त्वज्ञान नहीं होगा, वह प्रकृति (जड़) के प्रति आसक्त रहेगा।[३] प्रकृति के साथ संयोग होने पर पुरुष अविद्या के कारण बन्धन करता है।[४] और जब पुरुष को तत्त्वज्ञान होता है तो अज्ञान दूर हो जाता है। जब तत्त्वज्ञान के द्वारा उसमें यह ज्ञान हो जाता है कि "मैं पुरुष परिणामी नहीं हूँ, मैं कर्त्ता नहीं हूँ।" अकर्तृत्व के कारण मुझ में वास्तविक स्वामित्व नहीं है।[५] इस प्रकार विवेकज्ञान जागृत हो जाता है।

सांख्य मतानुसार तत्त्वज्ञान होने पर धर्म-अधर्म, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य इन सातों ही भावों की निवृत्ति हो जाती है। क्योंकि ये सातों ही भाव अतत्त्वज्ञान का कारण है।[६] तत्त्वज्ञान के उदय होने पर कर्तृत्व भोक्तृत्व का अभिमान गल जाता है। यह अभिमान ही रागद्वेष का जनक है। यही पुनर्जन्म का कारण है। इस प्रकार तत्त्वज्ञान से भेदज्ञान-विवेक ख्याति उत्पन्न होने पर विवेकसम्पन्न पुरुष के संयोग से प्रकृति भी सृष्टि कार्य में प्रवृत्त नहीं होती।[७]

सांख्य मत में यह मान्य किया गया है कि तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने के बाद भी विवेक सम्पन्न व्यक्ति के शरीर का पात नहीं होता।[८] तत्त्वज्ञान के कारण धर्म-अधर्म अपने फल को उत्पन्न करने में असमर्थ बन जाते हैं। उससे तत्त्वज्ञानी को

---

१. सांख्यसूत्र १.१ सांख्यप्रवचन भाष्य १.१ २. वही ३.८४, ३.७५
३. वही.३.६२
४. सांख्य कारिका ४४, सां. त. कौमुदी, ४६-४७, सा. प्र. भा. १.१९
५. सांत. कौ ६४ ६. सांख्यदर्शन-नगी जी. शाह पृ. १९६, १९०
७. सां. त. कौ. ६४
८. सां का. ६७

जन्मान्तर में शरीर धारण करने की कोई शक्यता नहीं होती। परन्तु पूर्वजन्मकृत जो धर्म-अधर्म वर्तमान देह में अपना फल देने में प्रवृत्त रहते हैं, उनकी फलदान क्रिया पूरी नहीं होती हैं, तब तक तत्त्वज्ञानी को शरीर धारण करना पड़ता है। इस प्रकार जितना समय तत्त्वज्ञानी को शरीर धारण करना पड़ता है, वहाँ तक यह अवस्था जीवन्मुक्ति की अवस्था होती है।[१] यह ज्ञानी पुरुष क्लेशकर्म मुक्त जीवन जीता है तब वह जीवन्मुक्त कहलाता है।[२]

जीवन्मुक्त अवस्था स्वीकार करने का भी एक प्रयोजन है। क्योंकि जिन पुरुषों ने विदेहकैवल्य प्राप्त किया है, उन सब के शरीर होता नहीं है, वे उपदेश नहीं दे सकते। और जो अज्ञानी-अविवेकी हैं, वे उपदेश देने के योग्य नहीं होते। अतः जीवन्मुक्त पुरुष ही उपदेष्टा बन सकते हैं। इसीलिए सांख्य मत में जीवन्मुक्तावस्था को स्वीकार किया गया है।[३]

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सांख्यदर्शन जीवन्मुक्त अवस्था को स्वीकार करते है, कि जो तत्त्वज्ञानी है, उपदेष्टा है, उद्धारक है किन्तु संघप्रवर्त्तन आदि संघीय व्यवस्था आदि नियोजन यहाँ दृष्टिगत नहीं है। इस जगत् में जितने भी पुरुष हैं, वे सभी इस जीवन्मुक्तावस्था का वरण करके मुक्त हो सकते हैं। अतः सभी जीवन्मुक्त को समान अधिकार यहाँ प्राप्त है।

सांख्यमत में इस प्रकार निम्न बातें दृष्टिगोचर होती है-

1. मुख्यतः उपदेश ही तीर्थ है।

2. जीवन्मुक्त ही उपदेष्टा है।

3. जीवन्मुक्त ही उपदेष्टा है इसका मतलब यह नही कि जीवन्मुक्त उपदेष्टा है ही।

4. सर्वज्ञत्व एक सिद्धि है। बिना इस सिद्धि के जीवन्मुक्त हो सकता है। बिना सर्वज्ञत्व प्राप्त किये मुक्ति संभव है।

5. सर्वज्ञसिद्धिसंपन्न जीवन्मुक्त उपदेष्टा हो, अन्य जीवन्मुक्त नहीं-यह संभव है।

---

१. योगभाष्य २.२७

२. योगभाष्य ४.३०

३. सा.सू. ३.६९

योगदर्शन में जीवन्मुक्त एवं ईश्वर-

बद्ध एवं मुक्त पुरुषों से भिन्न-पंतजली के अनुसार ईश्वर एक पुरुष विशेष है जो अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष अभिनिवेशादि क्लेशों एवं शुभ-अशुभ कर्मविपाक, रूप, जाति, आयु तथा भोग-वासना से रहित है।[१]

वर्तमानकाल में जो पुरुष मुक्त हैं उनसे यह भिन्न है।

क्योंकि वे या तो उस अवस्था से पूर्व बंधन में थे पश्चात् उसका उच्छेद करके मुक्त बने अथवा अन्य मुक्त पुरुष वे हैं, जो निश्चित अवधि के लिए कैवल्य का सा अनुभव कर पुनः संसार चक्र में आ जाते हैं यथा-विदेह एवं प्रकृतिलय। ईश्वर इन दोनों ही प्रकार के मुक्त पुरुषों से भिन्न है[२], क्योंकि न कभी वह बंधन में था और होगा।[३] इस प्रकार केवली से ईश्वर में भिन्नता है।

ईश्वर सर्वज्ञ है[४]-

ईश्वर का उत्कर्ष शाश्वत है, नित्य है। वह त्रिकाल सर्वज्ञ है। तात्पर्य यह है कि वह तीनों काल में प्रकृष्ट सत्त्व अर्थात् शुद्ध सात्विक चित्त धारण करता है। उसकी सर्वज्ञता का प्रमाण क्या है? तो उल्लेख है-शास्त्र! और शास्त्र का प्रामाण्य ? तो कथन है कि वह सर्वज्ञकृत है। इस प्रकार सर्वज्ञता शास्त्र से और शास्त्र की सिद्धि सर्वज्ञता मानने पर परस्पर सापेक्षता तथा अन्योन्याश्रय दोष की शंका होती है। इसका समाधान करते हुए कहा है कि यहाँ यह दोष रूप नहीं, क्योंकि शास्त्र और सर्वज्ञता का सम्बन्ध अनादि है। जिस प्रकार अंकुर और बीज के सम्बन्ध में अन्योन्याश्रय-परस्पर सापेक्ष दोष नहीं है, क्योंकि वे अनादि है।[५] इसी प्रकार ईश्वर भी अनादि सर्वज्ञ है। योगी भी सर्वज्ञ हो सकता है, क्योंकि सर्वज्ञत्व की प्राप्ति होने के कारण। किन्तु ईश्वर तो अनादि सर्वज्ञ है।

ईश्वर सर्वाधिक ऐश्वर्य संपन्न[६]-

ईश्वर का ऐश्वर्य अनुपम है, तारतम्यरहित है। वाचस्पति मिश्र का मत है कि

---

१. योग सू. १.२४ २. व्यास भाष्य पृ. ६६
३. योग भाष्य १.२४ ४. योग सू. १.२५
५. यो. भा. १.२४ ६. योग सू. १.२५

जो कुछ भी सातिशय होता है उसकी निरतिशयता भी किसी न किसी वस्तु में अवश्य होती है।[१] और वह ईश्वर में ही संभव है। विज्ञानभिक्षु लिखते हैं कि ऐश्वर्य की काष्ठा जहाँ होती है, वही ईश्वर है।[२] इस प्रकार जिनका ऐश्वर्य अनुपम एवं तरतमभाव रहित है, वह ईश्वर है।[३]

ईश्वर धर्मोपदेशक तथा उद्धारक है-

ईश्वर को स्वयं कोई स्वार्थ साधने का नहीं है। उसका प्रयोजन भूतानुग्रह या जीवों क उद्धार है। ''ज्ञान और धर्म का उपदेश देकर सांसारिक पुरुषों का मैं उद्धार करूँगा।'' ऐसा सर्वज्ञ का संकल्प होता है। इसीलिए कहा है कि आदिविद्वान भगवान परम ऋषि ने निर्माणचित्त धारण करके शास्त्रजिज्ञासु आसुरि को शास्त्र का उपदेश दिया।[४]

ईश्वर एक है-

पुरुषबहुत्ववादी होने पर भी योगदर्शन में ईश्वर को एक स्वीकार किया है। इस विषय में वाचस्पति मिश्र एवं विज्ञान भिक्षु दोनों ने तर्क उपस्थित किए हैं कि एक पदार्थ के विषय में विभिन्न परिणाम की इच्छा करने वाले दो ईश्वरों के होने पर, पदार्थ के किसी एक की इच्छा के अनुरूप परिणत होने से दूसरे की इच्छा पूर्ण न होने के कारण उसमें न्यूनता आ जाएगी, ऐसा दोनों टीकाकारों का अभिमत है।[५] अतः ईश्वर एक है।

ईश्वर आदि गुरु है-

पूर्व के गुरु कालविशिष्ट है। जिनके पास अवच्छेदक या विशेषक रूप से काल नहीं आता अर्थात् काल से बाधित न होने के कारण वह पूर्वोत्पन्न गुरुओं का भी गुरु है।[६] पूर्वोत्पन्न गुरुओं से तात्पर्य दोनों टीकाकार सर्ग के प्रारम्भ में उत्पन्न ब्रह्मा, विष्णु, महेशादि गुरुओं को मानते हैं।[७] ईश्वर उनकी उत्पत्ति से भी पूर्व विद्यमान होने से उन्हें वेदादि का ज्ञान प्रदान करते हैं।

---

१. तत्त्व वैशारदी पृ. ७७
२. यो. वा. पृ. ७४
३. यो.भा. १.२४
४. योग भा. १.२५
५. त. वै. पृ. ६९ यो.वा.पू. पृ. ४७
६. यो. सू. १.२६
७. त.वै.पृ. ८१, यो.वा.पृ. ८१

ईश्वर अवतार नहीं लेते हैं-

स्मृतियों एवं पुराणों में उल्लिखित 'अवतार' के रूप में ईश्वर अवतीर्ण नहीं होते। विज्ञानभिक्षु का मत है कि अवतार ब्रह्मा, विष्णु आदि के होते हैं, ईश्वर के नहीं।[१]

ईश्वर का उत्कर्ष शाश्वतिक है-

ईश्वर के उत्कर्ष में शास्त्र ही प्रमाण है।[२] शास्त्र के विषय में ईश्वर के सत्त्वोत्कर्ष को प्रमाण माना गया है।[३] ईश्वर और शास्त्र का जो पारस्परिक प्रामाण्य दिखाया गया है, उसमें दोष की कल्पना नहीं की जा सकती। विज्ञानभिक्षु शास्त्र एवं सत्त्वोत्कर्ष में परस्पर निमित्त-नैमित्तिक संबंध मानते हैं।[४]

इस प्रकार महर्षि पतंजली के योगसूत्र में ईश्वर स्वरूप निर्देश किया है। साथ ही उल्लेख किया है कि उनका वाचक प्रणव है।[५] प्रणव का जप यह ईश्वर की भावना (ईश्वर प्रणिधान) है।[६] ईश्वर प्राणिधान से योगान्तराय दूर हो जाते हैं।[७] और समाधिलाभ होता है।[८]

योगदर्शन में परमपद पर ईश्वर को प्रतिष्ठापित किया है। अर्हत् एवं ईश्वर की कोटि में साम्यता किसी अपेक्षा है किसी अपेक्षा से नहीं है। सर्वज्ञता, वीतरागता, उद्धारक, उपदेष्टा रूप से साम्यता है। किन्तु वे किस रूप से करते हैं इसका उल्लेख नहीं किया गया।

जैन मत में अर्हत् धर्म की संस्थापना करते हैं किन्तु ईश्वर का ऐसा कोई कार्य निर्देश नहीं किया गया। साथ ही अर्हत् सामान्य मानव से महामहानव के उत्कर्ष को प्राप्त होते हैं ऐसा ईश्वर में नहीं। आत्मा से परमात्मा पद पर अधिष्ठित होते हैं। आध्यात्मिक विकासक्रम में सामान्य आत्मा यह पद पा सकती है।

योग सम्मत ईश्वर एक है, जब कि अर्हत् एक नहीं, अपितु अनेक है।

इस प्रकार अनेक समानता-विषमता अर्हत् एवं योग सम्मत ईश्वर में होने पर भी सर्वोच्च पद तो प्राप्त है।

---

१. यो.वा. पृ. ७९-८०
२. यो. वा. पृ. ७०
३. व्यास भा. पृ. ६६
४. वही.
५. योग सू. १.२७-२८
६. वही १.२३
७. वही १.२९
८. वही.

अर्हत् की अवधारणा का दार्शनिक अवदान

जैन धर्म दर्शन में अर्हत् की अवधारण के दर्शानिक अवदान का मूल्यांकन निम्न रूप से किया जा सकता है-

सर्वप्रथम अर्हत् की अवधारणा में यह मान्य किया गया है कि प्रत्येक भव्य आत्मा अर्हत् पद की क्षमता धारण करती है। प्रत्येक जीव अर्हत् पद प्राप्त कर सकता है। इससे इस अवधारणा में व्यक्तित्त्व की गरिमा पुष्ट होती है और उसे गौरव होता है कि वह अनन्त शक्ति सम्पन्न है एवं परमात्म शक्ति का प्राकट्य कर सकता है। इससे वह आत्मविकास की ओर अग्रसर होता है।

दूसरा यह है कि अर्हत् पद किसी की कृपा प्रसादी नहीं है। अर्हत् बनाया नहीं जाता, वह स्वयं अपने सामर्थ्य से इस पद का वरण करता है। अर्हतत्त्व कोई याचित पद नहीं वरन् उपार्जित उपलब्धि है। इस प्रकार यह अवधारणा दैववाद, भाग्यवाद और कृपा के स्थान पुरुषार्थवाद का समर्थन करती है। जैन परंपरा में अर्हत् महावीर के जीवनवृत्त के उल्लेख में वर्णन है कि साधनाकाल में स्वयं इन्द्र उनकी सेवा में उपस्थित रहने की प्रार्थना करने पर, महावीर ने इन्द्र से कहा था कि अर्हत् स्ववीर्य अर्थात् स्वपुरुषार्थ से ही परमज्ञान एवं परमसाध्य को प्राप्त करते हैं। किसी की कृपा एवं सहयोग से नहीं। यही एक ऐसा तथ्य है जो व्यक्तित्व की गरिमा को उभारता है।

अवतारवाद आदि में ईश्वर स्वामी होता है तथा व्यक्ति उसका सेवक। जबकि अर्हत् की अवधारणा में स्वयं के स्वामी होने का जीव सामर्थ्य प्रकट करता है। अवतारवाद में कृपा का तत्त्व प्रधान होता है। ईश्वरीय करूणा और कृपा ही अवतारवाद के मूलतत्त्व है जबकि अर्हत् की अवधारणा में स्वबल वीर्य-पुरुषार्थ का प्राधान्य है। संक्षेप में व्यक्तित्व की सर्वोपरिता एवं पुरुषार्थवाद के सिद्धान्त अर्हत् की अवधारणा का महत्त्वपूर्ण एवं प्रमुख दार्शनिक अवदान प्रस्तुत करता है।

अवतार, अर्हत्, बुद्ध, ईश्वर, जीवन्मुक्त का तुलनात्मक अध्ययन-

भारतीय धर्मों में अवतार, ईश्वर, अर्हत्, बुद्ध, जीवन्मुक्त आदि की अवधारणाएं अपना अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। हिन्दु पुराणों में उपास्य के रूप में ईश्वर-अवतार को स्थान मिला, उसी प्रकार जैन धर्म में अर्हत् को बौद्ध धर्म में बुद्ध को तथा सांख्यदर्शन, योगदर्शन और वेदान्त में जीवन्मुक्त को उपास्य माना

गया। इस प्रकार ये अवधारणाएँ भारतीय धर्म/दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

1. प्रत्येक धर्म में महत्त्वपूर्ण बात यह होती है कि-उसका एक धर्मप्रवर्तक होता है, जो धर्म-साधना तथा आचार-संहिता-पद्धति का निर्धारण करता है। वह उस धर्म के धार्मिक, सामाजिक नियमों और मर्यादाओं का संस्थापक होता है। उसके अनुयायियों का उनके प्रति समर्पण भाव होता है तथा उनके वचन प्रमाणभूत होते हैं।

2. सभी धर्मों में साधना हेतु एक आदर्श निर्धारित होता है, जो धार्मिक जीवन का साध्य भी कहा जा सकता है। संसार में धार्मिक दृष्टिकोण से प्रत्येक धर्म के लिए ये दोनों ही तत्त्व अतिमहत्त्वपूर्ण है, क्योंकि जो भी धर्म-प्रवर्त्तक होता है, वह आदर्श रूप तो होता ही है, साथ ही साध्य रूप भी होता है। वह पथ-प्रदर्शक भी होता है। वह प्रथम सोपान भी होता है, तो मंजिल भी होता है।

ईश्वरवादी धर्मों में जहाँ ईश्वर को, ईश्वर के अवतार को धर्मप्रवर्तक मान्य किया तो दूसरी ओर उनको ही साध्य रूप से भी अंगीकार किया गया। अनीश्वरवादी धर्मों में यही रूप धर्मप्रवर्तकों में दृश्यमान हुआ। यही नहीं उसे साधना का उच्चतम आदर्श भी मान्य किया गया। हिन्दु धर्मों में ही नहीं जैन-बौद्ध धर्मों में भी अर्हत्-बुद्ध को आदर्श माना। इस प्रकार प्रत्येक धर्म प्रवर्तक साध्य रूप से आदर्श रहे हैं। हिन्दु धर्म में ईश्वर-अवतार, जैन धर्म में अर्हत्, बौद्ध धर्म में बुद्ध, इस्लाम धर्म में पैगम्बर, ईसाई धर्म में ईश्वर-पुत्र केन्द्रीय तत्त्वबिन्दु रहे हैं।

ईश्वर-अवतार-

हिन्दु पुराणों में ईश्वर-अवतार की अवधारणा स्वीकार की गई है। अवतार सामान्यतया 'नीचे उतरने वाला' अर्थ में रूढ़ है। किन्तु प्रस्तुत संदर्भ में अवतार-दैवीय शक्ति दिव्य लोक से धरा पर अवत्तीर्ण होना उतरना है। जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया है कि ऋग्वेद में अवतार का अर्थ विनाश या संकट दूर करना है। वस्तुतः अवतरण का अर्थ यहाँ विष्णु या ईश्वर के अवतरण से है। किन्तु प्रारम्भ में यह प्रजापति एवं इन्द्र के अवतरण में था। उत्तरकाल में यह विष्णु के लिए ही प्रयुक्त होने लगा। अवतार का प्रारम्भिक वर्णन महाभारत-पुराणों में उपलब्ध होता है।

महाभारत में १० अवतारों का उल्लेख है। विष्णुपुराण में दशावतारों का समग्र रूप से नहीं किन्तु यत्र-तत्र १० अवतारों की सूची उपलब्ध हो जाती है। आगे जाकर भागवत में अवतारवाद चरम उत्कर्ष को प्राप्त हुआ। यहाँ विष्णु के

अवतारों की अनेक सूचियाँ उल्लिखित है। साथ ही 24 अवतारों की अवधारणा भी विकसित हुई है।

महाभारत, रामायण, गीता सभी में अवतार का उद्देश्य दैत्यों का संहार, सृष्टि नियोजन, साधु-रक्षण तथा धर्म की स्थापना रहा है। विष्णु पुराण एवं भागवत में धर्म की रक्षा एवं भू-भार हरण मुख्य प्रयोजन रहा है।

इस प्रकार अवतार की अवधारणा का मनोवैज्ञानिक पक्ष यह रहा है कि मनुष्य को यह विश्वास होता है कि वह संसार चक्र में नितान्त एकाकी नहीं है। अदृश्य शक्ति उसके विकास में सहायक है। उसकी कृपा उसे कष्ट मुक्त कराने में सहायक होती है। यह आस्था और आत्मविशवास ही अवतारवाद की अवधारणा का मूल उत्स है। क्योंकि गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन से पुनः पुनः कहते हैं कि तू मेरे में मन लगा, मैं तुझे सर्व पापों से मुक्त कर दूंगा। इस प्रकार हिन्दु धर्म में अवतार भक्तजनों के योगक्षेम में वाहक एवं लोक कल्याण कर्त्ता है।

अर्हत्-

जैन धर्म में अर्हत् धर्मसंस्थापक के साथ-साथ साध्य रूप में साधना के आदर्श भी हैं। अर्हत् का अर्थ है-पूज्य, प्रशंसक। अर्हत् की अनेक पर्याये हैं यथा- जिन, केवली, सर्वज्ञ, तीर्थङ्कर आदि। 'शक्रस्तव' में अर्हत् की अनेकानेक विशेषताएं इंगित की है। इस आधार पर अर्हत् संसार रूपी समुद्र के तारक, दुःख मोचक, धर्म संघ के संस्थापक कहे गये हैं। अर्हत् पद की प्राप्ति उच्च आध्यात्मिक साधना का प्रतिफल है। अर्हतत्त्व पद का वरण विशेष साधक ही कर सकते हैं, जबकि कैवल्य की प्राप्ति सर्व साधारण को भी हो सकती है। अर्हत्-तीर्थङ्कर नाम कर्म के उपार्जन हेतु समवायाङ्ग में स्पष्ट रूप से उल्लेख है कि विशिष्ट तप-साधना ही इस पद प्राप्ति में आवश्यक है। इस प्रकार जैन धर्म में जीवन्मुक्त अवस्था दो प्रकार की है-

1. अर्हत्-तीर्थङ्कर 2. सामान्य केवली

अर्हत् के विशेष पुण्योदय से गर्भ, जन्म, दीक्षा, कैवल्य तथा निर्वाण कल्याणक (महोत्सव) मनाये जाते हैं। वे संघ की स्थापना करते हैं। किन्तु सामान्यकेवली के उपर्युक्त कल्याण नहीं होते।

जैन मान्यता के अनुसार भरत ऐरवत क्षेत्र में २४-२४ तीर्थङ्कर होते हैं जब कि महाविदेह क्षेत्र में सदैव २० तीर्थङ्कर विद्यमान रहते हैं। वे धर्म मार्ग के उपदेष्टा

होते हैं। वे केवल मार्ग निर्देश करते हैं, प्रेरणा देते हैं किन्तु साधक को उस पर स्वयं चलना होता है, साधना करनी पड़ती है। वे किसी पर कृपा नहीं करते, मात्र पथ-प्रदर्शक एवं उपदेशक होते हैं।

अपने स्वरूप का प्राकट्य स्वयं को करना होता है, अर्हत् तो निमित्तमात्र होते हैं। वस्तुतः कृपा के स्थान पर यहाँ पराक्रम-पुरुषार्थ को प्रधानता दी गई है। कर्मक्षय का पुरुषार्थ स्वयं पर ही निर्भर है। इस प्रकार जैन धर्म में अर्हत् आदर्श रूप, साध्य है किन्तु वह निमित्तमात्र है। साध्य सिद्धि स्वंय के पुरुषार्थ पर निर्भर है।

बुद्ध-

बौद्ध धर्म में बुद्ध को धर्मचक्र का प्रवर्त्तक तथा धर्म का शास्ता कहा गया है। त्रिपिटकों-निकायों एवं धम्मपद, कथावत्थु में बुद्ध को अनुत्पन्न मार्ग का प्रवर्तक, मार्गद्रष्टा ज्ञात कहा गया है। श्रमण, ब्राह्मण, वेदज्ञ, भिषक्, निर्मल, विमल, ज्ञानी, विमुक्त आदि अनेक अभिधानों से बुद्ध को अभिहित किया गया है।

वास्तव में बुद्ध का अर्थ होता है-जागृत! बौद्ध धर्म में बुद्धत्व की प्राप्ति प्रत्येक प्राणी को वीर्य, प्रज्ञा और पुरुषार्थ से होना मान्य किया है। साथ ही प्रत्येक प्राणी में बुद्ध बीज निहित है, बुद्धत्व की क्षमता का धारक है। गौतम भी इसी तरह बुद्ध एवं सम्यक् संबुद्ध बने।

हीनयान के बुद्ध का लक्ष्य अपने क्लेशों से मुक्ति पाकर अर्हत् पद प्राप्त करना है, तो महायानी के बोधिसत्त्व संसार के समस्त प्राणियों के निर्वाणलाभ के पश्चात् स्वयं की मुक्ति चाहता है। बौद्धधर्म के अनुसार कोई भी व्यक्ति दस पारमिताओं की साधना करके बुद्धतत्त्व का वरण कर सकता है। बुद्धत्व की प्राप्ति का मूलाधार बोधिचत्त का उत्पाद है, जिसके उदय से कारुण्य भाव प्रगट होता है, जो कि बुद्धचित्त के लिए आवश्यक है।

जैन धर्म के समान बौद्ध धर्म में भी अर्हत्, बुद्ध, प्रत्येक बुद्ध की अवधारणा संप्राप्त होती है। बौद्ध धर्म में भी प्रारंभ में ७, फिर २४ बुद्धों की अवधारणा प्रचलित हुई। बुद्धत्व का आदर्श लोककल्याण है। बुद्ध ने स्वयं बोधि प्राप्त कर लोककल्याण को परम श्रेयस्कर बताया और उन्होंने यह संदेश दिया कि हे भिक्षुओं! बहुजनों के हित के लिए, सुख के लिए लोक की अनुकम्पा के लिए तथा देव और मनुष्य के सुख के लिए परिचारणा करते रहो। जागृत रहो। बुद्धत्व

का मनोवैज्ञानिक पुट यह है कि व्यक्ति सदा जागृत रह कर, करुणा से सदा लोक कल्याण में तत्पर रहता है।

जीवन्मुक्त-

सांख्य योग दर्शन विवेक सम्पन्न तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त का आदर्श लिए हुए है जो कि राग-द्वेष, कर्म अनुशय को नाश करके मुक्त हुए हैं। किन्तु संघीय व्यवस्था, धर्म संस्थापना का कोई उल्लेख वहाँ नहीं किया है। सर्व दुःख निवृत्ति रूप परम पुरुषार्थ मोक्ष को परम साध्य स्वीकार किया गया है। वैसे जीवन्मुक्त का परम कार्य उपदेश तो है ही।

इस प्रकार संक्षिप्त रूप से अवतार-ईश्वर, अर्हत्, बुद्ध एवं जीवन्मुक्त का तुलनात्मक रूप से विचार किया गया। सभी के जीवन का मूलभूत लक्ष्य सामान्यतया धर्म की संस्थापना या धर्मप्रवर्तन है। अर्हत् एवं बुद्ध से भिन्न अवतार की अवधारणा का लक्ष्य धर्म की संस्थापना के साथ-साथ साधु रक्षण एवं दुष्टों का विनाश भी है।

अर्हत् एवं बुद्ध मूलतः व्यक्तित्व के सर्वोच्च आध्यात्मिक विकास के परिचायक है। इन दोनों परंपरा में आत्मा स्वयं परमात्म स्वरूप अंगीकार कर सकती है, मान्य किया गया है जबकि हिन्दु परंपरा में व्यक्ति को ईश्वर का अंश माना गया है। उसमें एवं ईश्वर में एक अन्तर या दूरी रखी है। उनकी भक्तिमार्गी परम्पराएं स्वामी और दास की अवधारणा से अपना बचाव नहीं कर सकती।

देखा जाय तो वास्तव में अवतारवाद जैविक विकास का विरोधी दिखाई देता है। वह परिचय अवश्य देता है किन्तु विकसित नहीं होने देता। अर्हत् एवं बुद्ध परंपरा में व्यक्ति निम्न स्तर से उच्च स्तर पर आरोहण कर विकास की दिशा में उत्क्रमण कर जाता है, जबकि अवतारवाद में पूर्ण पुरुष ऊपर से नीचे उतरता है। इस प्रकार उत्तरण एवं अवतरण की अपेक्षा से ये अवधारणा भिन्नत्व लिए हुए हैं।

अवतारवाद में उपासक उपास्य नहीं बनता, व्यक्ति ईश्वर सान्निध्य प्राप्त करके भी ईश्वर नहीं बन सकता, जबकि अर्हत् और बुद्ध यह भेद समाप्त कर प्रभुत्ता प्राप्त करते हैं। यह सत्य है कि अर्हत् एवं बुद्ध लोकमंगल का उद्देश्य रखते हुए भी इसमें सक्रिय भागीदार नहीं होते। मात्र वे तो उपदेष्टा व पथप्रदर्शक होते हैं। वे आश्वासन नहीं देते हैं, कि कल्याण मुझ पर निर्भर है। किन्तु अवतार भक्तों के लोककल्याण में सक्रिय भागीदार होते हैं। अर्हत् और बुद्ध की अपेक्षा अवतार

भक्तों के लोककल्याण में सक्रिय भागीदार होते हैं। अर्हत् और बुद्ध की अपेक्षा अवतार की यह भिन्नता वास्तव में मूलरूप से अपने-अपने धर्मों की निवृत्तिमूलक एवं प्रवृत्तिमूलक दृष्टिकोण को लेकर है। जैन-बौद्ध परंपरा निवृत्ति मूलक है, तो हिन्दु परंपरा मूलतः प्रवृत्ति मूलक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अर्हत्, बुद्ध, अवतार, ईश्वर, जीवन्मुक्त की अवधारणा में बहुत कुछ समानता है, तो कुछ मौलिक अन्तर भी है।

जहाँ तक संख्या का प्रश्न है सभी परम्पराएं २४ की संख्या मान्य करती है। अवतार एवं बुद्ध की संख्या में दस एवं सात की संख्या, पच्चीस की संख्या उपलब्ध होती है किन्तु अर्हत् की संख्या सर्वत्र २०/२४ प्राप्त होती है। वैसे वेद, आगम तथा त्रिपिटकों में संख्या का उल्लेख दृष्टिगत नहीं होता। इससे यही माना जा सकता है यह परम्परा भी परवर्ती ही है एवं एक ही समय में पनपी है। क्योंकि पुराण, आगम एवं निकायों का समय ई. पू. दूसरी तीसरी शताब्दी विद्वानों ने मान्य किया है। इससे यही फलित होता है कि यह संख्या भी साथ-साथ ही प्रचलित हुई हो।

वस्तुतः हिन्दू, जैन एवं बौद्ध परंपराएँ एक ही परिवेश में पल्लवित हुई द्योतित होती है। अतः भिन्नत्व होने पर भी एक-दूसरे के अत्यन्त निकट दृष्टिगत होती है। मूलभूत लक्ष्य में सभी परम्पराएँ एक-दूसरे से पृथक् नहीं दिखाई देती। इस प्रकार तुलनात्मक अध्ययन से यही प्रतीति होती है कि ये सभी परम्पराएं एक-दूसरे से कुछ न कुछ ग्रहण करती हुई है।

卐 卐 卐

अध्याय-4

सिद्ध-पद

पंच परमेष्ठी के द्वितीयपद-सिद्ध की अवधारणा

1. सिद्ध-मुक्तात्मा

-सिद्ध पद का व्युत्पत्तिपरक अर्थ

-सिद्ध पद की पर्यायें

-सिद्ध के भेद, गुण

2. सिद्धिगति-स्वरूप स्थिति

-मोक्ष-मोक्ष के भेद

3. अष्टकर्मक्षय स्वरूप सिद्धि

-अष्टकर्म-घाती एवं अघाती कर्म

4. मुक्त जीवों का उर्ध्वगमन

-सिद्धों का अनुपरागमन

5. अर्हतापेक्षा भिन्नता

-अवतार, ईश्वर से भिन्न सिद्धात्मा

6. सिद्ध की ऐतिहासिकता-

(क) हिन्दु एवं बौद्ध परम्परा में

(ख) जैन पारम्परिक रूप में-

1. अंग आगमों में

2. अंग बाह्य आगमों में

7. अपवर्ग-मोक्ष विषयक इतर दर्शनों की अवधारणा-

(अ) वैदिक (वेद-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषदों में) मुक्ति

(ब) मीमांसा दर्शन में मोक्ष

(इ) न्याय-वैशेषिक में मोक्ष

(ई) सांख्य-योग दर्शन में मुक्ति

(उ) बौद्धमत में निर्वाण

8. मुक्तावस्था का तुलनात्मक अध्ययन

सिद्ध मुक्तात्मा

जैन परम्परा आत्मा की शुद्धावस्था सिद्धावस्था स्वीकार करती है। क्योंकि इस अवस्था में सर्व कर्म मल का क्षय हो जाने से वह मुक्त हो जाता है। जब तक वह कर्म-संयोगी है, तब तक वह संसारी है, छद्मस्थ है। कर्म वियोगी अवस्था ही मुक्तावस्था है। इसी मुक्तात्मा को जैन परम्परा में सिद्ध शब्द से अभिप्रेत किया गया है। इस प्रकार जिन्होंने आठ कर्मों के बन्धन को नष्ट किया है, ऐसे आठ महागुणों सहित परम, लोकाग्र में स्थित और नित्य सिद्ध होते हैं।[१] यह कर्ममल मुक्त आत्मा उर्ध्वलोक के अन्त को प्राप्त करके सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त, अनिन्द्रिय सुख का अनुभव करता है।[२] वह पाँच प्रकार के संसार यथा-प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेशबन्ध और मिथ्यात्व का संसर्ग रूपी भाव संसार से मुक्त होता है।[३] जिनके द्रव्य कर्म और भावकर्म भी नष्ट हो गये हैं।[४] जो शरीर रहित हैं, अनंत सुख और अनंत ज्ञान में आसीन है और परम प्रभुत्व को प्राप्त है।[५] वे शुद्धचेतनात्म है अर्थात् केवलज्ञान और केवल दर्शनोपयोग लक्षण वाले हैं।[६] अत्यन्त शान्तिमय है, निरन्जन हैं, नित्य है, कृतकृत्य हैं।[७] जो तीन लोक के मस्तक के शेखर स्वरूप हैं, दुःखों से रहित है, सुख रूपी सागर में निमग्न, अनवद्य अर्थात् निर्दोष हैं। जिन्होंने सर्वांग से अथवा समस्त पर्यायों सहित सम्पूर्ण पदार्थों को जान लिया है। जो वज्रशिला निर्मित अभग्न प्रतिमा के समान अभेद्य आकार से युक्त हैं। जो सब अवयवों से पुरुषाकार होने पर भी गुणों से पुरुष के समान नहीं है। क्योंकि पुरुष सम्पूर्ण इंद्रियों के विषयों को भिन्न देश में जानता है, परन्तु जो प्रतिप्रदेश में सब विषयों को जानते हैं, वे सिद्ध हैं।[८] जो इन्द्रियों के व्यापार से युक्त नहीं हैं, अवग्रह आदि के द्वारा भी पदार्थ के ग्राहक नहीं है और जिनके इन्द्रिय सुख भी नहीं हैं, ऐसे अतीन्द्रिय अनन्तज्ञान और सुखवाले जीवों को इन्द्रियातीत सिद्ध जानना चाहिए।[९] इस प्रकार निश्चय से शुद्धात्मोपलब्धि ही सिद्ध पर्याय का लक्षण है।

---

१. नियम सार ७२, क्रिया कलाप ३.१.२.१४२
२. पंचास्तिकाय २८, पंच सूत्र (चिरंतनाचार्य) १.७.
३. सर्वार्थसिद्धि २.१०.१६९.७
४. राज वार्तिक २.१०.२.१२४.२३.
५. बृहद् नयचक्र १०७
६. पंचास्तिकाय ता. वृ १०१, १७४.१३
७. पंचसंग्रह (प्रा.) ३१, धवला १.१, १, २३-१२७-२००, गोम्मट सारजीव. ६८.१७७.
८. धवला १, १, १, २६-२८/४८, महापुराण २१.११४-११८, द्रव्यसंग्रह १४.४१, तत्त्वानुशासन १२०-१२२
९. परमात्म प्रकाश १.१६-२५, चारित्रसार-३३-३४.

सिद्धि प्राप्त करके सदाशिवत्व के कारण परब्रह्म स्वरूप बन जाता है। गुणोत्कर्ष के कारण मंगल के आवासरूप हो जाता है। जन्मादि के कारण न रहने से जन्म जरा और मरण से रहित उनके सर्व अशुभ सदा के लिए नष्ट हो जाते हैं। अशुभ की अनुबंध शक्ति से भी रहित हो वह अपने शुद्ध आत्म स्वरूप को प्राप्त, गमनादि क्रिया से रहित स्वसहज स्वभाव में स्थित, अनन्तज्ञानवान् और अनंतदर्शनवान् हो जाता है।[१]

उन सिद्धों का सुख कैसा होता है? वेदनीय कर्म के क्षय से उत्पन्न उस विषय में कथन है कि जैसे किसी को समस्त शत्रुओं का क्षय होने से, सब व्याधियों का अभाव होने से, सर्व अर्थों का संयोग होने से और सब इच्छाएँ फलीभूत हो जाने से जो सुख प्राप्त होता है, उसकी अपेक्षा सिद्धों का सुख अनन्त गुणा होता है। क्योंकि उनके भावशत्रुओं का क्षय हो चुका है। यह इस प्रकार कि राग-द्वेष मोहित जीवों के अपकारी होने से भाव शत्रु हैं। उन सबका क्षय हुआ है। कर्म का उदय पीड़ाजनक होने से व्याधिरूप हैं। वे कर्म नष्ट हो गये हैं, उत्कृष्ट लब्धियाँ अर्थ हैं, वे प्राप्त हो चुकी है और वे निस्पृहता में स्थित हैं।

इस प्रकार सिद्धों का सुख सूक्ष्म है, उसको तात्त्विक रूप से कोई दूसरा जान नहीं सकता। सिद्धों का सुख वास्तव में अचिन्तनीय है।[२] क्योंकि वह बुद्धि का विषय ही नहीं है। वह सुख एक सिद्ध की अपेक्षा से सादि अनन्त है अर्थात् उसकी आदि तो है, पर अन्त नहीं है।

परन्तु प्रवाह की अपेक्षा से अनादि अनन्त है। इसी प्रकार एक सिद्ध की अपेक्षा से भी समझना चाहिये।[३]

सिद्धपद का व्युत्पत्ति परक अर्थ

सिद्ध का तात्पर्य है कि जिन गुणों के द्वारा जो निष्पन्न होता है, परिनिष्ठित होता है, वह सिद्ध कहलाता है। यथा सिद्धौदन। जिनका पुनः साधन नहीं किया जाता।[४]

---

१. पंचसूत्र ५.१
२. विशेषा. भाष्य गा. ३१८३-३१८८
३. आव. सू. ९७५-३२८
४. धव. २, अधि, आव. निर्युक्ति ३०२७

किन्तु जैन परम्परा में इस सिद्ध पद का सूक्ष्मतया निरूपण किया है-

षिञ् बन्धने (पाणिनीय. १.४.७८)

1. सितं-बद्धमष्टप्रकार कर्म्मेन्धनं ध्मातं-दग्धं जाज्वल्यमानशुक्लध्यानानलेन यैस्ते निरुक्तविधिना सिद्धाः-अर्थात् सित अर्थात् बांधा हुआ जो आठ प्रकार का कर्म रूपी ईंधन जिसने 'ध्मात' यानि जाज्वल्यमान शुक्लध्यान रूपी अग्नि से जलाकर भस्मीभूत किया है, वह सिद्ध कहलाता है। इस प्रकार 'सिद्ध' शब्द का निरुक्तविधि से अर्थ होता है।[१]

2. अथवा 'षिधु गतौ'[२] इति वचनात् सेधन्ति स्म अपुनरावृत्या निर्वृत्तिपुरीमगच्छन्-अथवा 'षिध्' धातु का गति अर्थ होने से जाने के पश्चात् वापिस न आना पड़े इस प्रकार जो मोक्ष नगरी में गये हैं, वे सिद्ध कहलाते हैं।

3. अथवा 'षिधु संराद्धौ'[३] इति वचनात् सिद्धयन्ति स्म-निष्ठितार्था भवन्ति स्म-षिध् धातु का 'संशद्धि' (निष्ठा) अर्थ होने से जिनका प्रयोजन सिद्ध हो गया, वह सिद्ध कहलाता है।

4. अथवा 'षिधूञ् शास्त्रे माङ्गल्ये च'[४] इति वचनात् सेधन्ति स्म शासितारोऽभूवन् माङ्गल्यरूपतां चानुभवन्ति स्मेति सिद्धा-अथवा 'षिध्' धातु का अर्थ शास्त्र और मंगल होता है, इससे जो शासक तथा जो मंगलरूप है, वह सिद्ध कहलाता है।

5. अथवा सिद्धाः- नित्याः अपर्यवसानस्थितिकत्वात्-अथवा सिद्ध अर्थात् नित्य, क्योंकि उनकी स्थिति अनन्त होती है।

6. अथवा प्रख्यात भव्यैरूपलब्धगुणसन्दोहत्वात्-अथवा प्रख्यात हैं, क्योंकि भव्य जीव उनके गुण के समूह को अच्छी तरह जानते हैं। जैसा कि कहा गया है कि-

''ध्मातं सितं येन पुराणकर्म्म यो वा गतो निर्वृतिसौधमूर्ध्नि।
ख्यातोऽनुशास्ता परिनिष्ठितार्थो यः सोऽस्तु सिद्धः कृतमङ्गलो में।।''[५]

-बद्ध प्राचीन कर्मों को भस्मीभूत कर दिया, जो मोक्ष रूपी महल की टोच पर ऊपर जाकर बैठे हैं, जो प्रसिद्ध हैं, जो अनुशासित है, कृतार्थ है, वे सिद्ध भगवान मेरा मङ्गल करे।

---

१. विशेषावश्यक भाष्य-२, गा. ३०३३-३०३७, नंदी सू. ५४
२. पाणिनीयधातुपाठ ४८ ३. वही १२६९.
४. पाणिनीय धातुपाठ ४९. ५. भगवती सूत्र टीका मंगलाचरण

7. तहा सिद्धाणि परमाणंदमहूसव महाकल्लाणनिरूवमसोक्खाणि, णिप्पंकसुक्कज्झाणाइ अचिंतसत्तिसामत्थओ, सजीववीरिएणं जोगनिरोहाइणा महापयत्तेण त्ति सिद्धा[१] -परम आनंद रूप, महोत्सव रूप, महाकल्याणरूप, निरूपम सुख, अचल शुक्लध्यान आदि की अचिन्त्य शक्ति से सामर्थ्य से जीव के परामक्रमपूर्वक योग का निरोध करने रूप जिन्होंने महाप्रयत्न से सिद्ध किया है, अतः वे सिद्ध हैं।

8. अथवा अट्ठपयारकम्मक्खएण वा सिद्ध[२] -आठ प्रकार के कर्मों को क्षय करने पर जो सिद्ध हुए हैं वे सिद्ध हैं।

9. अथवा दीहकालरयं जंतु-कम्म से सियमट्ठहा।

सियं धंतं ति सिद्धस्स सिद्धत्तममुवजायइ।[३]- प्रवाह की अपेक्षा से दीर्घकाल की स्थितिवाले जो बांधे हुए आठ प्रकार के कर्मों को भव्य जीवने ध्यान रूपी अग्नि द्वारा भस्मीभूत किया है। अथवा जीव का सर्व कर्म (संसारनुबंधी होने से सित अर्थात् अशुभ अथवा सित यानि जीव ने ग्रहण किया हुआ, व्याप्त हुआ या संश्लिष्ट हुआ अथवा आठ प्रकार से विशेषित किया हुआ या क्षय किया हुआ वह शेषित कहलाता है। जिस प्रकार अग्नि के द्वारा लोहे का मल भस्म किया जाता है उसी प्रकार तप के द्वारा बांधा हुआ कर्म जिसका भस्म हुआ वह सिद्ध कहलाता है।[४]

10. कर्म प्रपञ्च निर्मुक्त-जो कर्म के प्रपञ्च से मुक्त हो।[५]

11. अपगतसकल कर्ममले-सकल कर्म चला गया है वह सिद्ध।[६]

12. अशेष द्वन्द्व रहिते - द्वन्दों क्लेशों से रहित[७]

इस प्रकार सिद्ध शब्द के अनेक व्युत्पति-निर्युक्ति परक अर्थ उपलब्ध होते हैं। अनेक अर्थों से समन्वित सिद्ध शब्द में जैन परम्परा कर्मक्षय सिद्ध को स्वीकार करती है।

मूलाचार में सिद्ध शब्द की व्युत्पति उपर्युक्त प्रकार से ही की है किन्तु उसका उदाहरण दिया है कि लोहकार जिस प्रकार अग्नि में लोहे को तपाकर स्वच्छ करता है उसी प्रकार बावीस परीषहों रूपी अग्नि के द्वारा कर्मबंध को ध्वंस

१. महानिशीथ सूत्र उपधान पद अ. ३ २. महानिशीथ उपधान सूत्र संदृब्ध अ.३
३. विशेषावश्यक भाष्य गा. ३०२९
४. विशेषावश्यकभाष्य-२ गा. ३०३३-३०३७, नंदीसूत्र पृ. ५४
५. नंदी ५४. ६. चं पं पाहु, दशा, भ. दश.
७. सूत्र १.१.४.

करके, शरीर को, इन्द्रियों को त्याग करके निर्मल होकर केवल ज्ञान को प्राप्त करके सिद्ध होते हैं। यहाँ २२ परीषहों को कर्मनाश के लिए महत्त्वपूर्ण बताया है।[१]

यहाँ व्युत्पत्ति-निर्युक्ति परक अर्थ में व्यावहारिक एवं पारमार्थिक दृष्टिकोण से अर्थ संगत किया है। वास्तव में अनेक अर्थों में अभिव्यञ्जित सिद्ध पद के अर्थसंकुल में जैन परम्परा कर्मक्षययुक्त (मुक्त) जीव को ही उपयुक्त समझती है, इसी अर्थ को सार्थक करते हुए अपना मौलिक शब्द प्रयुक्त करती है।

सिद्ध पद की पर्यायें

जैन आगम जैसे कि अर्थप्रधान हैं, उनमें सिद्ध शब्द अनेक अभिधानों से प्रयुक्त हुआ है। यथा-सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, पारगत, परम्परागत, परिनिवृत्त, अन्तकृत, सर्वदुःखप्रहीण, कालगत आदि। अधिकांशतः इन पर्यायों का कथन एक साथ भी किया गया है एवं स्वतन्त्र रूप से भी उपलब्ध होता है। यद्यपि सिद्ध परमेष्ठी की ये सब पर्यायें समान अर्थ ज्ञापित करती है तथापि किंचित् अर्थभिन्नता को भी ग्रहण किये हुए है। अब हम देखगें कि इन पर्यायों में क्या अर्थभेद समाया हुआ है?

1. सिद्ध-जो कृतकृत्य हो जाने से सिद्ध है-

जिन गुणों के द्वारा जो निष्पन्न होता है वह सिद्ध है।[२] यहाँ अभीष्ट की सिद्धि अर्थात् आत्मा से संबंधी सर्व कार्य निष्पन्न हो जाना तथा आत्मा से संलग्न अष्टकर्मों का पृथक्करण रूप सिद्ध होना ही अर्थ संगत है। कर्मबंधनों को नष्ट करने में सिद्धता हांसिल कर लेने से सिद्ध शब्द उपयुक्त ही है।

2. बुद्ध-

केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टय सहित होने से आत्मा बुद्ध है अथवा बुद्धि के द्वारा सब कुछ जानते हैं अतः बुद्ध है। अज्ञाननिद्रा से प्रसुप्त जगत् के विषय में परोपदेश के बिना जीवादि तत्त्वों के ज्ञाता होने से बुद्ध है।

यहाँ बुद्ध शब्द का प्रयोग अनन्तज्ञानी, सर्वज्ञता को सूचित करता है। कुछ अन्य दर्शन मुक्तात्मा में ज्ञानादि गुणों का अभाव स्वीकार करते हैं। उनके मत का खंडन करने के लिए तथा सिद्ध के अर्थ का विस्तार करने के लिए उनको बुद्ध शब्द से अभिप्रेत किया है। आत्मा के ज्ञान गुण का कभी नाश नहीं होता वरन् कर्मक्षय के पश्चात् शुद्ध, अनन्त ज्ञान का प्राकट्य होता है।[३]

---

१. मूलाचार ७ अधिकार ६-७

२. विशेषा, ३०२७, मूलाचार ७.६-७, भगवती २.१.१६.

३. परमात्म प्रकाश टी. १.१३.२१.५, भाव पाहुड टी. १४९.२९३.१४ भग. २.१.१९

मुक्त

जिनके द्रव्य और भाव दोनों कर्म नष्ट हो गये हैं, वे मुक्त हैं।[१] वे पाँच प्रकार के संसार से निवृत्त हैं।[२] परम प्रभुत्व को प्राप्त हैं।[३] शुद्धचेतनात्म या केवलज्ञान-से मुक्त हैं।[४]

पारगत

संसार के अथवा सर्व प्रयोजन समूह के पार होने से पारगत है अर्थात् संसार के पार पहुँचे है।[५] संसार से तात्पर्य लोक है। चौदह राज लोक के अग्र स्थान पर जहाँ पर लोक का अन्त हो जाता है वहाँ सिद्ध परमेष्ठी प्रतिष्ठित हो गये हैं। अनादिकाल से भव भ्रमण करते हुए इस भव सागर को, भवाटवी को पार कर लिया है।

परम्परागत

अनुक्रम से संसार के पार पहुँचा हुआ[६], परम्परागत कहलाता है। कर्ममुक्तता जीव की एक साथ नहीं होती। अपितु अनुक्रम से सर्वकर्मों का क्षय करके, गुणश्रेणी आदि प्रक्रिया के अनन्तर सिद्धत्व प्राप्त होता है। चतुर्दश गुणस्थान पर आरूढ होकर अथवा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का क्रमपूर्वक आसेवन करके मुक्ति स्थान को प्राप्त करने से परम्परागत है।

परिनिवृत्त

सांसारिक प्रवृत्तियों से जो सम्पूर्ण रूप से निवृत्त हो गये हैं तथा निर्वाण को प्राप्त हो गये हैं, ऐसे सिद्ध परिनिवृत्त कहलाते हैं।[७]

अन्तकृत

जिसका कार्य समाप्त हो गया है, वह अंतकृत् है। तात्पर्य यह है कि अंतिम कार्य सिद्धत्व को प्राप्त करने का, वह कर लिया हो उसे अन्तकृत कहते हैं।[८]

---

१. भगवती २.१.१६, रा. वा. २.१०.२.१२४.२३
२. सवार्थसिद्ध २.१०.१६९.७
३. नयचक्र वृ. १०७
४. पंचास्तिकाय ता. वृ. १०९, १७४, १३ (४) पं. का. मू. २८
५. भगवती २.१.१६
६. वही
७. वही
८. भगवती २.१.१६

सर्वदुःखप्रहीण

जिनके समस्त दुःखों का प्रकृष्ट रूप से नाश हो गया है। अशेष दुःखों को निर्मूल करके अव्याबाध सुख का जिन्होंने वरण किया है वे सिद्ध हैं।

कालगत

समस्त काल को पार करके जिन्होंने शाश्वतता को वरण किया हो, वे कालगत कहलाते हैं। सिद्धों ने काल की समस्त स्थिति, पर्यायों को समाप्त कर दिया है, अतः वे कालगत कहलाते हैं।

उन्मुक्तकर्मकवच

सर्व कर्मों से उन्मुक्त होने से, छूट जाने से उन्मुक्त कर्म कवच कहे जाते हैं। वे अजर = उम्र का अभाव, अमर = मृत्यु का अभाव, असंग = सर्व प्रकार के क्लेशों का अभाव होने से असंग कहे जाते हैं।[1]

लोकाग्रमुपगत-लोक के अग्र स्थान के प्राप्त कर लेने से लोकाग्रमुपगत कहे जाते हैं।[2]

इसके अतिरिक्त अन्य पर्यायें भी उल्लिखित हैं[3]- असंसारसमापन्नक, भगवान् अनारम्भी, अलेशी, अवीर्य, चरमशरीरी, सिद्धिगतिक, अनिन्द्रिय, अकायिक, अवेदक, अनाहारक, अलमस्तु, आदि अनेक संज्ञाएँ सिद्ध परमेष्ठी की उपलब्ध होती है। जिसका उल्लेख हम पूर्व में कर चुके हैं।

सिद्ध के भेद

सिद्ध के पन्द्रह भेद निम्न है[3]

1. तीर्थसिद्ध-जो तीर्थ की स्थापना के पश्चात् तीर्थ में दीक्षित होकर सिद्ध हो हैं, जैसे ऋषभदेव के गणधर ऋषभसेन आदि।

2. अतीर्थसिद्ध-जो तीर्थ की स्थापना से पहले सिद्ध होते हैं, जैसे मरूदेवी माता।

3. तीर्थकरसिद्ध-जो तीर्थङ्कर के रूप में सिद्ध होते हैं, जैसे-ऋषभ आदि।

4. अतीर्थंकरसिद्ध-जो सामान्य केवली के रूप में सिद्ध होते हैं।

5. स्वयंबुद्धसिद्ध-जो स्वयं बोधि प्राप्त कर सिद्ध होते हैं।

---

१. आव. नियुक्ति १०१ (९८७)

२. प्रतिक्रमण सिद्धस्त्व सूत्र (सिद्धाणं-बुद्धाणँ)

३. स्थानांग. १ २१४-२२९

6. प्रत्येकबुद्धसिद्ध-जो किसी एक बाह्य निमित्त से प्रबुद्ध होकर सिद्ध होते हैं।

7. बुद्धबोधितसिद्ध-जो आचार्य आदि के द्वारा बोधि प्राप्त कर सिद्ध होते हैं।

8. स्त्रीलिंगसिद्ध-जो स्त्री के शरीर से सिद्ध होते हैं।

9. पुरुषलिंगसिद्ध-जो पुरुष के शरीर से सिद्ध होते हैं।

10. नपुंसकलिंगसिद्ध-जो कृत नपुंसक के शरीर से सिद्ध होते हैं।

11. स्वलिंगबुद्ध-जो निर्ग्रस्थ के वेश में सिद्ध होते हैं।

12. अन्यलिंगसिद्ध-जो निर्ग्रन्थेतर भिक्षु के वेश में सिद्ध होते हैं।

13. गृहलिंगसिद्ध-जो गृहस्थ के वेश में सिद्ध होते हैं।

14. एक सिद्ध-जो एक समय में एक सिद्ध होते हैं।

15. अनेकसिद्ध-जो एक समय में दो से लेकर उत्कृष्टत: एक सौ आठ तक सिद्ध होते हैं।

मोक्ष एक है[१], सिद्धि एक है[२], सिद्ध एक है[३], परिनिर्वाण एक है[४], परिनिर्वृत एक है[५], तीर्थ सिद्धों की वर्गणा एक है[६], अतीर्थ सिद्धों की वर्गणा एक है[७], स्वयंबुद्ध सिद्धों की वर्गणा एक है[८], प्रत्येक बुद्ध सिद्धों की वर्गणा एक है[९], बुद्ध बोधित सिद्धों की वर्गणा[१०], एक है, स्त्रीलिंग सिद्धों की वर्गणा एक है[११], पुरुषलिंग सिद्धों की वर्गणा एक है[१२], नंपुसक सिद्धों की वर्गणा एक है[१३], सलिंग सिद्धों की वर्गणा एक है[१४], अन्यलिंगसिद्धों की वर्गणा एक है[१५], गृहलिंग सिद्धों की वर्गणा एक है[१६], एक सिद्ध की वर्गणा एक है[१७], अनेक सिद्धों की वर्गणा एक है[१८], अप्रथम समय सिद्धों की वर्गणा एक है[१९], इसी प्रकार यावत् अनन्तसमय सिद्धों की वर्गणा एक है।[२०]

यहाँ इन सूत्रों में सिद्ध की एकता का प्रतिपादन किया गया है और उनके पन्द्रह भेदों का निरूपण किया गया है। जीव दो प्रकार के होते हैं-1. सिद्ध 2. संसारी

कर्ममुक्त जीव सिद्ध कहलाते हैं। सिद्धों में आत्मा का पूर्ण विकास हो चुका है। वास्तव में आत्मिक विकास की दृष्टि से उनमें कोई भेद नहीं है। इसे अभेद

१-२०. स्थनांग सूत्र-१.१०, ५१, ५२, ५३, ५४, २१४, २१५, २१६, २१७, २१८, २१९, २२०, २२१, २२२, २२३, २२५, २२६, २२८, २२९

की दृष्टि से यहाँ कहा गया है। उनमें भेद का प्रतिपादन पूर्वजन्म के विविध संबंध सूत्रों के आधार पर किया गया है। इन पन्द्रह भेदों के छः वर्ग बनते हैं-

(1) प्रथम वर्ग से यह ध्वनित होता है कि आत्मिक निर्मलता प्राप्त हो तो संघबद्धता और संघमुक्तता इन दोनों अवस्थाओं में मुक्ति प्राप्त की जा सकती है।

(2) दूसरे वर्ग की ध्वनि यह है कि आत्मिक निर्मलता प्राप्त होने पर हर व्यक्ति सिद्धि प्राप्त कर सकता है, फिर वह संघ क नेता हो या उसका अनुयायी।

(3) तीसरे वर्ग का आशय यह है कि बोधि की प्राप्ति होने पर सिद्धि प्राप्त की जा सकती है, फिर वह (बोधि) किसी भी प्रकार से हुई हो।

(4) चौथे वर्ग का हार्द यह है कि स्त्री और पुरुष दोनों शरीरों से सिद्धि प्राप्त की जा सकती है।

(5) पाँचवें वर्ग से यह ध्वनित होता है कि आत्मिक निर्मलता और वेशभूषा का घनिष्ठ संबंध नहीं है। साधना की प्रखरता प्राप्त होने पर किसी भी वेश में सिद्धि प्राप्त की जा सकती है।

(6) छठा वर्ग सिद्ध होने वाले जीवों की संख्या और समय से संबंधित है।

विशेषावश्यक भाष्य में सिद्ध के व्यावहारिक चौदह भेदों का कथन किया है जिसका उल्लेख हम पूर्व में कर चुके हैं।

सिद्ध परमेष्ठी के गुण-

समवाय के 31 वें आलापक में सिद्ध के इकतीस गुणं का निर्देश है। यह निर्देश दो प्रकार से प्राप्त होता है। समवायांग में निर्दिष्ट ये इकतीस गुण आठ कर्मों के क्षय के आधार पर संग्रहित है-

1. ज्ञानावरण कर्म के क्षय से निष्पन्न-५ (१-५)
2. दर्शनावरण कर्म के क्षय से निष्पक्ष-९ (६-१४)
3. वेदनीय कर्म के क्षय से निष्पन्न-२ (१५-१६)
4. मोहनीय कर्म के क्षय से निष्पन्न-२ (१७-१८)
5. आयुष्य कर्म के क्षय से निष्पन्न-४ (१९-२२)
6. गोत्र कर्म के क्षय से निष्पन्न-२ (२३-२४)
7. नाम कर्म के क्षय से निष्पन्न-२ (२५-२६)
8. अन्तराय कर्म के क्षय से निष्पन्न-५ (२७-३१)

इस प्रकार अष्ट कर्मों के क्षय से निष्पन्न ये ३१ गुण हैं।

दूसरा प्रकार

आवश्यक सूत्र के प्रतिक्रमणाध्ययन[1] में ये दूसरे प्रकारसे निर्दिष्ट हैं-

संस्थान, वर्ण, गंध, रस और स्पर्श तथा वेद के आधार पर इकतीस गुणों का विभाजन इस प्रकार है-

1-5 संस्थान के पाँच भेद-न परिमण्डल, न वृत्त, न त्रिकोण, न चतुष्कोण और न आयत।

6-10 वर्ण के पाँच भेद-न कृष्ण, न नील, न लाल, न पीत, न शुक्ल।

11-12 गंध के दो भेद-न सुगंध, न दुर्गन्ध।

13-17 रस के पाँच भेद-न तिक्त, न कटु, न कषाय, न अम्ल, न मधुर।

18-25 स्पर्श के आठ भेद-न कर्कश, न मृदु, न गुरु, न लघु, न शीत, न उष्ण, न स्निग्ध, और न रूक्ष।

26-28 वेद के तीन भेद-न स्त्रीवेद, न पुरुष वेद, न नपुंसक वेद

21-31 न शरीरवान्-न जन्मधारी, और न लेपयुक्त।

ये इकतीस गुण आचारांग के आत्म स्वरूप की व्याख्या में भी निर्दिष्ट है।[2]

सिद्धों के गुणों में इन इकतीस गुणों के अतिरिक्त प्रसिद्ध आठ गुणों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। ये आठ गुण हैं-

(1) अनन्त ज्ञान, (2) अनन्त दर्शन (3) अव्याबाध सुख (4) क्षायिक सम्यक्त्व (5) अजरामर (6) अमूर्त्त (7) अगुरुलघु (8) अनन्तवीर्य[3]

दिगम्बर मान्यता में इन आठ गुणों में कुछ भिन्नता दृष्टिगत होती है। ये अजरामर एवं अमूर्त्त स्थान पर सूक्ष्मत्व एवं अवगाहनत्व स्वीकार करते हैं।[4]

भगवती आराधना एवं धवला में सिद्ध परमेष्ठी के आत्यन्तिक गुणों का भी निर्देश है। वे हैं-अकषायत्व, अवेदत्व. अकारकत्व, देहराहित्य, अचलत्व, अलेपत्व। यह उल्लेख है कि सिद्धों के आठ गुणों में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा चार गुण मिलाने पर बारह गुण भी माने गये हैं।[5]

---

१. आव. प्रति. पृ. १५१-१५२

२. आचार १.५.६. १७६

३. प्रवचन सार. ६०, धवला ७-२, १. ७. गा. ४-११, १४-१५

४. लघु सिद्ध भक्ति-८, वस्तु. श्रा. ५३७, द्र. सं. टी. १४.४२.२.

५. भगवती आराधना-२१५७.१८४७, धवला: ७.२, १, ७ गा. ४-११, १४-१५

वस्तु के अनन्तधर्मात्मक होने से सिद्ध परमेष्ठी के भी अनन्त गुण हो जाते हैं। प्रस्तुत में सिद्ध के प्रसिद्ध आठ गुण एवं इकत्तीस गुणों के साथ कुछ अतिरिक्त गुणों का भी उल्लेख किया है। वास्तव में ये सर्व गुण अष्ट कर्म के क्षय की अपेक्षा से ही निष्पन्न होते हैं, जैसा कि हमने पाया है। गुणों का प्रादुर्भाव कर्मों के अपगम पर निर्धारित है।

2. सिद्धिगति-स्वरूप स्थिति

जब आत्मा शुद्धावस्था को प्राप्त करती है, जो कि सर्व कर्म-मलों से मुक्त होने के पश्चात् की स्थिति है। उस मुक्तावस्था के पश्चात् उसका अवस्थान कहाँ होता है? वेदान्ती आत्मा को व्यापक मानते हैं। तथा शुद्धात्मा ब्रह्म में विलीन हो जाती है, स्वीकार किया है। बौद्ध दर्शन का निर्वाण 'नाश' को सूचित करता है। जैन परम्परा ही सिद्धि गति का स्वरूप निर्धारित करती है। जब आत्मा सर्व कर्मों का क्षय कर देती हैं, तब उर्ध्वगमन स्वभाव[1] के फलस्वरूप उर्ध्वगमन करती हुई सिद्धलोक में जाकर अवस्थित होती है। यह सिद्धभूमि ईषत्प्रागभार पृथ्वी के ऊपर स्थित है। एक योजन में कुछ कम है। ऐसे निष्कम्प व स्थिर स्थान में सिद्ध स्थित होते हैं।[2]

यह सिद्धिगति सर्वार्थसिद्ध इन्द्र के ध्वजदण्ड से १२ योजनमात्र ऊपर जाकर आठवीं पृथ्वी पर स्थित हैं। उसके उपरिम और अधस्तन तल में से प्रत्येक तल का विस्तार पूर्व पश्चिम में रूप से रहित (अर्थात् वातवलयों की मोटाई से रहित) एक राजू प्रमाण है। वेत्रासन के सदृश वह पृथिवी उत्तर दक्षिण भाग में कुछ कम सात राजू लम्बी है। इसकी मोटाई आठ योजन है। यह पृथिवी घनोदधिवात, घनवात और तनुवात इन तीन वायुओं से युक्त है। इनमें से प्रत्येक वायु का बाहल्य २०,००० योजन प्रमाण है। उसके बहुमध्य भाग में चाँदी एवं सुवर्ण के सदृश और नाना रत्नों से परिपूर्ण ईषत्प्रागभार नामक क्षेत्र है। यह क्षेत्र उत्तान धवल छत्र के सदृश या ऊँधे कटोरे[3] के सदृश आकार से सुन्दर और ४५,००,००० लाख योजन (मनुष्यक्षेत्र) प्रमाण विस्तार से संयुक्त है। उसका मध्य बाहुल्य (मोटाई) आठ योजन है उसके आगे घटते-घटते अंत में एक अंगुलमात्र। अष्टमभूमि में स्थितसिद्धक्षेत्र की परिधि मनुष्य क्षेत्र की परिधि के समान है।[4]

---

१. आव. १५७-३२६

२. भगवती आ. २१३३

३. तिलोयपण्णती ७.६५२-६५८

४. वही

उस आठवीं पृथिवी के ऊपर ७०५० धनुष जाकर सिद्धों का आवास है। इस आवास क्षेत्र का प्रमाण (क्षेत्रफल)-है ८४०४४०८१५६२५/८ योजन।[१]

जहाँ पर जन्म, जरा, मरण, भय, संयोग, वियोग, दुःख, संज्ञा और रोगादि नहीं होते, वह सिद्धिगति कहलाती है।[२]

मोक्ष

शुद्ध रत्नत्रय की साधना से अष्ट कर्मों की आत्यन्तिकी निवृत्ति द्रव्यमोक्ष है और रागादि भावों की निवृत्ति भावमोक्ष है। यह मनुष्य गति से ही संभव है, अन्य नरक, तिर्यञ्च, देव, गति से नहीं। अन्तिम भव (जीवन) में स्वाभाविक उर्ध्वगति से लोक के शिखर पर जा विराजतें हैं। जहाँ अनन्तकाल एक अनन्त अतीन्द्रिय सुख का उपभोग करते हुए, चरम शरीर होता है। जैन परम्परा उनके प्रदेशों की सर्व व्यापकता स्वीकार नहीं करती। और न ही इसे निर्गुण-शून्य मानते हैं। जितने जीव मुक्त होते हैं, उतने ही निगोद राशि से निकलकर व्यवहार राशि में आ जाते हैं। इससे लोक कभी जीवों से रिक्त नहीं होता।

मोक्ष का सामान्य लक्षण

बंध हेतुओं (मिथ्यात्व कषायादि) के अभाव और निर्जरा से सब कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होना ही मोक्ष है।[३] इस अवस्था में आत्मा कर्ममल (अष्टकर्म), कलंक (राग, द्वेष, मोह) और शरीर को अपने से सर्वथा पृथक् कर देता है, फलस्वरूप उसके अचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञानादि गुण एवं अव्याबाध सुख को प्राप्त करता है।[४]

यह मोक्ष शब्द 'मोक्षणं मोक्षः' क्रियाप्रधान भाव साधन है। मोक्ष असने धातु से बना है अथवा जिनसे कर्मों का समूल उच्छेद हो वह तथा कर्मों का पूर्णरूप से छूटना है। जिस प्रकार बन्धनयुक्त प्राणी बेड़ी आदि के छूट जाने पर स्वतन्त्र होकर यथेच्छ गमन करता हुआ सुखी होता है, उसी प्रकार कर्मबन्धन का वियोग होने पर आत्मा स्वाधीन होकर ज्ञानादि रूप अनुपम सुख का अनुभव करता है।[५] इस प्रकार आत्मस्वभाव से मूल व उत्तर कर्म प्रकृतियों के संचय का छूट जाना ही मोक्ष है।[६]

---

१. वही. ९.३-४
२. धवला. १/१, १, २४ गा. १३२/२०४, गोम्मटसारजी, व. १५२, ३७५
३. तत्त्वार्थसूत्र १०.२
४. सवार्थ सिद्ध १.१ उत्थानिका, परमात्म प्रकाश २.१०, ज्ञानार्णव ३.६-१०, नियमसार ता. वृ-४, द्रव्यसंग्रह टीका-३०१, १५४.५, स्याद्वादमंजरी ८.८६.३
५. राजवार्तिक १.४.२७.१२, १.१.३७.१०, १५, १.४ : १३. २६.९. ध. १३.५.५.८२.३४८. ९
६. नयचक्र (बृहद्) १५९, समयसार (आत्मख्याति) २८८.

मोक्ष के भेद

सामान्य की अपेक्षा मोक्ष एक ही प्रकार का है किन्तु द्रव्य, भाव, भोक्तव्य की दृष्टि से अनेक प्रकार का है।[1] धवलाकार ने इसके तीन भेद किये हैं-

जीव मोक्ष, पुद्गल मोक्ष एवं जीव पुद्गल मोक्ष।[2] अन्य स्थल पर द्रव्य व भाव मोक्ष का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[3] द्रव्य मोक्ष तथा भाव मोक्ष किसे कहा जाय? उसका लक्षण क्या है

उसका उल्लेख है कि क्षायिक ज्ञान, दर्शन व यथाख्यातचारित्र नामवाले (शुद्धरत्नत्रयात्मक) जिन परिणामों से निरवशेष कर्म आत्मा से दूर किये जाते हैं, उन परिणामों को भावमोक्ष कहते हैं तथा सम्पूर्ण कर्मों का आत्मा से अलग हो जाना अर्थात् कर्मों का आत्मा से अलग हो जाने की प्रक्रिया द्रव्यमोक्ष है।[4] भावमोक्ष एवं जीवन्मुक्ति होना एकार्थवाचक है। इस प्रकार स्वरूप में अवस्थान ही मोक्ष है।[5]

लोक के अग्रभाग में स्थित होना, यह सब व्यवहार से है, किन्तु निश्चय से निज आत्मा में ज्यों के त्यों अत्यन्त अविचल रूप से रहना हैं। इस प्रकार मोक्ष के भेद कहे गये हैं।

सिद्धिगतिः पर्याय

जैन आगमों में सिद्धिगति नामक स्थान की बारह पर्यायों[6] का कथन किया गया है, ये द्वादश नाम किस अपेक्षा से कहे गये हैं? वे क्या अर्थ भिन्नता लिए हुए है? उसकी व्याख्या औपपातिक उपाङ्ग सूत्र के टीकाकार अभयदेव सूरि निम्न प्रकार से करते हैं[7]

1. ईषत्

ईषत् का अर्थ है अल्प। यह पृथिवी अन्य पृथ्वियों की अपेक्षा प्रमाण में अल्प है (कम है) अतः इसको 'ईषत्' कहा गया है।

---

१. राजवार्तिक १.७.१४.४० छ २४
२. धवला. १३.५, ५, ८२३.४८.१
३. नयचक्रवर्ति १५९, द्रव्य संग्रह टीका ३७.१५४.७
४. भगवती आराधना ३८.१३४.१८, पंचा. तावृ. १०८, १७३.१०
५. स्याद्वाद मंजरी-८.८६.१
६. औपपातिक सूत्र-१६५
७. औपपातिक सूत्र वृतिपत्र-१६५

2. ईषत्प्राग्भारा

इसका अर्थ है अल्पभारवाली। यह पृथ्वी रत्नप्रभा आदि अन्य पृथ्वियों की अपेक्षा अल्प भारवाली होने से इसे ईषत्प्राग्भारा कहा गया है। आगमों में यही नाम अधिक प्रयुक्त हुआ है।

3. तनु

तनु से तात्पर्य है पतली। इसको तनु इसीलिए कहा गया है कि यह पतली है।

4. तनुतनु

अर्थात् अत्यन्त पतली। यह पृथ्वी परिधि के किनारे पर अत्यन्त पतली है, जिसकी उपमा दी गई है कि यह मक्खी के पंख से भी पतली है।

5. सिद्धि

आत्मा के प्रयोजनों की सिद्धि हो जाने से उपचार से इसको सिद्धि भी कहा गया है। वास्तव में सिद्धि तो आत्मा की होती है, जो कि सर्वकर्मक्षयजन्य है। यद्यपि सिद्धों का स्थान यह है इसलिए इसे सिद्धि भी कहा गया है।

6. सिद्धालय

आलय से तात्पर्य है स्थान। सिद्धों का स्थान होने से, इसे सिद्धालय भी कहा गया।

7. मुक्ति

आत्मा की कर्मों से मुक्ति हो जाती है। मुक्त-आत्माओं का प्रतिष्ठान होने से इसे मुक्ति भी कहा गया।

8. मुक्तालय

पूर्वोक्त सिद्धालय की भांति ही इसे मुक्तालय भी कहा गया है।

9. लोकाग्र

यह स्थान समस्त चौदह राज लोक के अग्रभाग पर होने से इसे लोकाग्र के नाम से भी जाना जाता है।

10. लोकाग्रस्तूपिका

यह स्थान लोकाग्र में स्तूप के समान दृष्टिगत होता है, अत: इसे लोकाग्रस्तूपिका कहा गया।

11. लोकाग्रप्रतिबोधना

जिसके द्वारा लोक के अग्रभाग का बोधन होता है अर्थात् जाना जाता है, इससे लोकाग्रप्रतिबोधना है।

12. सर्वप्राणभूतजीवसत्त्व सुखावहा

समस्त प्राण-दो, तीन चार इंद्रिय वाले जीव, भूत-वनस्पति काय के जीव, जीव-पंचेन्द्रिय जीव, सत्त्व-पृथ्वीकाय-ये समग्र जीव जब सिद्धशिला पर पृथ्वीकाय के रूप में उत्पन्न होते हैं, तब पृथ्वीकाय के जीवों को सुखावह होती है। तात्पर्य यह है कि पृथ्वीकाय के जीव वहाँ सुखी होते हैं। कारण यह है कि इन जीवों को दुःख दो प्रकार से होता है। परकायशस्त्र एवं स्वकायशस्त्र। पर काय अर्थात् अप्काय अग्निकाय, वायुकायादि के जीवों के द्वारा या उनके शरीर के संघर्ष रूप शस्त्र से हिंसा जन्य दुःख। वहाँ मात्र पृथ्वीकाय ही होने से परकायशस्त्र की संभावना ही नहीं है। स्वकायजन्य शस्त्र से भी वहाँ दुःखानुभूति नहीं होती। क्योंकि अन्यजीवों के द्वारा ही उनमें संघर्ष-हिंसादि हो सकते है, पृथ्वीकाय से नहीं। अतः स्वकायशस्त्र जन्य दुःख भी वहाँ नहीं है। इसी कारण इस पृथ्वी को सर्वप्राणभूतजीवसत्त्व सुखावहा कहा गया है।

इस प्रकार सिद्धिगति के द्वादश नाम अर्थभिन्नता को लिए है। अपेक्षा भेद से इनकी ये बारह पर्यायें कही गई है।

3. अष्ट-कर्म-क्षय-स्वरूपः सिद्धि

गत पृष्ठों में हमने सिद्ध विषयक अवधारणा संबंधित प्ररूपणा की विवेचना की। जिसमें सिद्ध, उनका स्वरूप, प्रकार, गुण, व्युत्पतिपरक अर्थ, सिद्धि, मोक्ष आदि के स्वरूप का ज्ञान किया। उन सब में यही एक तारतम्य निकलता है कि जिसने भी अष्ट कर्मों का क्षय किया है, उनका समूलोच्छेद किया है, वह सिद्ध पद का वरण कर सकता है। अष्टकर्मों में से एक की भी उपस्थिति हो तो वह आत्मा मुक्त नहीं हो सकता। इन कर्मों की श्रृंखला में आबद्ध जीव छद्मस्थ (संसारी) कहलाता है। जब यह श्रृंखला टूट जाती है, कर्म-नाश हो जाते हैं तब वह मुक्त हो सकता है। कर्मों का बंधन जीव को इस प्रकार जकड़ कर रखता है कि वह उनके फलस्वरूप भवभ्रमण करता रहता है। अनादि काल से यह आत्मा और कर्म का संयोग उसको जन्म-जरा-मृत्यु के पाश में फंसा रखता है। मुक्त होने की पहली शर्त है कर्म क्षय होना। कर्म-क्षय होने पर जीव तत्क्षण मुक्ति पा सकता

है। इस प्रकार जैन परम्परा का मुक्ति प्राप्ति का सिद्धान्त सम्पूर्ण कर्म क्षय पर निर्धारित है।

ये कर्म कौन-कौन से हैं? जिनका नाश मुक्ति के लिए अवश्यम्भावी है।

कर्मसिद्धान्त

जैन परम्परा यह मान्य करती है कि आत्मा के साथ कर्म अनादि काल से संलग्न है। जिस प्रकार खान में सुवर्ण एवं उपल (मिट्टी) एक दूसरे से संश्लिष्ट है, क्षीर-नीर की भांति समिश्रण है, उसी प्रकार जीव व कर्म भी परस्पर संयुक्त है। जैसे पुरुषार्थ एवं विभिन्न कसौटियों से सुवर्ण से उपल अलग किया जाता है, उसी प्रकार कर्मसंयोगी आत्मा भी बल-वीर्य पराक्रम से कर्म वियुक्त हो जाती है। एवं आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेती है। इस कर्मनाश में आत्मा का स्वयं का पुरुषार्थ ही अपेक्षित है। ईश्वरीयकृपा, दैवीयशक्ति, साक्षात्कार इसमें सहायक नहीं हो सकते। आत्मलाभ स्वयं के पुरुषार्थ पर ही निर्भर है। व्रत-तप संयम-निर्जरा कर्मनाश में सहायक होते हैं।

मूल रूप से कर्म आठ हैं, किन्तु उनकी उत्तर प्रकृतियाँ अनेक हैं। इन आठ कर्मों में से चार कर्म घाती हैं तथा चार कर्म अघाती हैं। कोई जीव एक साथ आठ कर्मों (घाती एवं अघाती) का क्षय करके सिद्ध हो जाते हैं, तो कोई जीव पहले चार घाती कर्म एवं आयुष्य की पूर्णता के समय शेष चार अघाती कर्मों का क्षय करते हैं। अब हम इन कर्मों के स्वरूप के विषय में विचार करेंगे।

अष्टकर्म[1]

जैन शास्त्रों में कर्म के मुख्य आठ भेद कहे गए हैं-

1. ज्ञानावरण	2. दर्शनावरण
3. वेदनीय	4. मोहनीय
5. आयु	6. नाम
7. गोत्र	8. अन्तराय

1. ज्ञानावरण-यह कर्म आत्मा की ज्ञानशक्ति को आच्छादित करता है। जैसे जैसे इस कर्म का जोर बढ़ता जाता है, वैसे वैसे यह ज्ञानशक्ति को अधिकाधिक दबाता जाता है। बुद्धि का अधिकाधिक विकास होने का मुख्य कारण इस कर्म

१. तत्त्वार्थ सूत्र ६.११-२६

का शिथिल होना है। विश्व में दृश्यमान बौद्धिक विभिन्नता का कारण इस कर्म की भिन्न-भिन्न अवस्था है। इस कर्म का सम्पूर्ण क्षय होने पर केवलज्ञान (पूर्णप्रत्यक्षज्ञान) प्रकट होता है। आँख पर पट्टी बाँधने स्वरूप ज्ञानावरणीय कर्म है।

2. दर्शनावरण-यह कर्म दर्शन शक्ति को आवृत्त करता है। ज्ञान और दर्शन में विशेष भेद नहीं है। प्रारम्भ में होने वाले सामान्य आकार के ज्ञान को 'दर्शन' कहते हैं। किसी मनुष्य या वस्तु के दृष्टिगोचर होने पर पहले उसका सामान्य प्रकार से जो भान होता है, वह दर्शन है और पीछे उसका विशेष प्रकार से बोध होना, वह ज्ञान है। निद्रा, अन्धत्व, बधिरत्व आदि इस कर्म के फल हैं। प्रतिहार्य (चौकीदार) के समान दर्शनावरणीय कर्म है।

3. वेदनीय-वेदनीय कर्म का कार्य सुख दुःख का अनुभव कराना है। सुख का अनुभव कराने वाले को सातावेदनीय और दुःख का अनुभव कराने वाले को असातावेदनीय कर्म कहते हैं। मधु लिप्त खड्ग के समान वेदनीय कर्म है।

4. मोहनीय कर्म-जो मोह उत्पन्न करे वह मोहनीय कर्म है। स्त्री पर मोह, पुत्र पर, मित्र पर तथा इष्ट एवं रोचक वस्तुओं पर, इस प्रकार जड़ एवं चेतन वस्तुओं पर मोह होना मोहनीय कर्म के परिणाम हैं। मोह में अंध व्यक्ति को कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का भान नहीं रहता। जिस प्रकार शराबी व्यक्ति को वस्तु का वास्तविक स्वरूप समझ नहीं आता, वह उन्मत्त होकर उत्पथगामी बनता है। उसी प्रकार मोहान्ध जीव तत्त्व को तत्त्वदृष्टि से समझ नहीं सकता और अज्ञान एवं झूठी समझ में गोते लगाता रहता है। मोह की लीला अपार है। उसके चित्र-विचित्र अनन्त उदाहरण संसार में सर्वत्र दिखाई देते हैं। आठों कर्मों में यह कर्म आत्मस्वरूप को हानि पहुँचाने में सबसे अधिक और मुख्य भाग लेता है। इस कर्म के दो भेद हैं-

(1) तत्त्वदृष्टि को आवृत्त करने वाला 'दर्शनमोहनीय कर्म' और

(2) चारित्र का अवरोधक 'चारित्रमोहनीय कर्म।' मोहनीय के नाश से ही जीव सम्यक्त्व प्राप्त करके, संसार से परिनिवृत्त हो सकता है।

5. आयुष्य-इस कर्म के चार भेद हैं-1. देवता का आयुष्य 2. मनुष्य का 3. तिर्यञ्च का 4. नारक जीवों का आयुष्य। कारागृह में जिस प्रकार पैंरों में जंजीर पड़ी हो, तब तक मनुष्य बंधन से छूट नहीं सकता। उसी प्रकार देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नरक इन चार गतियों के जीव जब तक आयुष्य पूर्ण न हो, तब तक वहाँ से छूट नहीं सकते।

6. नाम-नाम कर्म के अनेक भेद/प्रभेद हैं। परन्तु संक्षेप में अच्छा या बुरा शरीर, अच्छा या बुरा रूप, सुस्वर या दु:स्वर, यश अथवा अपयश आदि इस कर्म पर अवलम्बित हैं। नाम कर्म के विपाक (फल) से ही एकेन्द्रियादि जाति और मनुष्यादि गति प्राप्त होती है। जिस प्रकार चित्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार के अच्छे बुरे चित्र बनाता है, उसी प्रकार प्राणियों के विविध देहाकारों, रूपाकारों, रचनाकारों का निर्माण करने वाला यह कर्म है।

7. गोत्र-गोत्रकर्म के दो भेद हैं-उच्च गोत्र और नीच गोत्र। प्रशस्त अथवा गर्हित स्थान में, संस्कारी अथवा असंस्कारी कुटुम्ब में जन्म होना इस कर्म का परिणाम है।

8. अन्तराय-इस कर्म का कार्य विघ्न उपस्थित करने का है। सुविधा हो और धर्म की समझ भी हो फिर भी मनुष्य दान न दे सके, वैराग्य अथवा त्यागवृत्ति न होने परभी मनुष्य अपने धन का उपभोग न कर सके, अनेक प्रकार के बुद्धिपूर्वक प्रयत्न करने पर भी व्यापार-रोजगार में सफलता न मिले अथवा हानि उठानी पडे- शरीर पुष्ट होने पर भी उद्यमशील न हो, इस कर्म के परिणाम स्वरूप है। पुरुषार्थ, उद्यम इस कर्म के नाश पर अवलम्बित है।

घाती एवं अघाती कर्म

जो कर्म आत्मा के निजस्वरूपात्मक केवलज्ञान आदि मुख्य गुणों का घात करते हैं (उन गुणों के आवारक) हैं, वे घाती कर्म हैं। अष्ट कर्मों में से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार घातीकर्म हैं। इन चार घाती कर्मों के क्षय होने पर केवलज्ञान-केवलदर्शन प्रकट होता है। इस ज्ञान के प्रकट होने के साथ ही आत्मा पूर्णद्रष्टा-पूर्णज्ञानी बनता है।

इसके पश्चात् जब आयुष्य पूर्ण होने का समय होता है तब अवशिष्ट चार कर्म यथा आयुष्य, नाम, गोत्र, वेदनीय का क्षय करता है। ये अघाती अथवा भवोपग्राही (भव अर्थात् संसार अथवा शरीर, उसे टिकानेवाला) कहलाते हैं। इनका क्षय करके उसी समय सीधा उर्ध्वगमन करता हुआ क्षणमात्र में लोक के अग्रभाग पर अवस्थित हो जाता है। यही अवस्था मोक्षावस्था अथवा सिद्धावस्था है। सर्व कर्म मुक्त जीव को ही सिद्ध कहा जाता है।

4. मुक्त जीवों का उर्ध्वगमन

कर्म मुक्त आत्मा सिद्ध होती है, और सिद्धिगति नामक स्थान पर जो कि

लोकान्त जाकर प्रतिष्ठित होती है, ऐसा पूर्वोल्लेख किया गया। यहाँ पर शंका होती है कि कर्मरहित आत्मा को किंचित् न्यून सात राजु प्रमाण गति कैसे संभव होती है? यहाँ पुनः प्रश्न उभरता है कि कर्मरहित जीव की गमनक्रिया में क्या हेतु है? तो कहा गया कर्म हेतु है। यदि ऐसा कहा जाये तो पुद्गलमय निर्जीव कर्म जीव को मोक्ष में ले जाने के सामर्थ्य में कौन सा हेतु माना गया है? तो यहाँ इसके समाधान में कहा गया है कि अरूपी जीव द्रव्य चैतन्यवाला कैसे है? जिस प्रकार चैतन्य जीव का विशेष धर्म है, उसी प्रकार मोक्षगमन रूप क्रिया भी उसके विशेषधर्म स्वरूप स्वीकार की गई है।

जिस प्रकार मिट्टी के संगरहित होने पर तुंबडा, बंधनोच्छेद होने से एरंडफल, तथाविध परिणाम से धूम अथवा अग्नि और पूर्व प्रयोग से धनुष से छूटे तीर की जिस प्रकार उर्ध्वगति होती है, उसी प्रकार सिद्ध परमेष्ठी की भी सर्व कर्म क्षय होने से उर्ध्वगति होती है।

पानी में मिट्टी से लिप्त तुंबडे का लेप दूर हो जाने पर अवश्य ही उर्ध्वगति (भाव) होती है।[१] वह उस नियम से अन्यथा नहीं जाता, एवं जल की सतह से ऊपर भी नहीं जाता। उसी प्रकार कर्म का लेप दूर होने से अवश्यमेव-नियम से सिद्ध की भी उर्ध्वगति होती है, अन्यथागति नहीं होती एवं लोक के ऊपर (अलोक) में भी गति नहीं होती।

इसी प्रकार बंधन का छेद होने से प्रेरित एरंडादि के फल जल्दी ऊपर जाते हैं, अग्नि तथा धूम की ऊर्ध्वगति परिणाम होता है। उसी प्रकार विमुक्त आत्मा का भी स्वभाव से ही ऊर्ध्वगति परिणाम होता है। अग्नि एवं धूम स्वभावकाल में ऊर्ध्वगति भाव को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार सिद्ध को भी स्वकर्मपरिणाम की अपेक्षा सिद्धत्व की भाँति उर्ध्वगतिपरिणाम प्राप्त होता है।

धनुष और पुरुष के प्रयत्न से प्रेरित तीर का भिन्न प्रदेश में गमन होता है उसी के सदृश कर्मरूप गति का कारण दूर होने पर ही पूर्वप्रयोग से सिद्धिगति होती है। विमुक्त आत्मा की लोकान्त पर्यन्त गति होती है। जिस प्रकार कुंभार का चक्र पूर्वप्रयोग से सक्रिय होता है उसी प्रकार एक समय मात्र में मुक्तात्मा की भी उर्ध्वगति रूप क्रिया होती है।[२]

---

१. ज्ञाता धर्मकथा-६
२. विशेषा. भा. ३१३६-३१५०, ९५६, ३२५

इस प्रकार यहाँ हल्के होने से तुंबडे, एरण्डादि के फल, धनुष का तीर, अग्नि, धूम तथा कुंभार के चक्र के दृष्टान्त से सिद्धात्मा की उर्ध्वगति रूप स्वभाव को सिद्ध किया गया है। यद्यपि अमूर्त सिद्ध आत्मा अक्रिय है, क्रियाशील नहीं होता। इसमें हेतु कर्म-क्षय है तथापि कर्ममुक्तता एवं उर्ध्वगमन रूप स्वभाव के कारण वह लोकान्त पर जाकर स्थित हो जाता है। उसके आगे अलोक होने से वहाँ गमन संभव नहीं।

अलोक में गमन क्यों नहीं होता? यह शंका होना स्वाभाविक है, तो इसका समाधान है कि गति में सहायक धर्मास्तिकाय है एवं स्थिति में सहायक अधर्मास्तिकाय है। षड् द्रव्यों की विद्यमानता लोकाकाश में ही है, अलोक में नहीं। अतः सिद्ध जीवों की गति अलोक में संभव नहीं।[१] इस प्रकार मुक्तात्माओं का उर्ध्वगमन यहाँ सिद्ध किया गया है।

सिद्धों का अनुपरागमन

जिसमें रहा जाता है उसे स्थान कहा जाता है, इस व्युत्पत्ति से स्थान शब्द अधिकरण वाची है। अतः सिद्ध का स्थान सिद्धस्थान कहा जाता है। यहाँ शंका होती है वहाँ से सिद्ध का पतन होना चाहिये। क्योंकि जैसे पर्वत अथवा वृक्ष के अग्रभाग पर से देवदत्त का अथवा फल का पतन होता है, उसी के सदृश सिद्धों का भी सिद्धस्थान से पतन होना चाहिए। क्योंकि हर एक का जिसका जो स्थान हो उसका उस स्थान से पतन दृष्टिगत होता है। अतः सिद्ध का भी पतन होना चाहिए।

यहाँ इसका समाधान भाष्यकार करते हैं कि 'सिद्ध का स्थान' इस पद में कर्त्ता के अर्थ में षष्ठी विभक्ति है, इससे सिद्ध जहाँ अवस्थित हैं, वह स्थान सिद्ध से अर्थान्तर-भिन्न ऐसा स्थान नहीं समझना चाहिये।

अथवा वह स्थान यदि अर्थान्तर भी माना जाए तो भी सिद्ध का पतन होना योग्य नहीं, क्योंकि वह स्थान आकाश की तरह नित्य होने से उसका विनाश नहीं होता और विनाश न होने से मुक्त का भी नहीं होता। क्योंकि आत्मा का पतन आदि क्रियाओं में कर्म ही कारण है। और जब कर्म का ही मुक्तात्माओं में अभाव है, तो पतन संभव नहीं होता। वस्तुतः अपने प्रयत्न की प्रेरणा-आकर्षण-विकर्षण-गुरुत्व आदि पतन के कारण हैं, वे भी मुक्तात्मा में नहीं होते अतः उनका पतन कैसे हो?

---

१. वही १८५०-१८५५

साथ ही जो यह कहा गया है कि 'स्थान से पतन' वह भी स्ववचन से विरुद्ध है, क्योंकि पतन अस्थान से होता है किन्तु स्वस्थान से कदापि नहीं। यदि स्थान से पतन भी माना जाए, तब तो आकाश आदि का अपने नित्य स्थान से पतन की प्राप्ति होने की संभावना रहे, जो कि मान्य नहीं किया जा सकता। इस प्रकार स्थान से अवश्य पतन होता है, यह कथन अनैकान्तिक है।[1]

इस प्रकार उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि सिद्धों का सिद्धालय से पतन संभव नहीं है। पूर्व में निर्युक्ति करते हुए भी कथन है कि 'षिध्' धातु गत्यर्थक अर्थ वाली होने से अर्थ होता है कि निर्वृत्तिपुरी में जाने के पश्चात् उनकी अपुनरावृत्ति होती है।[2] मोक्षनगरी में जाने के पश्चात् पुनः संसार में उनका आगमन नहीं होता।

शक्रस्तव[3] में भी यही उल्लेख है कि 'अपुणरावित्ति-सिद्धिगइ-नामधेयं-ठाणं संपत्ताणं' अर्थात् सिद्धिगति नामक स्थान को सम्प्राप्त करने के पश्चात् उनकी पुनरावृत्ति, पुनःसंसार में आगमन रूप आवृत्ति नहीं होती।

अपुनरागमन संबंधी शंका-समाधान

उन सिद्ध भगवन्त का सिद्धि स्थान से पुनरागमन नहीं होता, कर्माभाव के कारण। कहा है कि 'बीज के जल जाने पर अंकुर का प्रादुर्भाव जिस प्रकार संभव नहीं है उसी प्रकार कर्मबीज के जल जाने पर भवाङ्कुर के उत्पन्न होने की शक्यता नहीं होती।'

जो आत्मा मोक्ष अवस्था को प्राप्त होकर निराकुलतामय सुख का अनुभव कर चुका, वह पुनः संसार में लौटकर नहीं आता, क्योंकि ऐसा कौन बुद्धिमान् पुरुष होगा जो सुखदायी स्थान को छोड़कर दुःखदायी स्थान में आकर रहेगा।

जिस प्रकार एकबार कीट से वियुक्त किया गया स्वर्ण पुनः कीट युक्त नहीं होता, उसी प्रकार जो आत्मा एक बार कर्मों से रहित हो चुका है, वह पुनः कर्मों से संयुक्त नहीं होता।

इस प्रकार उपर्युक्त सन्दर्भों से यह निश्चित हो जाता है कि मुक्तात्मा का संसार में पुनरागमन नहीं होता। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि मुक्तात्मा की सिद्धशिला पर शाश्वत-नित्य स्थिति होती है।

---

१. विशेषा. १८५६-१८५८

२. पाणिनीय धातु पाठ ४८.

३. प्रति. णमुत्थुणं सूत्र, धवला २ अ. १ कल्पसूत्र प.

यहाँ ब्राह्मण परम्परा जो अवतार का धरा पर पुनः पुनः आगमन मान्य करते हैं, वैसा स्वीकार नहीं करके अपुनरावृत्ति मान्य की गई है। वे सदाकाल के लिए वहाँ जाकर प्रतिष्ठित हो जाते हैं।

पुनरागमन का अभाव मानने से मोक्षस्थान में जीवों की भीड़ हो जावेगी और संसार जीवों से रिक्त हो जावेगा यह आशंका भी नहीं करनी चाहिये।[१]

क्योंकि जितने जीव व्यवहार राशि से निकलकर मोक्ष जाते हैं, उतने ही अनादि अव्यवहारि (वनस्पति) राशि से निकल कर व्यवहार राशि में आते हैं।[२]

निगोद का अनन्तवाँ भाग ही मोक्ष जीवों से भरा है उनमें से अनंतवाँ भाग ही जीवों का मोक्ष हो सकता है। अतः संसार का जीवों से रिक्त होने की संभावना ही नहीं।[३]

इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि सिद्ध परमेष्ठी का पुनः संसार में आवागमन नहीं होता।

अर्हतापेक्षा भिन्नता

अर्हत् एवं सिद्ध में कथंचित् भेदाभेद है। यद्यपि स्वभाव की अपेक्षा से अर्हत् एवं सिद्ध में किञ्चिद् मात्र भी भिन्नता न होने पर भी, ज्ञानादि गुणों में समानता होने पर भी दोनों में कथंचित् भिन्नता है। यह भिन्नता ही एक ऐसी रेखा खींच देती है जो दोनों पदों को अलग कर देती है।

जैसा कि पूर्व पृष्ठों में हमने देखा कि सिद्ध आठ कर्मों का क्षय करते हैं। कर्मक्षय होने के पश्चात् ही सिद्ध हो सकते हैं। जबकि अर्हत् मात्र चार घाती कर्मों का क्षय करके अर्हत् पद प्राप्त करते हैं। वैसे देखा जाये तो चार अघातिया कर्मों के नष्ट हो जाने पर अर्हत् की आत्मा में समस्त गुणों का प्राकट्य हो जाता है। सिद्ध एवं अर्हत् में गुण कृत भेद तो नहीं होता किन्तु अर्हत् में गुणों के विद्यमान होने पर भी अघातिया चारों कर्मों का उदय एवं सत्त्व दोनों पाये जाते हैं। इस प्रकार दोनों में गुणकृत, भिन्नता भी किंचित् है।

यहाँ शंका होती है कि अघातिया कर्म शुक्लध्यान रूपी अग्नि के द्वारा अधजले से हो जाने के कारण उदय और सत्त्वरूप विद्यमान रहते हुए भी क्या

---

१. मोक्ष. ६.५, ६६
२. स्या. मं २९.३३१.१३.
३. नवतत्त्व प्रकरण-६०

अपना कार्य करने में समर्थ नहीं है? इसका समाधान किया है-ऐसा नहीं होता। क्यों कि शरीर के पतन का अभाव अन्यथा सिद्ध नहीं होता वे शरीरधारी है इसलिए अर्हत् के आयु आदि शेष कर्मों के उदय और सत्त्व की (अर्थात् उनके कार्य की) सिद्धि हो जाती है।

पुनः शंका होती है कि कर्मों का कार्य तो चौरासीलाख जीवयोनिरूप जन्म, जरा, मरण युक्त संसार है। वह अघातिया कर्मों के रहने पर अर्हत् परमेष्ठी में नहीं पाया जाता। तथा अघातिया कर्म आत्मा के अनुजीवी गुणों के घात करने में भी समर्थ नहीं है। इसलिए अर्हत् व सिद्ध में गुणकृत भेद उपयुक्त नहीं है?

इसका समाधान करते हैं कि जीव का उर्ध्वगमन स्वभाव का प्रतिबन्धक आयुकर्म का उदय और सुखगुण का प्रतिबन्धक वेदनीय कर्म का उदय अर्हंतों के पाया जाता है, इसलिए दोनों में गुणकृत, भेद मानना चाहिए।[१]

इस प्रकार अर्हत् व सिद्ध में कर्मकृत् कथंचित् भिन्नता है। सलेपत्व एवं निर्लेपत्व की अपेक्षा और देश भेद की अपेक्षा से दोनों अर्हत् एवं सिद्ध परमेष्ठियों में भेद सिद्ध है। जो कि घाती एवं अघाती कर्मों के कारण ही है।

अवतार-ईश्वर से भिन्न सिद्धात्मा

अवतार-ईश्वर के स्वरूप से सिद्ध का स्वरूप पूर्णरूपेण भिन्न है। यह भिन्नत्व किस आधार से है? अब हम उसकी विवेचना करेंगे-

1. ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता, रचयिता मान्य किया जाता है, जबकि जैन परम्परा उसे सर्जक कदापि मान्य नहीं करती। वे ईश्वर के रूप में उसे एक ही स्वीकार करते हैं। वही ईश्वर अधर्म का नाश एवं धर्म के अभ्युदय के लिए अवतार ग्रहण करता है।

2. जैन परम्परा अनेकेश्वरवादी है। भव्य जीव मुक्त होकर सिद्ध पद को प्राप्त कर सकता है।

3. जैन परम्परा अवतारवाद न मानकर मोक्ष में से अपुनरावृत्ति (वापिस न आना) स्वीकार करती है।

4. ईश्वर नहीं होते हैं, वे तो सिद्ध स्वरूप ही है। जैन दर्शन में सिद्ध पद को परम पुरुषार्थ का परिणाम माना है।

---

१. धवला. १.१, १.१.४६.२

5. अन्य कोई भी ईश्वर की सर्वोपरि सत्ता को वहन नहीं कर सकता। जबकि जैन परम्परा में सर्व को यह अधिकार प्रदान दिया गया है।

6. यह ईश्वर सशरीरी भी है तो अशरीरी भी है।

जबकि जैन मुक्तों को अशरीरी ही मानते हैं।

7. ईश्वर को अशरीर एवं शरीरी रूप में विश्वव्यापी मानते हैं, जबकि सिद्ध परमेष्ठी के अनन्तज्ञान से लोकालोक व्यापी माना गया है। वे लोकाग्र में सिद्धशिला पर प्रतिष्ठित हैं।

8. ईश्वर की इच्छा-संकल्प से सब होता है जबकि सिद्ध परमात्मा इच्छा रहित होते हैं। जब शरीर नहीं, राग-द्वेष नहीं तो इच्छा का प्रश्न ही नहीं उठता।

9. ईश्वर के ही अंश रूप में ही जीव हैं, जो कि उपाधि भेद से हैं। जीवों का स्वतन्त्र अस्तित्त्व नहीं है। जैन जीवों का स्वतंत्र अस्तित्व मानते हैं।

10. ईश्वर ही शुभाशुभ के फल का दाता है, जबकि जैन दर्शन कर्मसत्ता को बलवान् मानकर ईश्वर को फलदाता स्वीकार नहीं करता।

11. संभवामि युगे युगे-ईश्वर को युग-युग में जन्म लेने वाला मानते हैं तो यहाँ मुक्त आत्मा का संसार में पुनः प्रादुर्भाव नहीं माना गया।

12. ईश्वर जगत् का नियन्ता है, जबकि मुक्त आत्मा इन से सर्वथा परे है।

13. ईश्वर को एक मात्र सत्य एवं जगत् को मिथ्या, मायारूप माना है। सिद्ध का स्वरूप शुद्ध है, तो जगत् और जीव को मिथ्या या माया रूप नहीं माना।

14. ईश्वर सदा काल नित्य ही है, जबकि सिद्ध परमात्माने घाती-अघाती कर्मों का क्षय करके सादि, अनन्त, शाश्वत स्थिति का वरण किया है।

15. ईश्वर के निवास स्थान के लिए कोई बैकुण्ठ, तो कोई शेषशायी तो कोई अदृश्यमान स्वीकार करते है, जबकि सिद्धात्मा मोक्ष में ही बिराजते हैं।

16. ईश्वर की पूजा में उसे पत्नियुक्त तथा आयुधरूप से पूजते हैं, जबकि सिद्धात्मा अशरीरी एवं वीतरागी है।

17. अवतार कहीं ७, कहीं १० और कही २४ माने गए हैं, जबकि सिद्ध परमात्मा अनन्त हैं।

वैसे उत्तरकालीन न्याय वैशेषिक मत में जो ईश्वर को नित्यमुक्त और

सृष्टिकर्ता मानते हैं, वे भी बंधनों का नाश करके मुक्त हुए मुक्तों से उन्हें भिन्न स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार उत्तरकालीन योग जो ईश्वर को तो नित्यमुक्त मानते हैं, वे भी अन्य केवलियों से भिन्न मानते हैं। किन्तु जैन तो नित्यमुक्त या सृष्टिकर्त्ता स्वरूप ईश्वर को स्वीकारते ही नहीं है। मात्र जो बन्धनों का नाश कर मुक्त को ही ईश्वर, सिद्ध मानते हैं। हिन्दु पुराणकार जो नित्यमुक्त सृष्टिकर्ता ईश्वर मानते हैं, वे अवतार को विशेष रूप से स्वीकारते हैं।

इस प्रकार अनेकशः भिन्नता है जो ईश्व-अवतार से सिद्धात्मा को पृथक् करती है। यहाँ संक्षेप में उस भिन्नता का दिग्दर्शन कराया गया है। सिद्धों के स्वरूप से ईश्वर का स्वरूप पूर्णतया भिन्न है। जिसका हमने अवलोकन किया। वस्तुतः मुक्तात्मा के रूप में सिद्ध परमेष्ठी की अवधारणा का निरूपण जैन परम्परा अनूठे रूप में प्रस्तुत करती है। जो ईश्वर, अवतार, ब्रह्म, बुद्ध आदि से भिन्नत्व लिए हुए है।

6. 'सिद्ध की ऐतिहासिकता'

(क) हिन्दु एवं बौद्ध परम्परा में

हिन्दु परम्परा एवं बौद्ध परम्परा में 'सिद्ध' का उल्लेख शब्द-अपेक्षा से दृष्टिगत नहीं है। 'सिद्ध' यह जैन परम्परागत मान्य शब्द है जो कि मुक्त जीवों के लिए प्रयुक्त हुआ है। मुक्त जीवों के लिए मौलिक शब्द ही सिद्ध है। अतः शब्दतः सिद्ध स्वरूप हिन्दु परम्परा एवं बौद्ध परम्परा को ग्राह्य नहीं है। जैन परम्परा सिद्ध के अतिरिक्त बुद्ध, मुक्त, पारगत आदि पर्यायों को सिद्ध अर्थ में स्वीकार करती है, किन्तु रूढ एवं प्रचलित सिद्ध ही है।

वास्तव में हिन्दु परम्परा एवं बौद्ध परम्परा में मुक्त शब्द शब्दतः मान्य नहीं किया गया। हिन्दु परम्परा में 'ब्रह्म' एवं बौद्ध परम्परा में 'निर्वाण' शब्द ने इस स्वरूप को धारण किया है।

ब्रह्म का स्वरूप

हिन्दु परम्परा में ब्रह्म के स्वरूप में दो प्रकार के ब्रह्म का प्रतिपादन है।

1. सगुण ब्रह्म 2. निर्गुण ब्रह्म

ऋग्वेद में ब्रह्म शब्द का प्रयोग प्रार्थना के अर्थ में हुआ है। परन्तु उपनिषदों में आते-आते इस शब्द का अर्थ बदल गया। वह उसके लिए प्रयोग में आने लगा

जिसे प्रार्थना अर्पित की जाती है अर्थात् परम तत्त्व। ब्रह्म शब्द ''ब्रह्म'' धातु से व्युत्पन्न होता है जिसका अर्थ है बढ़ना या फूट पड़ना। ब्रह्म वह है जिसमें से सम्पूर्ण शक्ति और आत्माओं की उत्पत्ति हुई है या जिसमें से ये फूट पड़े हैं। विश्व की उत्पत्ति, स्थिति, विनाश का कारण ब्रह्म है। छान्दोग्य उपनिषद् में उसकी परिभाषा में ''तज्जलान्'' शब्द प्रयुक्त किया है-ब्रह्म वह (तत्) है जो जगत् को जन्म लेता है (ज) उसे अपने में लीन (लि) करता है और धारण (अन) करता है।[१] तैत्तिरीय उपनिषद् में भी इसी प्रकार का उल्लेख है।[२] इस प्रकार स्वयं ब्रह्म ही विश्व का निमित्त एवं उपादान कारण है। ब्रह्म के संकल्पमात्र से उत्पत्ति स्थिति हो सकती है। यह ब्रह्म का सगुण रूप है।

बृहदारणक उपनिषद् में ब्रह्म की लोकातीतता ज्ञापित करते कहा है- ब्रह्म असीम है, यह विश्व भी असीम है। ''असीम ब्रह्म से असीम ब्रह्म की उत्पत्ति हुई। फिर भी असीम ब्रह्म असीम ही बना रहता है।''[३]

यद्यपि ब्रह्म स्वयं में निर्गुण है फिर भी बुद्धि की कोटियों से हमें वह सगुण प्रतीत होता है। निर्गुण ब्रह्म सभी वर्णनों से परे है। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ मन तथा बुद्धि वहाँ तक पहुँच नहीं सकती, उसकी केवल अनुभूति की जा सकती है।[४] यदि उसका बुद्धि द्वारा वर्णन करना ही पड़े तो सर्वोत्तमवर्णन 'नेति नेति' कहकर निषेधात्मक रूप से किया जा सकता है। वह न स्थूल है, न सूक्ष्म है, न लम्बा है, न छोटा है। वह महत्तम से महान् तथा सूक्ष्मत्तम से भी सूक्ष्म है।[५] वह सर्वव्यापी है। संक्षेप में सम्पूर्ण सृष्टि में वही एक द्रव्य है। वह ऐसा 'एक' है जिसे जान लेने पर 'सब' का ज्ञान हो जाता है।[६] उसे सर्वोच्च सत्य के रूप में वर्णित किया है। ब्रह्मन् ज्ञान और परमानन्द[७] तथा प्राण के रूप में वर्णित है।

इस प्रकार यहाँ ब्रह्म के २ रूप वर्णित हैं-

1. सगुण ब्रह्म-सृष्टि-प्रलय कर्त्ता

---

१. छान्दोग्य उप. ३.१४.१
२. तैत्तिरीय उप. ३.१.१
३. बृहदा, उप. ५.१.१.
४. तैतिरीय उप. २.४.१
५. बृहदारण्यक उप. ३, कठ. उप. १.३.१५, मुण्ड. उप. ६.१.६
६. छान्दोग्य उप. ५.१६.२
७. वही ४.१०.५

यहाँ हम मुक्तात्मा के सदृश निर्गुण ब्रह्म को मान्य कर सकते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में इस का कथन किया है। वह स्वरूप मुक्त जीवन के तुल्य हो सकता है। किन्तु जैन परम्परा में आख्यात 'सिद्ध' शब्द का ब्राह्मण परम्परा में अभाव ही दृष्टिगत होता है। सिद्ध की भांति भेद, गुण, स्थिति, अवगाहना, का उल्लेख नहीं है। साथ ही सर्वाधिक भिन्नता तो यहाँ है कि जैन परम्परा में सिद्ध पद का अधिकारी प्रत्येक भव्यात्मा हो सकती है। उसमें न लिंग बाधक है न वेश। सिद्ध 15 भेदों से हो सकते हैं। जबकि ब्रह्म स्वरूप इससे अत्यन्त भिन्न है, वहाँ इस ब्रह्म तत्त्व को ईश्वरीय स्वरूप प्रदान किया गया है। सगुण ब्रह्म से तो सृष्टि आदि का उत्पादन होता रहता है, वह भी सिद्ध पद से संगत नहीं और निर्गुण ब्रह्म मात्र ईश्वरीय सत्ता है, वह कर्ममुक्ति के परिणाम स्वरूप नहीं। यही प्रमुख भिन्नता ब्रह्म तथा सिद्ध पद में हैं।[५]

बौद्ध दर्शन में सिद्ध-मुक्तात्मा के स्वरूप का वर्णन नहीं वत् उपलब्ध होता है। मुक्त व्यक्तित्व के लिए बौद्ध शब्द है बुद्ध। बुद्धत्व में सर्वज्ञता अन्तर्निहित है। *किन्तु बुद्धावस्था मुक्तावस्था नहीं। इसके विषय में एल. एम. जोशी ने लिखा है* कि "अन्तर्ज्ञान का अनुभव हो जाने पर विशुद्धि और शान्ति आ जाती है। इसलिए निर्वाण को, विशुद्धि अवस्था को चरम यथार्थ अवस्था कहा है जो बोधि के अनुभव के उपरान्त प्राप्त होती है। वास्तव में यह अनुभव रहस्यात्मक है।[६]"

निर्वाण की अवर्णनीयता का विवेचन नागार्जुन ने निम्न शब्दों में अभिव्यक्त किया है-वह क्या है, जो मुक्त किया गया है, न कभी पहुँच पाया है, न विनष्ट हुआ है, न शाश्वत है, न अदृश्य है, और संरचित है। यही निर्वाण है। इस प्रकार *बौद्ध दर्शन में निर्वाण की स्थिति अवर्णनीय कही गई है।*

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से 'सिद्ध' शब्द का हिन्दु तथा बोद्ध परम्परा में सर्वथा अभाव है। किन्तु मुक्त शब्द का प्रयोग किया गया है। संभव है यह सिद्ध पद जैन परम्परा का ही मौलिक शब्द है। स्वरूपतः आंशिक स्वरूप में निर्गुण ब्रह्म से किंचित् साम्य अवशय रखता है। 'सिद्ध' शब्द के एतिह्य में ये दोनों परम्पराएं शब्दतः शून्य ही है।

अब जैन परम्परा में सिद्ध स्वरूप की ऐतिहासिकता पर दृष्टिपात् करें-

---

५. तैतिरीय उप. ३.१

६. Buddhist Meditation and Mysticism in Buddhism 73.

सिद्ध की ऐतिहासिकता-

(ख) जैन पारम्परिक रूप में

सिद्धों का स्वरूप

वहाँ-लोकाग्र में सादि-मोक्ष-प्राप्ति के काल की अपेक्षा से आदि सहित, अपर्यवसित-अन्तरहित, अशरीर, जीवघन-घनरूप-सघन अवगाढ़ आत्मप्रदेश युक्त, ज्ञानरूप साकार तथा दर्शन रूप अनाकार उपयोग सहित, निष्ठितार्थ-कृतकृत्य, सर्वप्रयोजन समाप्त किये हुए, निरंजन-निश्चल, स्थिर या निष्प्रकम्प, नीरज-कर्मरूप रज से रहित निर्मल, वितिमिर-अज्ञानरूप अंधकार रहित, विशुद्ध-कर्मक्षय निष्पन्न आत्मशुद्धियुक्त सिद्ध भगवान भविष्य में शाश्वतकाल पर्यन्त (अपने स्वरूप में) संस्थित रहते हैं।

वे किस प्रकार रहते हैं? जैसे अग्नि से दग्ध-सर्वथा जले हुए बीजों की पुनः अंकुरों के रूप में उत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार कर्म-बीज दग्ध होने के कारण सिद्धों की भी फिर जन्मोत्पत्ति नहीं होती।[१]

सिद्धयमान के संहनन-संस्थान आदि

सिद्ध होते हुए जीव किस संहनन (दैहिक अस्थिबंध) से सिद्ध होते हैं?

वे वज्र-ऋषभ-नाराच संहनन से सिद्ध होते हैं।

संस्थान

छह संस्थानों (समचतुस्र, न्यग्रोधपरिमण्डल, सादि, वामन, कुब्ज, हुंडक) में से किसी भी संस्थान (दैहिक आकार) में सिद्ध हो सकते हैं।

अवगाहना

सिद्ध जघन्य-कम से कम सात हाथ तथा उत्कृष्ट-अधिक से अधिक पाँच सौ धनुष की अवगाहना में सिद्ध होते हैं।

आयुष्य

कम से कम आठ वर्ष से कुछ अधिक आयुष्य वाले तथा अधिक से अधिक करोड़ पूर्व के आयुष्य वाले सिद्ध होते हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि आठ वर्ष या उससे कम की आयु वाले और कोड़ पूर्व से अधिक की आयु के जीव सिद्ध नहीं होते हैं।

---

१. औपपातिक सूत्र १५४-१५५.

सिद्धों का परिवास

इस रत्नप्रभा भूमि के बहुसम रमणीय भूभाग से ऊपर, चन्द्र, सूर्य, ग्रहगण, नक्षत्र तथा तारों के भवनों से बहुत योजन, सैंकडों, हजारों, लाखों, करोड़ों, क्रोड़ाक्रोड़, योजन से ऊर्ध्वतर-बहुत ऊपर जाने पर सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण, अच्युत, कल्प तथा तीन सौ अठारह ग्रैवेयक, विमान-आवास से भी ऊपर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध महाविमान के सर्वोच्च शिखर के अग्रभाग से बारह योजन के अन्तर पर ऊपर ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी कही गई है।

वह पृथ्वी पैंतालीस लाख योजन लम्बी तथा चौड़ी है। उसकी परिधि एक करोड़ बयालीस लाख तीस हजार दो सौ उनचास योजन से कुछ अधिक है।[१]

वह ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी अपने ठीक मध्य में आठ योजन क्षेत्र में आठ योजन मोटी है। तत्पश्चात् मोटेपन में क्रमशः कुछ-कुछ कम होती हुई सबसे अन्तिम किनारों पर मक्खी की पाँख से पतली है। उन अन्तिम किनारों की मोटाई अंगुल के असंख्यातवें भाग के तुल्य है।[२]

सिद्धः सार संक्षेप

वे सिद्ध किस स्थान पर प्रतिहत है- आगे जाने से रूक जाते हैं? वे कहाँ प्रतिष्ठित हैं-अवस्थित हैं? वे यहाँ-इस लोक में देह को त्याग कर कहाँ जाकर सिद्ध होते हैं?

इसका समाधान ग्रन्थकार बहुत ही सुन्दर रीति से करते हैं-

सिद्ध लोक के अग्रभाग में प्रतिष्ठित है, अतः अलोक में जाने में प्रतिहत हैं- अलोक में नहीं जाते। इस मर्त्यलोक में ही देह का त्याग कर वे सिद्ध स्थान में जाकर सिद्ध होते हैं।[३]

देह का त्याग करते समय अन्तिम समय में जो प्रदेशघन आकार-नाक, कान, उदर आदि रिक्त या पोले अंगों की रिक्तता या पोलेपन के विलय से घनीभूत आकार होता है, वही आकार वहाँ-सिद्ध स्थान में रहता है।

---

१. वही १५६-१६३

२. वही १६४.

१. औपपातिक सूत्र १६९

अवगाहना

अन्तिम भव में दीर्घ या हस्व-लम्बा ठिगना, बड़ा छोटा जैसा भी आकार होता है, उसमें तिहाई भाग कम में सिद्धों की अवगाहना-अवस्थिति या व्याप्ति होती है। सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना तीन सौ तैंतीस धनुष तथा तिहाई धनुष (बत्तीस अंगुल) होती है। मध्यम अवगाहना चार हाथ तथा तिहाई भाग कम एक हाथ (सोलह अंगुल) होती है। जघन्य-न्यूनतम अवगाहना एक हाथ तथा आठ अंगुल होती है। (वास्तव में) सिद्ध अन्तिम भव की अवगाहना से तिहाई भाग कम अवगाहना युक्त होते हैं। जो वार्धक्य (बुढ़ापा) और मृत्यु से विप्रमुक्त हो गई है। उनका संस्थान-आकार किसी भी लौकिक आकार से नहीं मिलता।[१]

जहाँ एक सिद्ध हैं, वहाँ भव क्षय (सांसारिक आवागमन के नष्ट हो जाने) से मुक्त हुए अनन्त सिद्ध हैं, जो परस्पर अवगाढ़-एक दूसरे से मिले हुए हैं। वे सब लोकान्त-लोकाग्र भाग का संस्पर्श किए हुए हैं। (एक-एक) सिद्ध समस्त आत्म प्रदेशों द्वारा अनन्त सिद्धों का सम्पूर्ण रूप से संस्पर्श किए हुए हैं। यों एक सिद्ध की अवगाहना में अनन्त सिद्धों की अवगाहना है-एक में अनन्त अवगाढ़ हो जाते हैं और उनसे भी असंख्यातगुण सिद्ध ऐसे हैं जो देशों और प्रदेशों से कतिपय भागों से -एक-दूसरे से अवगाढ़ हैं।[२]

तात्पर्य यह है कि अनन्त सिद्ध तो ऐसे हैं जो पूरी तरह एक दूसरे में समाये हुए है और उनसे भी असंख्यात गुणित सिद्ध ऐसे हैं जो देशों और प्रदेशों से-कतिपय अंशों में एक दूसरे में समाए हुए हैं। अर्मूत्त होने के कारण उनकी एक-दूसरे में अवगाहना होने से किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न नहीं होती।

सिद्धों का लक्षण

सिद्ध शरीर रहित, जीवघन सघन अवगाह रूप आत्म प्रदेशों से युक्त तथा दर्शनोपयोग एवं ज्ञानो-पयोग में उपयुक्त हैं। यों साकार-विशेष उपयोग-ज्ञान तथा अनाकार-सामान्य उपयोग-दर्शन-चेतना सिद्धों का लक्षण है।[३]

---

१. वही १७०-१७५
२. वही १७६-१७७
३. वही १७८

"वे केवल ज्ञानोपयोग द्वारा सभी पदार्थों के गुणों एवं पर्यायों को जानते हैं तथा अनन्त केवल दर्शन द्वारा सर्वतः- सब ओर से समस्त भावों को देखते हैं।"[1]

सिद्धों को जो अव्याबाध-सर्वथा विघ्न बाधारहित, शाश्वत सुख प्राप्त हैं, वह न मनुष्यों को प्राप्त है और न समग्र देवताओं को ही। तीन काल गुणित अनन्त देव सुख, यदि अनन्तबार वर्गवर्गित किया जाए तो भी वह मोक्ष सुख के समान नहीं हो सकता।[2] तात्पर्य यह है कि अतीत अनागत और भूत-तीनों काल से गुणित देवों के सुख की कल्पना करें तो यदि लोक तथा अलोक के अनन्त प्रदेशों पर स्थापित किया जाये, सारे प्रदेश उससे भर जाएं तो वह देव अनन्त सुख से संज्ञित होता है।

दो समान संख्याओं का परस्पर गुणन करने से जो गुणनफल प्राप्त होता है, उसे वर्ग कहा जाता है। देवों के उक्त अनन्त सुख को यदि अनन्त बार वर्गवर्गित किया जाये, तो भी वह मुक्ति-सुख के समान नहीं हो सकता।

एक सिद्ध के सुख को तीनों कालों से गुणित करने पर जो सुखराशि निष्पन्न हो, उसे यदि अनन्तवर्ग से विभाजित किया जाए, तो सुख-राशि भागफल के रूप में प्राप्त हो, वह भी इतनी अधिक होती है कि सम्पूर्ण आकाश में समाहित नहीं हो सकती है। जैसे कोई म्लेच्छ पुरुष नगर के अनेकविध गुणों को जानता हुआ भी वन में वैसी कोई उपमा नहीं पाता हुआ उस (नगर) के गुणों का वर्णन नहीं कर सकता। उसी प्रकार सिद्धों का सुख अनुपम है। उसकी कोई उपमा नहीं है। फिर भी (सामान्य जनों के बोध हेतु) विशेष रूप से उपमा द्वारा उसे समझाया जा रहा है।

जैसे कोई पुरुष अपने द्वारा चाहे गये सभी गुणों-विशेषताओं से युक्त भोजन कर भूख प्यास से मुक्त होकर अपरिमित तृप्ति का अनुभव करता है, उसी प्रकार सर्वकालतृप्त-सब समय परम तृप्ति युक्त, अनुपम शांतियुक्त सिद्ध शाश्वत-नित्य तथा अव्याबाध-सर्वथा विघ्न बाधारहित परम सुख में निमग्न रहते हैं।[3]

वे सिद्ध हैं-उन्होंने अपने सारे प्रयोजन साध लिये हैं। वे बुद्ध हैं-केवलज्ञान द्वारा समस्त विश्व का बोध उन्हें स्वायत्त है। वे पारगत हैं-संसार सागर को पार चुके हैं। वे परम्परागत हैं-परम्परा से प्राप्त मोक्षोपायों का अवलम्बलन कर वे संसार के पार पहुँच गये हैं। वे उन्मुक्त-कर्म-कवच हैं-जो कर्मों का बख्तर उन

---

१. औपपातिक सूत्र १७९
२. वही १८०
३. वही १८१-१८६

पर लगा था, उससे वे छूटे हुए हैं। वे अजर हैं-वृद्धावस्था से रहित हैं। वे अमर हैं-मृत्यु रहित हैं। वे असंग-सब प्रकार की आसक्तियों से तथा समस्त पर पदार्थों के संसर्ग से रहित है। सिद्ध सब दुःखों को पार कर चुके हैं जन्म-जरा तथा मृत्यु के बंधन से मुक्त हैं। निर्बाध, शाश्वत सुख का अनुभव करते हैं।[१]

अनुपम सुख-सागर में लीन, निर्बाध, अनुपम मुक्तावस्था प्राप्त किए हुए सिद्ध समग्र अनागत काल में भविष्य में सदा प्राप्त सुख, सुखयुक्त अवस्थित रहते हैं।

दिशा की अपेक्षा-स्थिति

दिशाओं की अपेक्षा से सिद्धों का अल्पत्वबहुत्व का उल्लेख किया है कि "सबसे अल्प सिद्ध दक्षिण और उत्तरदिशा में है। पूर्व में (उनसे) संख्यातगुणे हैं और पश्चिम में (उनसे) विशेषाधिक हैं।"[२] वृत्तिकार इसके हार्द को कहते हैं कि "सबसे अल्पसिद्ध दक्षिण और उत्तर में हैं, क्योंकि मनुष्य ही सिद्ध होते हैं, अन्य जीव नहीं। सिद्ध होने वाले मनुष्य चरम समय में जिन आकाश प्रदेशों में अवगाढ़ (स्थित) होते हैं, उन्हीं आकाश प्रदेशों की दिशा में ऊपर जाते हैं, उसी सीध में ऊपर जाकर वे लोकाग्र में स्थित हो जाते हैं। दक्षिण दिशा में पाँच भरत क्षेत्रों में तथा उत्तर में पाँच ऐरावत क्षेत्रों में मनुष्य अल्प हैं, क्योंकि सिद्धक्षेत्र अल्प है। फिर सुषम-सुषमा आदि आरों में सिद्धि प्राप्त नहीं होती। इस कारण दक्षिण और उत्तर में सिद्ध सबसे कम हैं। पूर्वदिशा में उनसे असंख्यातगुणे हैं, क्योंकि भरत और ऐरावत क्षेत्र की अपेक्षा पूर्व विदेह संख्यातगुणा विस्तृत है, इसलिए वहाँ मनुष्य भी संख्यातगुणे हैं और वहाँ से सर्वकाल में सिद्धि होती है। उनसे भी पश्चिम दिशा में विशेषाधिक हैं, क्योंकि अधोलौकिक ग्रामों में मनुष्यों की अधिकता है।[३]"

इसी ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने गतियों की अपेक्षा से नारक, मनुष्यों, देवों की अपेक्षा सिद्धों को अनन्त गुणा कहा है।[४]

फिर प्रश्न है कि सिद्धिगति कितने काल तक सिद्ध से रहित कही गई है? इसका समाधान यह है कि (सिद्धिगति का विरहितकाल) जघन्य एक समय तक और उत्कृष्ट छः महिनों तक का है।[५] तात्पर्य यह है कि सिद्धगति का

---

१. वही १८६
२. प्रज्ञापनासूत्र ३.२२४
३. प्रज्ञापनासूत्र मलय वृत्ति पत्र ११६-११९
४. प्रज्ञापनासूत्र ३.२.२२५
५. प्रजापनासूत्र ६.५६४

उपपातविरहकाल उत्कृष्टत: छः मास का बताया है, उसका कारण यह है कि एक जीव के सिद्ध होने के पश्चात् संभव है कि कोई जीव अधिक से अधिक छः मास तक सिद्ध न हो। छः मास के अनन्तर अवश्य ही कोई न कोई सिद्ध होता है। यहाँ शंका की गई है कि सिद्ध क्या सान्तर सिद्ध होते हैं अथवा निरन्तर भी सिद्ध होते हैं।[१] यहाँ सान्तर से तात्पर्य है कि बीच-बीच में कुछ समय छोड़कर व्यवधान से उत्पन्न होना एवं प्रति समय लगातार बिना व्यवधान के कोई भी समय खाली न जाना निरन्तर उत्पन्न होना है।[२]

7. अपवर्ग-मोक्ष विषयक इतर दर्शनों की अवधारणा

भारतीय दर्शन और पाश्चात्य दर्शन की तत्त्व मीमांसा में एक मौलिक अन्तर है। पाश्चात्य दार्शनिक दर्शन का उद्देश्य जीवन की व्याख्या मान्य करते हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो दर्शन की उत्पत्ति आश्चर्य से मानते हैं। मानव को प्रकृति की विभिन्न घटनाओं को देखकर और परिवर्तनों के कारण आश्चर्य होता है और वह इनका कारण ढूंढता है। यहीं से दर्शन का प्रादुर्भाव होता है। परन्तु इसके विपरीत भारतीय दर्शन की उत्पत्ति जीवन के सबसे कटु सत्य ''दु:ख'' से होती है। जीवन के दु:खों को दूर करना ही दर्शन का एकमात्र लक्ष्य है। भारत में दर्शन का मूल्य जागतिक ज्ञान-वृद्धि हेतु नहीं वरन् इस कारण की अपेक्षा से है कि वह हमारे जीवन के परम शुभ मोक्ष को प्राप्त कराने में सहायक होता है। इस प्रकार मोक्ष भारतीय दर्शन का केन्द्र बिन्दु है।

'मुच्' धातु से व्युत्पन्न मोक्ष और मुक्ति का अर्थ स्वतन्त्र होना या छुटकारा पाना है। मोक्ष का अर्थ जीवन मरण के चक्र से, और उसके परिणाम स्वरूप सभी प्रकार के दु:खों से छुटकारा पाना है। जन्म ग्रहण करने की आवश्यकता का आत्यन्तिक अभाव हो जाना ही सभी साधनाओं का लक्ष्य हैं, यही मोक्ष है। भारतीय दर्शन की यह विशेषता है कि वह मोक्ष से कम किसी मूल्य को जीवन का परम शुभ स्वीकार नहीं करता। यद्यपि मानवता की सेवा और नैतिक जीवन मूल्यवान है, किन्तु वे जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य नहीं, वे मात्र साधन ही है। इस प्रकार भारतीय दर्शन का लक्ष्य उस स्थिति को प्राप्त करना है, जहाँ जीव परम तत्त्व का ज्ञान ही प्राप्त नहीं करता वरन् स्वयं उसके साथ में तादात्म्य स्थापित कर लेना है।

---

१. प्रज्ञापनासूत्र ६.६२३

२. प्रज्ञापनासूत्र मलय वृत्ति, पत्र २.८, प्रज्ञा. १.१५-१७

भारतीय दर्शन के सभी सम्प्रदाय-बहुतत्त्ववाद, द्वैतवाद, एकतत्त्ववाद और परमवाद सभी का लक्ष्य एक है। बहुल रंगी गायों में भी दूध का रंग एक है। उसी प्रकार दार्शनिक भिन्नता होने पर भी अन्तिम साध्य सब का एक ही है, वह है मोक्ष प्राप्ति।

मोक्ष दायक ज्ञान का स्वरूप भिन्न हो सकता है, यह उस दर्शन की तत्त्व मीमांसा पर निर्भर करता है। वस्तुतः मोक्ष ज्ञान परमतत्त्व का ज्ञान है, परन्तु व्यक्तिगत रूप से वह जीव के स्वयं के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान है। संक्षेप में आत्मा का परमतत्त्व के साथ किसी दर्शन में जो संबंध है, उसी संबंध का ज्ञान मोक्ष प्रदान करता है। व्यक्ति निष्ठ दृष्टि से यही आत्मज्ञान होता है। अब हम भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों में मोक्ष का स्वरूप तथा उसके प्राप्त करने के साधनों पर विचार करेंगे।

(अ) वैदिक (वेद-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद् में) मुक्ति

ज्ञान के विकासक्रम के आधार पर चारों ही वेदों में मुक्ति प्रतिपादक मन्त्र, सूक्त, ऋचाएँ बहुलता से दृष्टिगत होती है। सर्वप्रथम ऋग्वेद में हम इसका प्रतिपादन देखेंगे-

ऋग्वेद में ऋषिगण परमात्मा से मुक्ति हेतु प्रार्थना करते हैं-हे परमात्मा आप हमें मृत्यु के बंधन से उसी प्रकार मुक्त कीजिए, जिस प्रकार ककड़ी का फल बन्धन से मुक्त होकर वृन्त से अलग हो जाता है। परन्तु हमें सदा अमर बनाए रहने वाले मोक्ष से विमुक्त मत कीजिये।[१] इसी प्रकार का मंत्र यजुर्वेद में भी है।[२]

पुनःकथन है कि सबके उत्पादक एवं प्रेरक उन देवाधिदेव परमात्मा का साक्षात्कार करते हुए हम सब लोग श्रेष्ठ ज्योति परमपद को प्राप्त हों।[३]

अपने ही अच्छे बुरे कर्मों के अनुसार ही जीव को सुखःदुख आदि की प्राप्ति होती है। अंत में ज्ञान के द्वारा दुःखों से छुटकारा पाना ही वास्तविक मुक्ति या मोक्ष हैं।[४]

---

१. ऋग्वेद ७.५९.१२
२. यजुर्वेद-३.६०
३. ऋग्वेद-१.५०.१०
४. वही १०.८८.१५

इसी प्रकार अथर्ववेद में ब्रह्मरूपता का प्रतिपादन किया है-

जो तत्ववेत्ता उस निर्विकार, अजर, अमर, नित्य आत्मा को जानता है, वह मृत्यु से कदापि भयभीत नहीं होता। ऐसा निष्काम, धैर्यशाली पुरुष साक्षात् शिव हो जाता है। वह सर्वदा पूर्ण आनन्द से संतृप्त रहता है। उसमें किसी प्रकार की न्यूनता नहीं रहती। वह वासनाओं से रहित होकर, विश्वरूपता को प्राप्त कर लेता है।

इन उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि अभ्युदय प्रधान वेदों में आरम्भ से ही नि:श्रेयस अथवा मुक्ति तत्त्व की धारा अविचल रूप से प्रवाहित होती चली आ रही है। बहुत पहले ही सत्यद्रष्टा ऋषियों ने स्थूल एवं नाशवान् जगत् से परे श्रेष्ठतम ज्योति स्वरूप शाश्वत मुक्ति का अन्वेषण कर लिया था।

ब्राह्मण ग्रन्थों में मुक्ति[१]

ब्राह्मण ग्रन्थ भी अध्यात्म की ओर अतिशय प्रेरित हुए हैं। ऋग्वेद के ब्राह्मण ऐतरेय में उल्लेख है कि-

हे इन्द्र! हमारे अज्ञान रूपी अंधकार को दूर करके हमारे चक्षुओं को ज्ञान से पूर्ण कीजिए। पाश से बंधे हुए हम लोगों को मुक्त कर दीजिए।[२]

यहाँ पर अज्ञान का आवरण दूर होने पर ही ज्ञान प्रकाश से ही कल्याण हो सकता है और बन्धन से मुक्ति भी तभी संभव है, यह निर्देश किया गया है। ऋग्वेद के सांख्यायन ब्राह्मण में भी ब्रह्म ज्ञान का प्राधान्य बताया गया है।

पुन: कथन है कि "आत्मयाजी श्रेष्ठ है।" दृष्टान्त है यथा अहीत्यादि। अर्थात् जैसे सर्प त्वचा से निर्मुक्त होता है, वैसी ही आत्मयाजी इस मर्त्य शरीर रूपी पाप से सर्वथा मुक्त हो जाता है। ऐसे शरीर संबंध को फिर दोबारा प्राप्त नहीं करता है।[३]

इस प्रकार ब्राह्मण साहित्य में सृष्टि का प्रतिपादन आत्मज्ञान के लिए करके, आत्मज्ञान को जीव-ब्रह्म का अभेद बोधक माना है। ऐसे आत्मज्ञान से ही परम पुरुषार्थ रूप मोक्ष प्राप्ति हो सकती है।

---

१. अथर्ववेद-१०.८.४

२. ऐतरेय ब्राह्मण- १२.८

३. माध्यन्दिन शतपथ ब्रा. का ११ अ २ ब्रा ६, कण्डिका १३

आरण्यकों में मुक्ति

आरण्यक ग्रन्थों में भी प्रत्यक्ष रूप से मोक्ष का विवेचन पाया जाता है। ऋग्वेद के ऐतरेय आरण्यक में परमपुरुषार्थ मोक्ष के दो उपाय बताए गये हैं-कर्म और ज्ञान। जो आहवनीय आदि अग्नि की उपासना करते हैं, वे परम्परा ब्रह्म सायुज्य को पाते हैं। तथा अहंग्रह (मैं ही ब्रह्म हूँ-अहं ब्रह्मास्मि) उपासना से साक्षात् ब्रह्म सायुज्य को पाते हैं। इसलिए आत्मज्ञान ही मोक्ष का सर्वश्रेष्ठ उपाय है।[१] इसमें ही अन्य ऋचा में यह परब्रह्म तत्त्व का प्रतिपादक है, यह कहा गया है।[२]

मोक्ष प्राप्ति के विधान में उल्लेख है कि उसी परब्रह्म परमात्मा का 'अयमहमस्मि' इस रूप से ध्यान करना चाहिये। इसी से मोक्ष मिलता है।[३] कृष्ण यजुर्वेद के अन्तर्गत तैत्तिरीय आरण्यक में मुक्ति प्रतिपादक अंश का उल्लेख है कि जिसे ब्रह्म का साक्षात्कार हो चुका है, उसके अनुभव का वर्णन है।[४] पुनः कथन है कि ब्रह्मज्ञानी तो अपने को ब्रह्मस्वरूप जानकर, जन्ममरण नहीं-यह निश्चय करता हुआ, अपनी मृत्यु का भय छोड़ देता है। मृत्यु तो शरीर की होती है, आत्मा की नहीं, अतः उसे कोई भय नहीं रह जाता है।[५] विराट् पुरुष के साक्षात्कार के बिना अमृतत्व प्राप्ति का दूसरा मार्ग नहीं है। क्योंकि कर्म से या दूसरे उपाय से अमृतत्त्व को प्राप्त नहीं कर सकते।[६]

दो प्रकार के ब्रह्म

उस परब्रह्म का ज्ञान कराने के विषय में मंत्र में दो प्रकार के ब्रह्म का वर्णन किया है-एक शब्द ब्रह्म है, दूसरा अशब्द ब्रह्म है। शब्द से ही अशब्द ब्रह्म प्रकाशित होता है। 'ओं' शब्द है, इसके उच्चारण से ऊर्ध्व गति करता हुआ, अशब्द में जाकर मिल जाता है। यही उत्तम गति है। यही अमृत है, वही सायुज्य है। जैसे मकड़ी तन्तु से ऊपर से चढ़कर अवकाश को प्राप्त करती है, वैसे ओंकार के ध्यान से आत्मा ऊपर से गति करता हुआ, स्वातंत्र्य को प्राप्त करता है। इसी प्रकार शब्दों का अतिक्रमण कर अशब्द, अव्यक्त ब्रह्म में लीन होते हैं। उनका स्वरूप अलग नहीं होता। 'ओं'

---

१. ऐतरेय आरण्यक २, १.१
२. ऐ. आ. का. २, अ. १, खं. ६
३. ऐ. आ. आ. २, अ-३ खण्ड २,१४
४. तै. आ. प्र. ९, अनु. ११, का. ४-५
५. वही. प्र. प्रा. १ अनु. ११ का ५-६
६. वही प्र. पा. ३ अनु. १३ (१)

यह अक्षर है, उसके आगे सब शात है, अशब्द है, अभय है, अशोक है, नित्य तृप्त, स्थिर, अचल, अमृत तथा अच्युत है। इत्यादि रूपों से उसकी उपासना करनी चाहिये। इसकी उपासना से अमृतत्व को प्राप्त होता है। जब उस निर्गुण तत्त्व में विलीन हो जाता है, तो वही अमृत ब्रह्मरूप बन जाता है। उस समय इसका प्रकाश ही रूप है। जिसमें निद्रा, आलस्य, जरा, मृत्यु , शोक नहीं है। जैसा प्रणव का रूप है, उपासक भी उसी रूप हो जाता है अर्थात् उपासक रूप, विगतनिद्र, जरारहित, मृत्युरहित और शोक रहित हो जाता है।[१]

उपनिषदों में मुक्ति

वैदिक परम्परा में आत्मा को ब्रह्म शब्द से अभिप्रेत किया गया है। उपनिषदों में ब्रह्म तत्त्व के साक्षात्कार के मंत्र बहुलता से मिलते है। यहाँ तक कि प्रो. विंटरनिट्ज ने सम्पूर्ण औपनिषदिक दर्शन का सार बताया है कि 'यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म है, परन्तु ब्रह्म आत्मा है।[२] डॉयसन भी औपनिषदिक दर्शन का सार आत्मा और ब्रह्म के समीकरण में ही देखते हैं।[३] ऋग्वेद में ब्रह्म शब्द प्रयुक्ति प्रार्थना अर्थ में होती थी, वही उपनिषद् में अर्थ भिन्नता आकर जिसके लिए प्रार्थना की जाती है अर्थात् परम तत्त्व अर्थ हो गया।

प्रश्न यह उठता है कि जब आत्मा और ब्रह्म में पूर्ण तादात्म्य है, दोनों एक हैं, तो यह दु:ख क्यों।? जन्म मरण का यह चक्र क्यों? यह बंधन क्यों? उपनिषद् के अनुसार बंधन का मूल कारण यह है कि आत्मा को अपने स्वरूप के विषय में कि वह ब्रह्म से भिन्न नहीं है, अज्ञान है। कहा भी गया है कि जो यहाँ भेद देखता है, वह जीवन-मरण के चक्र में पड़ता है।[४]

इस प्रकार बंधन का कारण अज्ञान है। उपनिषदों में यह दृढ़तापूर्वक कहा गया है कि स्वयं के अज्ञान को दूर करने, या ब्रह्म के ज्ञान को प्राप्त करने के अतिरिक्त मोक्ष प्राप्त करने का अन्य कोई रास्ता नहीं है। मुण्डक उपनिषद् में भी कहा है कि जिसने ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया, उसकी हृदय ग्रन्थि दूर जाती है, सारे संशय नष्ट हो जाते हैं, उसके कर्मों का क्षय हो जाता है।[५]

---

१. मैत्रायणीयमारण्यकम् प्रपाठक ४-४
२. A History of Indian Literature, Vol. 1 pt-I p.215
३. Out lines of Indian Philosophy, p.22
४. क. उ. २.१.१०
३. मु. उ. ३.२.१.

उपनिषदों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि यहाँ ब्रह्म का साक्षात्कार, तादात्म्य, तद्मयता मुक्तावस्था को सूचित करता है। मोक्ष के स्वरूप के विषय में इतना निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि वह निषेधात्मक रूप से जन्म-मरण के चक्र का समाप्त हो जाना, और परिणाम स्वरूप सभी दु:खों का अन्त है। परन्तु यहाँ मात्र निषेधात्मक स्थिति ही स्वीकार नहीं की गई वरन् भावात्मक रूप से वह सच्चिदानन्द ब्रह्म के साथ ऐक्य स्थापित करता है। इस प्रकार यहाँ मोक्ष का सम्प्रत्ययन उपलब्ध होता है।

यद्यपि वेदों में मोक्ष की अवधारणा को मान्य नहीं किया गया है, ऐसी सामान्यतया मान्यता है। क्योंकि 'स्वर्गकामो यजेत्' स्वर्ग की कामना के लिए यज्ञ करो-ऐसा वेदों में उल्लिखित है, एवं सर्वत्र ऐसी मान्यता है। तथापि उपर्युक्त उद्धरणों को देखते हुए दु:खों से, जन्म-मरण से छुटकारा होकर परमपद स्वरूप मोक्ष भी परिलक्षित होता है। उक्त सन्दर्भों को देखते हुए मोक्ष का निषेध भी नहीं किया जा सकता।

(आ) मीमांसा दर्शन में मोक्ष-

मीमांसा दर्शन भी विशुद्ध वैदिक है। पूर्व मीमांसा वैदिक कर्मकाण्ड-यज्ञ यजनादि से विशेष रूप से संबंधित है, तो उत्तर मीमांसा ज्ञान काण्ड पर प्रधान रूप से विवेचना करता है।

इनके ग्रन्थ श्लोकवार्तिक तथा तंत्रवार्तिक में इसकी प्ररूपणा है कि 'क्या आनन्द की प्राप्ति मोक्ष है? इसका समाधान करते हुए कहा है कि आत्मा में होने वाले समस्त विशेष गुणों का उच्छेद हो जाना ही मोक्ष है। क्योंकि इसमें ज्ञान-कर्म समुच्चय ही मोक्ष का साधन स्वीकार किया गया है। मोक्ष प्राप्ति के लिए कहा गया है कि मोक्ष को चाहने वाला आत्मोपासना से मोक्ष प्राप्त करे।'[१] यह आत्मोपासना आत्मज्ञान से संभव है। जिसे आत्मज्ञान हो जाता है, ब्रह्मलोक की प्राप्ति हो जाती है, वह दुबारा संसार में नहीं लौटता, मीमांसा का यह मत जैन मान्यता से साम्य रखता है। जिस प्रकार जैन मन्तव्य है सिद्धों का संसार में पुनरागमन नहीं होता, उसी प्रकार मीमांसक भी यह स्वीकार करते हैं कि ब्रह्मलोक की प्राप्ति होने पर यह आत्मा संसार में दुबारा नहीं आता। जब धर्म और अधर्म के अदृश्य होने के परिणामस्वरूप शरीर का पूर्ण रूप से निरोध (अवरोध) हो जाता हैं-वही मोक्ष है।[२] हमारे बंधन और सशरीरी होने का कारण यह है कि हमें पाप और पुण्यकर्मों

---

१. तंत्र वार्तिक पृ. २८२ २. G. N. Jha : The Prabhakara Schools of Purva Mimamsa (उद्धृत भारतीय दर्शन में मोक्ष चिन्तन पृ. १२९-१३०)

का फल भोगना पड़ता है। जब ज्ञान द्वारा पाप और पुण्य अदृश्य हो जाते हैं, तब आत्मा को शरीर धारण करने का कोई कारण रह नहीं जाता। शरीर से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। फलतः सभी दुःख समाप्त हो जाते हैं और वह मुक्त हो जाती है। इस प्रकार मीमांसा दर्शन भी दुःख निवृत्ति मोक्ष स्वीकार करता है।

(3) न्याय-वैशेषिक दर्शन में मोक्ष

अब हम मोक्ष स्वरूप विवेचन न्याय-वैशेषिक दर्शन के सन्दर्भ में करेंगे। जैसा कि पूर्व पृष्ठों में हमने जाना कि न्याय एवं वैशेषिक की पदार्थ विषयक तत्त्व की विचारणा के अतिरिक्त अन्य विचारणा में मतऐक्य है। इसी प्रकार मोक्ष-सिद्धान्त में भी उनकी मत-एकता झलकती है।

न्याय सूत्रकार गौतम ने मोक्ष की व्याख्या करते हुए कहा है कि "दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है।[१] यहाँ आत्यन्तिक से तात्पर्य है कि पुनः उसका प्रादुर्भाव असंभव है। यह तब संभवित हो पाता है जब 21 प्रकार के दुःखों का नाश हो। दुःख के 21 प्रकार हैं-1 शरीर + 6 इन्द्रियाँ + 6 इन्द्रिय विषय + 6 प्रत्यक्षबुद्धि + 1 सुख + 1 दुःख। शरीर दुःखभोग का आयतन है, इन्द्रियाँ, विषय तथा प्रत्यक्षबुद्धि दुःख के साधन हैं, सुख स्वयं दुःख से अवश्य संबद्ध है, अतः दुःखरूप है एवं दुःख तो स्वरूप से ही दुःख है।[२] "

वैशेषिक सूत्रकार कणाद भी इसी प्रकार स्वीकारते हैं कि आत्मा के धर्माधर्मरूप अदृष्ट का सम्पूर्ण नाश होने पर उस आत्मा के शरीर आदि के साथ विशिष्ट संयोग का नाश होता है। यह संयोग पुनः कभी उत्पन्न होता नहीं, यही मोक्ष है।[३] इससे यही फलित होता है कि दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है।

मुक्तात्मा में ज्ञान का अभाव-इनके अनुसार मुक्तात्मा में ज्ञानादि विशेष गुणों का अभाव होता है, क्योंकि आत्मा में उसके विशेष गुणों की उत्पत्ति के लिए शरीर के साथ आत्मा का संयोग अत्यन्त जरूरी है। इसी से महर्षि कणाद के वचन के हार्द को स्पष्ट करते हुए वैशेषिकाचार्यों का कथन है कि आत्मा के नौ विशेष गुणों का अत्यन्त उच्छेद ही मुक्ति है।[४] इसका कारण यह है कि विशेषगुण अनित्य है। अतः इनका नाश होता है किन्तु द्रव्य रूप आत्मा तो निर्विकार नित्य है। यह विशेषगुणों से भिन्न है। जब इन विशेष आत्मगुणों का उच्छेद होता है तभी उसका स्वरूप में अवस्थान होता है।[५]

---

१. तदत्यन्तविमोक्षोपवर्गः न्याय सूत्र १.१.२२
२. न्याय वार्तिक १.१.१.
३. तद्भावे संयोगाभावोप्रादुर्भावश्च मोक्षः- वै. सू. ५.२.१८.
४. नवानामात्मविशेषगुणानामत्यन्ताच्छितिर्मोक्षः व्योमवती पृ. ६३८
५. कन्दली पृ. ६९२, न्याय वा. ता. टीका १.१.२२

नैयायिकों के मुक्ति स्वरूप की आलोचना करते हुए कहा है कि तथा प्रकार की यह मुक्ति जड़-पत्थर की भांति संवेदना रहित है तथा इसी प्रकार पुनः प्रतिवाद किया है यह स्वरूप तो सुख-दुःख रहित होने से मूर्च्छावस्था के सदृश होने से, यह पुरुषार्थ स्वरूप नहीं है।[१] इन प्रतिवादों का उत्तर न्याय वैशेषिककार देते हैं कि पत्थर से दुःखोत्पत्ति संभवित नहीं, अतः मुक्तात्मा के साथ यह तुलना अयोग्य है। साथ ही मूर्च्छावस्था के सदृश कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि मूर्च्छावस्था में पुनः दुःखोत्पत्ति की संभावना है, जबकि मुक्ति आत्यन्तिक दुःख मुक्ति होने से परमपुरुषार्थ है।[२] इसी प्रकार नैयायिक मुक्ति में नित्य सुख एवं उसमें नित्य ज्ञान को स्वीकारते नहीं है।

मुक्ति के उपाय

नैयायिक एवं वैशेषिक तत्त्वज्ञान से मुक्ति स्वीकारते हैं।[३] न्यायसूत्रकार तत्त्वज्ञान का अर्थ आत्मा आदिका ज्ञान मानते हैं।[४] वस्तुतःआत्मज्ञान या आत्म साक्षात्कार ही तत्त्वज्ञान है। आत्मा को आत्मरूप में न जानना और अनात्म शरीर, इन्द्रिय, रूप आदि, विषय मन आदि को अनात्म रूप में जानना परन्तु इससे विपरीत अनात्म शरीर आदि को आत्मा गिनना, यह मिथ्याज्ञान है। यह मिथ्याज्ञान ही संसार का बीज है। फलतः जन्ममरण के कारण दुःख से छुटकारा नहीं होता।[५] मिथ्याज्ञान से विपरीत आत्मा में आत्मबुद्धि तथा अनात्म तत्त्वों में अनात्मबुद्धि का होना ही तत्त्वज्ञान है।[६] मिथ्याज्ञान दूर होने पर राग-द्वेष, रागद्वेष के दूर होने पर तद्युक्त प्रवृत्ति एवं पुनर्भव दूर हो जाता है।[७] इस प्रकार रागद्वेष मुक्त वह जीवन्मुक्त हो जाता है।[८] इस अवस्था को अपरामुक्ति कहा जाता है।

परन्तु जब सर्व पूर्वकृत कर्म वह भोग लेता है, शरीर भी छूट जाता है तब उसके अन्य शेष कर्म न रहने से उसका जन्म के साथ सम्पर्क छूट जाता है। देह संयोग नाश होने से सर्व दुःखों का आत्यन्तिक उच्छेद हो जाता है। इसे ही नैयायिक परामुक्ति या निर्वाणमुक्ति कहते हैं।[९]

---

१. उद्धृत-न्याय वैशेषिक-नगीन जी. शाह पृ. २२२-२२३
२. आत्मतत्त्वविवेक पृ. ४३८
३. न्यायसूत्र १.१.१.
४. न्याय भाष्य १.१.१.
५. वही ४.२.१.
६. वही १.१.२.
७. न्यायसूत्र ४.१.६४.
८. न्यायभाष्य १.१.२.
९. न्यायभाष्य १.१.२

इस प्रकार तत्त्वज्ञान से दोष, प्रवृत्ति, जन्म और दुःख दूर होकर मोक्ष प्राप्त हो जाता है।[१] परन्तु यह तत्त्वज्ञान कैसे प्राप्त होता है? इसका समाधान न्यायसूत्रकार गौतम कहते हैं कि "तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति समाधि विशेष से होती है।[२] योग साधना से आत्मा में तत्त्वज्ञान की योग्यता आती है। इसीलिये महर्षि कणाद ने कहा है "धर्म ही निःश्रेयस (मोक्ष) का उपाय है।[३] यहाँ धर्म से तात्पर्य है-श्रद्धा, अहिंसा, भूतहितत्व, सत्य, अस्तेय, भावशुद्धि, क्रोधवर्जन, अभिषेचन, शुचिद्रव्य सेवन, देवताभक्ति, तप और अप्रमाद।[४] इस प्रकार धर्म तत्त्वज्ञान को उत्पन्न करके, उसके द्वारा मोक्ष का उपाय या हेतु बनता है।[५] नैयायिक भासर्वज्ञ न्यायवैशेषिक की इस प्रचलित मान्यता से भिन्न मत धारण करते हैं-उनके अनुसार परमात्मा महेश्वर शिव के दर्शन ही मोक्ष का कारण है।[६]

मुक्तावस्था में उनका स्वरूप कैसा है? उसका विशेष विवेचन यहाँ नहीं दर्शाया गया है। परामुक्ति अथवा निर्वाण आत्मा का होता है, यहाँ तक की सीमा दी गई है। किन्तु जिस प्रकार जैन परम्परा मान्य सिद्ध, सिद्धिगति, उनके प्रकार आदि का वर्णन जिस गहराई से व सूक्ष्मता से किया है, उतना स्पष्टतः वर्णन का अभाव दिखाई देता है। फिर भी मोक्ष का स्वरूप कथन व उसके कारणों का निर्देश यहाँ भली भांति युक्ति देकर किया गया है। मिथ्याज्ञान से संसार एवं तत्त्वज्ञान से कर्मक्षय होकर मोक्ष की प्राप्ति होना-यह जैन मत से साम्यता रखता है।

(ई) सांख्य-योग-दर्शन में मुक्ति

न्याय दर्शन की भांति सांख्य दर्शन भी दुःखत्रय की अत्यन्त निवृत्ति[७] को मुक्ति स्वीकार करते हैं। आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक रूप इन दुःखत्रय की आत्यन्तिक निवृत्ति होना। अर्थात् दुःख के आविर्भाव की जिसमें कभी शक्यता न हो ऐसी निःशेष निवृत्ति। यह दुःख की निवृत्ति ही परमपुरुषार्थ मोक्ष है। योगसूत्रकार महर्षि पतंजलि भी यही स्वीकारते हैं।[८]

---

१. न्याय सूत्र १.१.२
२. न्याय सूत्र ४.२.३८
३. वै. सू. १.१.२.
४. प्रशस्तपाद भाष्य, धर्मप्रकरण
५. वै. सू. १.१.४
६. न्याय सार पृ. ५९०
७. सां. सू. १.१
८. यो. सू. २.१६.

यहाँ सांख्यकार के अनुसार निवृत्ति का अर्थ 'ध्वंस' है। इनके मतानुसार उत्पन्न वस्तु का अपने कारण में लय होना ही ध्वंस है। सांख्य के मत में प्रकृति-पुरुष का भेदज्ञान उत्पन्न होने पर पुरुष मुक्त होता है। भेदज्ञान से किस प्रकार मुक्ति प्राप्त करता है? उस विषय में कथन है कि-प्रकृति से पुरुष तक पच्चीस तत्त्वों के स्वरूप पर श्रद्धापूर्वक निरन्तर दीर्घकाल पर्यन्त अभ्यास के परिणाम स्वरूप साधक के चित्त में सत्त्वपुरुषान्यथाख्याति अर्थात् बुद्धि-पुरुष की भिन्नता का बोधक ज्ञान उत्पन्न होता है। संशय और विपर्यय (मिथ्याज्ञान) के अभाव में यह भेदज्ञान या तत्त्वज्ञान विशुद्ध होता है। जब तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो जाता है तब अज्ञानोत्पादक कुछ भी ज्ञातव्य नहीं रहता है। इससे मिथ्याज्ञान भी उत्पन्न हो नहीं पाता। इस अर्थ में यह तत्त्वज्ञान निरवशेष है। इस तत्त्वज्ञान का स्वरूप इस प्रकार है-मैं पुरुष परिणामी नहीं हूँ, इसलिए मैं कर्त्ता नहीं हूँ, अकर्तृत्व के कारण मुझ में *वास्तविक स्वामित्व भी नहीं है।*[१] इस प्रकार विवेक ज्ञान जागृत होने पर मुक्ति का मार्ग अधिक विकसित हो जाता है। सत्त्वपुरुषान्यथाख्यातिरूप विद्या के उदय होने पर अविद्या का जड़ से नाश हो जाता है। अविद्या के अभाव में उसके कार्य राग द्वेष आदि भी उत्पन्न नहीं होते। राग-द्वेष के अभाव में नये धर्म-अधर्म उत्पन्न नहीं होते, साथ ही पूर्वसंचित कर्म भी राग द्वेष आदि सहकारी के अभाव में दग्धबीजरूप अवस्था को प्राप्त करते हैं।

पुरुष का बोध अभिमानिक है। उसका इस अभिमान का तत्त्वज्ञान का उदय होने पर नाश हो जाता है। अभिमान के कारण ही राग द्वेष उत्पन्न होता है। और रागद्वेष के कारण धर्म-अधर्म आइद उपार्जित करता है। इस प्रकार संचित कर्म राग द्वेष का सहकार लेकर पुनर्जन्म का कारण बनते हैं। इसके अभाव में संचित कर्म दग्ध हो जाते हैं। और अवशिष्ट रहे प्रारब्ध कर्मों का भोग द्वारा क्षय होने पर पुरुष की स्वाभाविक कैवल्यावस्था प्रकट होती है। इस प्रकार तत्त्वसाक्षात्कार के परिणाम स्वरूप मुक्ति संभवित होती है। इस अवस्था में पुरुष निष्क्रिय और स्वस्थ बनकर प्रकृति को उदासीन भाव से देखता है। विवेकख्याति उत्पन्न होने के बाद प्रकृति और पुरुष का संयोग होने पर भी, सृष्टि का प्रयोजन भोग और भेदज्ञान सिद्ध हो जाने के कारण, तत्त्वज्ञान का उदय हो जाता है। इससे पुरुष की मुक्ति में कोई प्रतिबन्धक एवं बाधक नहीं हो पाता।[२]

---

१. सां. त. कौ. ६४

२. सां. प्र. भा. १.१

सांख्य के मतानुसार "जिस प्रकार कुंभार का चाक उसका कार्य हो जाने के पश्चात् भी संस्कार-वेग वशात् कुछ समय तक घूमता ही रहता है। उसी प्रकार तत्त्वज्ञान उत्पन्न हो जाने के बाद भी विवेकसम्पन्न व्यक्ति का शरीर गिर नहीं जाता। अर्थात् उसकी देहलीला समाप्त नहीं होती।[१] यद्यपि तत्त्वज्ञान के कारण धर्म-अधर्म वर्तमान देह में अपना फल देने में असमर्थ होते हैं। जिससे तत्त्वज्ञानी को जन्मान्तर में शरीर धारण करने की कोई शक्यता होती नहीं। तत्त्वज्ञान के प्रभाव से पुनः शरीरोत्पत्ति होना संभव नहीं होता। आरब्ध धर्म-अधर्म का क्षय भोग से हो जाने पर, तत्त्वज्ञानी पुरुष के देहपात के पश्चात् ही अनेकान्तिक एवं आत्यन्तिक मुक्ति प्राप्त होती है।[२]"

क्या सब जीव मुक्त होने में समर्थ हैं? इस प्रश्न का समाधान सांख्य करता है कि सब जीव मुक्त होने योग्य हैं, परन्तु सब ही मुक्तिवरण कर लेंगे तो संसार का अन्त आ जावेगा, यह शक्य नहीं क्योंकि जीव अनन्त है। अनेक पुरुषों को कैवल्य प्राप्त हो जाने पर भी अनन्तजीव शेष रहते हैं। परिणामस्वरूप संसार का भी अन्त नहीं हो सकेगा।

इस प्रकार सांख्यदर्शन में मुक्ति किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है, उसके स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है।

योगदर्शन में कैवल्य और मुक्ति

सांख्यदर्शन की भांतियोग दर्शन भी यह स्वीकार करते हैं कि द्रष्टा एवं दृश्य का संयोग ही दुःख का कारण है।[३] एवं संयोग का कारण अविद्या है।[४] इस अनादिकालीन संयोग के कारण ही प्रकृति एवं पुरुष भ्रान्त होकर अपने स्वरूप को भुला बैठे हैं, अतः समस्त दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति हेतु इस अविद्या निमित्तक संयोग को हटाना परमावश्यक है।[५] इस अविद्या का नाश हो जाने पर जो बुद्धिसत्त्व एवं पुरुष के संयोग का अभाव होता है, वही मोक्ष कहा जाता हैं।[६] इस प्रकार दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति ही परम पुरुषार्थ है।[७]

---

१. सां. का. ६७
२. सां. का ६८
३. योग सूत्र २.१७
४. वही २.२४
५. वही २.२५
६ व्यासभाष्य पृ. २३१
७. तत्त्ववैशारदी पृ. २३९, योग वार्तिक पृ. २३१

इस अविद्या का नाश कैवल्य की प्राप्ति से होता है। एवं कैवल्य की प्राप्ति का एकमात्र उपाय है विवेक ख्याति।[1] जब साधक का चित्त रज एवं तमोगुण रूप मल से रहित हो जाता है अर्थात् एकमात्र सत्त्वगुण का उद्रेक ही उसके चित्त में रहता है, तब वह चित्तका वैशारद्य हो जाता है।[2] उस वैशारद्यचित्त में पूर्ण निर्मलता आ जाती है। इस पूर्ण निर्मलचित्त में विवेकख्याति रूप विशिष्ट ज्ञान का उदय होता है। इस समय परम तत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है। चित्त की निवृत्ति मोक्ष का उपाय है।[3] इस प्रकार क्रमशः जब समस्त वृत्तियों के निरोध हो जाने के उपरान्त असम्प्रज्ञात समाधि में निरोध संस्कार भी क्षीण हो जाते हैं, तब चित्त, वृत्तियों सहित अपने कारण प्रकृति में लीन हो जाता है और पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है, यही मोक्ष कहा जाता है।[4]

योगवार्तिककार तीन प्रकार की मुक्ति का निर्देश करते हैं। पहली मुक्ति ज्ञान से होती है, यह मुक्ति मिथ्यादर्शन से मुक्ति है। दूसरी मुक्ति राग द्वेष के क्षय से होती है यह क्लेशों से मुक्ति है तथा तीसरी मुक्ति कर्मक्षय से होती है यह कर्म से मुक्ति है। यह तीनों ही मुक्ति तत्त्वतः विवेकी को होती है।[5]

कैवल्य किसका?

योग दर्शन में स्पष्ट रूप से दो प्रकार के कैवल्य की कल्पना की है।[6] वाचस्पति मिश्र इनमें से प्रथम को प्रधान का मोक्ष एवं द्वितीय को पुरुष का मोक्ष मानते है।[7]

सांख्य की भांति योग में भी दो प्रकार की मुक्ति स्वीकार की है-1. जीवन्मुक्ति 2. विदेहमुक्ति। प्रारब्ध कर्मों की स्थिति के समय तक जीवन्मुक्ति पश्चात् विदेहमुक्ति होती है।[8]

---

१. योग सूत्र २.२६
२. त. वै. पृ. १२५
३. यो. वा. पृ. १२७
४. वही पृ. १८
५. योगवार्तिक पृ. ४४१-५४९ (४.२५-३२)
६. योगसूत्र ३.३४
७. त. वै. पृ. ४६४
८. यो. सा. सं. पृ. १७, व्यास भाष्य पृ. ४५५

इस प्रकार योग दर्शन में मोक्षावस्था की प्रक्रिया का वर्णन किया है। मुक्ति किस प्रकार वरण की जाती सकती है। उसका विधान है किन्तु (विदेहमुक्ति के विषय में प्रकाश नहीं डाला गया है।

(3) बौद्ध मत में निर्वाण

बौद्ध परम्परा में निर्वाण को सर्वोच्च अवस्था के रूप में स्वीकार किया गया है। एवं प्रत्येक व्यक्ति इसे प्राप्त कर सकता है। निर्वाण को विमुक्ति भी कहा है, जिसका अर्थ है विकार भावों तथा इच्छाओं से निवृत्ति।

भगवान् गौतम बुद्ध ने **दुःख निवृत्ति स्वरूप निर्वाण कहा है।** उनका कथन है-ओ भिक्षु! यह दुःख निरोध सत्य है-अवशिष्ट तृष्णा की समाप्ति, मुक्ति और अनासक्ति।[१] बुद्ध की त्रिसूत्री शिक्षा भी यही है-सब अनित्य है, सब कुछ निःसार है तथा केवल निर्वाण में ही शांति है।[२]

निर्वाण का शाब्दिक अर्थ है उच्छेद, निर्गमन, परिशमन अथवा पूर्ण विनाश। निर्वाण और तथागत इन दोनों का ही तात्पर्य है-पूर्ण आध्यात्मिक मुक्ति एवं सभी प्रकार की आसक्तियों, विकारभावों और अज्ञानता की परिसमाप्ति। यहाँ निर्वाण शब्द का प्रयोग अग्नि या लेम्प जलने के सन्दर्भ में उच्छेद अर्थ को लेकर हुआ है। वास्तव में जब भगवान् बुद्ध से पूछा जाता था कि निर्वाण क्या है? तब उस समय वे स्वयं मौन हो जाते थे। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि निर्वाण की सत्ता नहीं। क्योंकि धम्मपद में इसका स्पष्ट संकेत मिलता है कि-ज्ञान के बिना ध्यान और ध्यान के बिना ज्ञान हो सकता। ज्ञान और ध्यान से यो युक्त है, वह निर्वाण के समीप हो जाता है।[३] इस प्रकार यह परम सुख और शान्ति की अवस्था है।

उदान में निर्वाण की अवस्था को निषेधात्मक ढंग से व्यक्त करते हुए कहा है कि यह एक ऐसी अवस्था है जहाँ न पृथ्वी है, न पानी है, न अग्नि, न हवा, न आकाश की अनन्तता है। यह न चेतना की, न अचेतना की अवस्था है, न यह संसार है न दूसरा, न सूर्य है न चन्द्रमा, न वहाँ आगमन है, न गमन। न अवस्थित है न उत्पत्ति। वह बिना किसी आधार के है। यही वस्तुतः दुःखक्षय की अवस्था

---

१. संयुक्त निकाय ५, ४२०

२. सर्वमनित्यं, सर्वमनात्मं, निर्वाणं शान्तम्

३. धम्मपद गा. ३७२

है। यह एक अनुत्पन्न, अजात और असर्जित स्थिति होती है। यदि ऐसा न हो तो जन्म आदि से मुक्ति भी न हो। चूंकि अनुत्पन्न आदि स्थिति है इसलिए जन्म आदि से मुक्ति मिल जाती है।[१]

वस्तुतः इच्छा द्वेष और श्रम का विनाश ही निर्वाण है।[२]

इस प्रकार निर्वाण का अनुभव करने वाला सर्वोच्च तत्त्वद्रष्टा कहा जाता है। वह ऐहिक तथा पारलौकिक तृष्णाओं, कष्टों और वासनाओं से मुक्त रहता है। वह चिन्ताओं से मुक्त और शांत है तथा परमानन्द की अनुभूति करने वाला है।[३] पुनः कहा है कि स्वास्थ्य सबसे बड़ी देन है, संतोष सबसे बड़ा धन है।[४] मिलिन्द पञ्हो में निर्वाण को विधेयात्मक, पारलौकिक और सर्वोच्च प्रसन्नतादायक कहा है। वास्तव में वह अनुभवनीय है, वर्णनीय नहीं। निर्वाण अनन्त सुख है तथा दुःखों से पूर्णतः मुक्त है। जैसे समुद्र का जल मापा नहीं जा सकता, उसी प्रकार निर्वाण की अगाधता भाषा द्वारा व्यक्त नहीं की जा सकती। वह तृष्णा की मुक्ति है और फलतः जन्म, मरण, जरा, मृत्यु आदि से दूर है।[५]

भगवान् बुद्ध स्वयं भी कहते हैं कि ब्रह्मचर्य का चरम लक्ष्य निर्वाण है, इसके आगे क्या होता है?[६] यह मत पूछो। स्पष्ट है निर्वाण की स्थिति विचार की कोटि से परे है।

भगवान् बुद्ध ने अनेक अवसरों पर इसे परकल्याण और परम आनन्द की स्थिति बतलाया है। परन्तु निर्वाण इतना अगाध है कि बुद्धि की कोटियों द्वारा भी उसे प्राप्त नहीं कर सकते। और न ही भाषा के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति कर सकते हैं। निर्वाण के संबंध में सभी दृष्टिकोणों का समन्वय करते हुए डॉ. राधाकृष्णन् लिखते हैं कि 'बुद्ध का अपना निजी मत संभवतः यह रहा कि निर्वाण पूर्णता की एक ऐसी दशा है जिसे हम सोच नहीं सकते, और यदि इसका वर्णन करने को हमें बाध्य ही होना पड़े तो सबसे उत्तम यह होगा कि हम उसकी अनिर्वचनीयता का निषेधात्मक कथन द्वारा एवं उसके तत्त्व की समृद्धिशीलता

---

१. उदान ८.१, ३
२. संयुक्त निकाय ४.२५१
३. मज्झिमनिकाय भाग २ पृ. १२१
४. धम्मपद गा. २०४
५. मिलिन्द प्रश्न ३.४.६)
६. मार सुत्त (सं. नि.)

का विधानात्मक गुणविधान द्वारा वर्णन करने का प्रयत्न करे, किन्तु बराबर इस बात का ध्यान बना रहना चाहिये कि इस प्रकार के वर्णन केवल निकटता को ही दर्शाते हैं, वे सम्पूर्ण नहीं हो सकते।[1]

इस मत को कि बुद्ध के लिए निर्वाण केवल राग द्वेष और मोह का ही क्षय है, एक और तथ्य से भी समर्थन मिलता है। वे बार-बार यह कहते हैं कि संसार में आग लग गई है-और यह आग जरा मरणकी, रागद्वेष की और मोह तृष्णा की है।[2]

इस मोक्ष मार्ग पर आरूढ़ होने के लिए बौद्ध दर्शन में आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग का विधान किया है-

1. सम्यग् दृष्टि-दु:ख का ज्ञान, दु:ख के समुदय का ज्ञान, दु:ख के निरोध का ज्ञान तथा दु:ख निरोध गामीमार्ग का ज्ञान होना।

2. सम्यक् संकल्प-त्याग का संकल्प, वैर विरोध और हिंसा से अलग रहने का संकल्प ही सम्यक् संकल्प है।

3. सम्यक् वाचा-असत्य बोलना, कटुभाषण, निन्दा चुगली, आदि से विरत रहना सम्यक् वाचा है।

4. सम्यक् कर्मान्त-जीव हिंसा, चोरी, अब्रह्म से विरत होना ही सम्यक् कर्मान्त है।

5. सम्यक् आजीव-श्रावक का मिथ्याचार आजीव (चोरी) आदि को छोड़कर सम्यक् आजीव से अपनी जीविका चलाना सम्यक् आजीव है।

6. सम्यक् व्यायाम-अकुशल धर्मों के अनुत्पाद के लिए तथा कुशल अनुत्पन्न अकुशल धर्मों के उत्पाद के लिए प्रयत्न करना, सम्यक् व्यायाम है।

7. सम्यक् स्मृति-उठते, बैठते, खाते, पीते, चीवर ओढ़ते संक्रमण करते निरन्तर सेवनीय धर्मों की स्मृति बनाए रखने का नाम सम्यक् स्मृति है।

8. सम्यक् समाधि-सम्यकदृष्टि से लेकर सम्यक् स्मृति पर्यन्त जो इन सात अंगों से चित्त की एकाग्रता है, उसी को हेतु और परिष्कार के साथ सम्यक् समाधि कहते हैं।

चार आर्य सत्यों में चतुर्थ सत्य निवार्ण प्राप्ति के साधन के रूप में अष्टाङ्गिक मार्ग को स्वीकार किया है। निर्वाण के इस मार्ग को मध्यम मार्ग कहा है। यह

---

१. भारतीय दर्शन भाग. १ पृ. ४१७)

२. आदित सुत्त संयुक्त निकाय)

विषयभोगों तथा काय क्लेशों की अतियों के बीच समन्वय स्थापित करता है। प्राचीन बौद्ध तथा संस्कृत बौद्ध साहित्य में निर्वाण के मार्ग के रूप में शील, समाधि और प्रज्ञा का उल्लेख किया जाता है। बाद में इसी मार्ग को अष्टांग मार्ग भी कहा गया है।

इस प्रकार बौद्ध परम्परा में मोक्ष विषयक अवधारणा का गहनतम विचार किया है।

मुक्तावस्था का तुलनात्मक अध्ययन

भारतीय दर्शन के अन्तर्गत सर्व दर्शनों ने मुक्ति को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया ही है। मोक्षावस्था से पूर्व उसी भव में जीवन्मुक्त अवस्था को पूर्व भूमिका के रूप में मान्य किया है। यदि जीवन्मुक्तावस्था नहीं है तो विदेहमुक्ति अथवा मोक्ष भी संभव नहीं। तात्पर्य यह है कि जीवन्मुक्तता मोक्ष की अनिवार्य शर्त है। यह जीवन्मुक्ति जिस जीव का अन्तःकरण धुल गया हो, वासनाएँ न हो, वीतराग-वीतद्वेष हो, उसको देह की विद्यमानता में ही होती है। यह ज्ञान की चरमावस्था भी है। हर्ष-शोक से परे, निरतिशय आनन्द के अनुभव की यह अवस्था है। विशुद्ध चित्तवृत्ति प्रवाहित होती है। उसका देहाध्यास मिट जाता है। मात्र शरीर को धारण करने वाली प्रारब्ध कर्म-वासनाएँ ही प्रवृत्त होती है। ऐसा पुरुष ही जीवन्मुक्त, केवली कहलाता है। उनका मोक्ष भी निश्चित रूप से होता ही है।

चार्वाक दर्शन जीवनकाल में किसी के आधीन न होना, जीवन्मुक्ति मानता है तथा जीवन की समाप्ति को मोक्ष।

बौद्ध-दर्शन में जीवन्मुक्तावस्था को सोपधिशेष निर्वाण कहा है। उस अवस्था में साधक के सब क्लेशावरणों का प्रहाण होता है। इसे विमुक्तकाय की दशा भी कहा है। विदेहमुक्ति को निरूपधिशेष निर्वाण से व्यवहृत किया है। इस दशा में चित्त सन्तति का सर्वथा उच्छेद हो जाता है।

न्याय वैशेषिकों के अनुसार भी जीवनकाल में ही मिथ्याज्ञान जन्य वासनाओं का अभाव होना जीवन्मुक्ति है। आत्मा के साथ शरीर प्राण, इन्द्रियों का संयोग जीवन है। और तद्जन्य दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति या दुःखों का ध्वंस मोक्ष है।

सांख्य मत में सत्त्वपुरुषान्यथाख्याति का उदय होने से जीवन्मुक्ति को मध्य विवेक की अवस्था कहा गया है। अज्ञान का नाश होकर तत्त्वज्ञान होने पर ही

जीवन्मुक्ति संभव है। यह जीवन्मुक्त कुलाल के चक्र के घूमने के सदृश स्थित रहता है। उसके जीवन के पश्चात् विदेह मुक्ति होती है।

योग दर्शन में ऋतम्भरा प्रज्ञा का उदय ही जीवन्मुक्ति कहा है। उस समय योगी जीवन से संयुक्त होने पर भी दुःखों से असंश्लिष्ट रहता है। दग्ध बीजांकुरों के समान उसके क्लेश दग्ध हो जाते हैं। चित्त की विक्षिप्तता इसमें संभव नहीं। इस अवस्था को धर्ममेघ समाधि कहते हैं। इसका लाभ होने से जीवन होने पर भी मुक्त है। फलस्वरूप क्लिष्ट वृत्तियों का उपशम होने पर जीवन दशा में ही योगी कैवल्य लाभ करते हैं। अद्वैतियों की जीवन्मुक्ति कुछ भिन्न है। तत्त्व साक्षात्कार होने पर उत्क्रमण के बिना ही जीव यहीं पर ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है। शंकराचार्य और उनकी शिष्य परम्परा ने जीवन्मुक्ति को मान्य किया है, उसका समर्थन किया है किन्तु मण्डन मिश्र एवं वाचस्पति मिश्र आदि ने इसे सिद्ध अवस्था ने मानकर साधक अवस्था में इसका अन्तर्भाव कर लिया है।

श्रुतियों एवं उपनिषद में उसका साक्षात् निर्देश किया है कि जीवन्मुक्ति का निषेध तो किया ही नहीं जा सकता। वहाँ स्पष्ट कहा है कि जब मानव हृदय में स्थित सभी वासनाओं से मुक्त हो जाता है तो मनुष्य अमर हो जाता है, यहीं पर ब्रह्म का अनुभव करता है। वास्तव में पुनः पुनः। ईश्वर का अभ्यास करने से संसार दशा में तिरोहित हुए आवरणों का नाश होने पर धर्म अभिव्यक्त हो जाते हैं। तब जीवन अवस्था में ही जीव ब्रह्म हो जाता है। इस प्रकार सभी आस्तिक और नास्तिक दर्शनों द्वारा जीवन्मुक्ति को स्वीकार किया गया है। सभी दर्शनों ने मुक्तावस्था से पूर्व यह जीवन्मुक्तावस्था अनिवार्य मान्य किया है। किन्तु मुक्तावस्था के पश्चात् विदेहमुक्त की क्या स्थिति है, इसका विवेचन जितनी सूक्ष्मता से जैन दर्शन में किया है, इतर मतों में उसको स्थान नहीं दिया गया है। जैन परम्परा का यह मौलिक चिन्तन है। मुक्त होना, उसकी प्रक्रिया, उनका ज्ञान-दर्शन-सुख, उनकी स्थिति, अवगाहना (स्वकायस्थिति) उनका प्रतिष्ठान आदि अनेक सिद्धावस्था एवं सिद्धिगति का निरूपण अत्यन्त गहनता से विशद रूप से किया है। इस प्रकार मुक्तावस्था का विश्लेषण अन्य किसी धर्म-दर्शन में दृष्टिगत नहीं होता। आत्मा की मुक्तावस्था को सर्वदर्शन एकमत से अंगीकार करके भी मुक्तावस्था के स्वरूप-स्थिति आदि का जिक्र नहीं किया गया। मात्र जैन परम्परा इसका विशद वर्णन प्रस्तुत करती है।

अध्याय-5

पंच परमेष्ठी का तृतीयपद-आचार्य

आचार्य की अवधारणा

-आचार्य : व्युत्पत्तिपरक अर्थ एवं पर्यायें

स्वरूप : लौकिक-धार्मिक

(क) लौकिक-कला, विद्या, शिक्षाचार्य आदि

(ख) धार्मिक-जैन एवं अजैन

(ग) आचार्य की आठ संपदाएँ

(घ) आचार्य के गुण (छत्तीस-छत्तीसी)

संघ नेतृत्त्व-

(अ) माहात्म्य-अर्थ, प्रकार

(ब) धर्म के साथ जुड़ा संघ शब्द

-सामान्य अर्थ में

-चतुर्विध संघ

(स) संघ संचालन-

1. प्रभावकता

2. आचार की विशुद्धि

(क) पंचाचारकी स्वयं परिपालना

(ख) संघ द्वारा पालन हेतु पुरुषार्थ

आचार : विभिन्न दृष्टिकोण

-भारतीय आचार

-पाश्चात्य आचार

-जैन परंपरा में आचार के भेद-प्रभेद

आचार शुद्धि के सोपान : पचांचार

1. ज्ञानाचार 2. दर्शनाचार 3. चारित्राचार 4. तपाचार 5. वीर्याचार

आचार्य विषयक इतर दर्शनों की विचारणा-

वेदों में आचार्य

बौद्ध परंपरा में आचार्य

पंच परमेष्ठी का तृतीयपद-आचार्य

आचार्य की अवधारणा-

अनंतज्ञानी तीर्थङ्कर परमात्मा ने चतुर्विध संघ-तीर्थ की स्थापना करके विश्व पर एक अनन्य श्रेष्ठ उपकार किया है। साथ ही दूसरा उपकार अर्हत् परमात्मा ने यह किया कि उन्होंने अपनी उपस्थिति में ही अपने उत्तराधिकारी को भी गौरवास्पद पद प्रदान किया। आसन्न उपकारी चरम तीर्थपति प्रभु महावीर ने स्वहस्त से एकादश ब्राह्मण-पंडितों को गणधरपद पर स्थापित किया। इससे संघ को महान् लाभ यह हुआ कि अर्हत् प्रभु की अनुपस्थिति में श्रीसंघ-शासन को सफल नेतृत्व वहन करने वाले की शोध करने की कोई चिन्ता न हुई। इसी प्रकार गणधर भगवन्तों के पश्चात् भी आचार्यों की पट्टपंरपरा इस प्रकार चलती रही कि उनसे संलग्न सम्पूर्ण विवाद-क्लेशादि निरवकाश बन गये।

आचार्य पद की सर्वोपरि महत्ता तो यह दृष्टिगोचर होती है कि स्वयं तीर्थङ्कर परमात्मा ने अपने कर कमलों से वासक्षेप (चंदन का चूर्ण)-करके अपने उत्तराधिकारी के प्रति शंका-कुशंका-अविश्वास करने को स्थान ही न रखा। अपनी उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति में सकल संघ को उनके आज्ञांकित रहने का स्पष्ट फरमान दिया। इस प्रकार के उद्घोष द्वारा भी आचार्यपद को गौरवान्वित किया। इससे यही फलीभूत होता है कि आचार्य परमेष्ठी जैन शासन के सफल नेता है। कुशल सुकानी है। धर्मरथ के सारथि है। शासन-धर्म की रक्षा एवं प्रभावना करने में सदा अप्रमत्त एवं तत्पर हैं।

ज्ञान के बिना यह सब शक्य कैसे हो? अतः वे वर्तमान समस्त श्रुत के पारगामी होते है। वे भव्यजीवों को करुणाबुद्धि से धर्मोपदेश देते हैं। इस प्रकार सकल संघ में जिनशासन के समृद्धज्ञान एवं आचार की, जैनत्व से ओतप्रोत शुभ संस्कारों की, वसीहत की सुरक्षा करने वाले, वृद्धि करने वाले हैं। इस प्रकार वे जैन शासन के प्रभावक, प्रचारक एवं धर्मोपदेशक है।

आचार्य श्रमण संघ के जीते, जागते सजग प्रहरी हैं। उनके बलिष्ठ व वरिष्ठ स्कन्धों पर संघ का उत्तरदायित्व होता है। जैसे सघन अंधकार को सूर्य की चमचमाती रश्मियाँ नष्ट कर देती हैं, इसी तरह श्रुत, शील और बुद्धि से सम्पन्न आचार्य संघ को सदुपदेश एवं ज्ञानदान से अज्ञान अंधकार को नष्ट कर सूर्य की

तरह चमकते हैं तथा जिस प्रकार देवों में इन्द्र शोभा पाता है, उसी प्रकार वे श्रमणों में सुशोभित होते हैं।[१] आर्य शय्यंभव सूरिने आचार्य के व्यक्तित्व को, एवं कृतित्व को व्यक्त किया है कि जिस प्रकार शरद पूर्णिमा की शुभ रात्रि में ग्रह, नक्षत्र, तारों, से चंद्रमा सुशोभित होता है, अमृत की वर्षा करता हैं, अपनी शीतल चांदनी से जन मानस को शांति प्रदान करता है, वैसे ही आचार्य भी चतुर्विध संघ के परिवार से सुशोभित होते हैं।[२] वे जिनवाणी रूपी अमृत वर्षा करते हैं, भव-ताप से तापित व्यक्तियों को शीतलता प्रदान करते हैं।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने आचार्य की तुलना चक्रवर्ती के वातानुकूलित शीतगृह से की है।[३] जैसे शीतगृह में बाह्य वातावरण की असर नहीं होती। चाहे बाहर ग्रीष्म की कितनी ही गर्मी हो, चाहे पोष माह की कितनी ही कंपाने वाली सर्दी हो या मूसलाधार वर्षा या आंधी हो वातानुकूलित गृह पर उसका कोई असर नहीं होता। वैसे ही आचार्य पर बाह्य परिस्थितियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। कैसी भी परिस्थिति क्यों न हो, चाहे अनुकूल हो या प्रतिकूल, उनके मन पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। स्थानाङ्ग में आचार्य के जीवन का शब्दचित्र आलेखित किया है कि-आचार्य का जीवन आंवले की तरह ज्ञान रूपी रक्त की अभिवृद्धि करने वाला है, अंगूर की तरह मधुर है, खीर की तरह पूर्ण स्वादिष्ट है और इक्षुखण्ड की तरह रसदार है।[४]

पंच पंचमेष्ठी में तीसरा पद आचार्य भगवन्त का है। मुमुक्षुओं के लिए मोक्ष साध्य है, तो सदारचरण उसका साधन है। कारण के बिना कार्य का होना संभव नहीं, अतः जिसको मुक्त होने की इच्छा हो उसको मोक्ष के अनन्य साधनभूत सदाचार को जीवन में अपनाना ही होगा। तीसरे पद-निष्ठ आचार्य स्वयं आचार का पालन करते हैं और संसार को भी इस मार्ग पर चलने की सतत प्रेरणा अपने जीवन से एवं उपदेश से देते हैं। पंचाचार का पालन आचार्य करते हैं, उसमें जगत् के समस्त सुन्दर आचारों का समावेश हो जाता है। इन पंचाचारों का पालन अथवा

---

१. दशवैकालिक ९.१.१४
२. वही ९.१.१५
३. निशीथ भाष्य २७९४
४. स्था. ४.३.३२०

उस पर अनुराग, भक्ति, प्रेम जीव में मोक्ष प्राप्ति की योग्यता प्राप्त कराता है। इनके पालन के बिना मोक्ष तो क्या सद्गति में गमन भी अशक्य हो जाता है। अतः सदाचार की पूजा, सदाचार पर प्रेम की अभिव्यक्ति आचार्य पद पर श्रद्धा उत्पन्न करती है।

आचार्य समस्त जगत् को जिनागमों की शिक्षा देते हैं, धर्मोपदेश देते हैं। उनके ज्ञान के समक्ष समस्त जगत् लघु अर्थात् शिक्षा ग्रहण करने योग्य हैं। आचार्यों का शिक्षादान उनको गुरु पद पर प्रतिष्ठित करता है। जो स्वयं को लघु मान्य करते हैं वही शिक्षाग्रहण करने में समर्थ हो सकते हैं।

आचार्य : व्युत्पत्तिपरक अर्थ-

जैन परंपरा मान्य आचार्य पद के व्युत्पत्तिपरक अर्थ भिन्न-भिन्न दृष्टि बिंदुओं को लक्ष्य में रखकर किये गये हैं। जैन परंपरा अभिप्रेत अर्थों की समायोजना निम्न प्रकार से की गई है-

(1) आचर्य्यते असावाचार्य्यःसूत्रार्थावगमार्थ मुमुक्षुभिरासेव्यते इत्यर्थः[१]

अर्थात्-आचारण करते हैं अतः आचार्य कहलाते हैं। सूत्र एवं अर्थ के बोध के लिए मुमुक्षुओं के द्वारा जो सेवनीय अर्थात जिनकी सेवा की जाती है वे आचार्य हैं।

(2) अथवा आ-मर्यादया तद्विषयविनयरूपया चर्यन्ते-सेव्यन्ते जिनशासनार्थोपदेशकतया तदाकाङ्क्षिभिरित्याचार्याः। उक्तञ्च-

'सुत्तत्थविऊ लक्खणजुत्तो गच्छस्स मेढिभूओ य।
गणतत्तिविप्पमुक्को अत्थं वाएइ आयरियो॥[२]'

जिनशासन के अर्थ के उपदेशक होने से उनके अभिलाषी मनुष्य विनयरूपी मर्यादा से जिनकी सेवा करते हैं, उनको आचार्य कहते हैं। कहा गया है कि सूत्र तथा अर्थ के ज्ञायक, लक्षणयुक्त, गच्छ के आलम्बनभूत तथा गच्छ की चिंता से रहित, ऐसे आचार्य भगवान् अर्थ की वाचना देते हैं।

(3) अथवा आचारो-ज्ञानाचारादिः पञ्चधा, आ-मर्यादया वा चारो-विहार आचारः तत्र साधवः स्वयंकरणात् प्रभाषणात् प्रदर्शनाच्चेत्याचार्याः, आह च-

'पंचविह आयारं आयरमाणा तट्टा पयासंता।
आयारं दंसंता आयरिया तेण वुच्चंति॥[३]

---

१. आव. ४ अ. ४७ गाथा टी.
२. भगवती वृत्ति १ श. १ उ.
३. आव. नि. गा. ९९४ भग. आरा ४९९, मू. आ. ५०९-१०, नियमसार ७३

-ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्रचार, तपाचार, वीर्याचार, ये पांच प्रकार के आचार हैं। मर्यादापूर्वक जो विहार किया जाय उसे आचार कहते हैं। आचारों को जो स्वयं पालते हैं, अर्थ से उपदेश करते हैं तथा क्रिया से अन्यों को करके दिखाते हैं वे आचार्य कहलाते हैं। कहा है कि-'पांच प्रकार के आचारों को पालते हैं, उनका अर्थ कहते तथा (पडिलेहण आदि क्रिया द्वारा)' आचार के दर्शाने से आचार्य कहलाते हैं।

(4) अथवा 'आ-ईषद् अपरिपूर्णा इत्यर्थः चारा-हेरिका ये ते आचाराः, चार-कल्पा इत्यर्थः, युक्तायुक्त विभाग निरूपणनिपुणा विनेयाः, अतस्तेषु साधवो यथावच्छास्त्रार्थोपदेशकतया इत्याचार्याः, चैषामाचारोपदेशकतयोपकारित्वात्'[१] - आ + चार अर्थात् योग्य-अयोग्य का विलाग करने में निपुण शिष्यों को शास्त्र का अर्थ यथावत् बताते हैं, वे आचार्य कहलाते हैं। यहाँ आचार के उपदेशक होने के कारण उपकारी होने से उनको आचार्य कहा गया है।

(5) अथवा 'अट्ठारससीलंगसहस्साहिट्ठियतणू छत्तीसइविहमायारं जहट्ठियमगिलाए अहन्नसाणुसमयं आयरंति पवत्तयंति आयरिया'[२] अट्ठारह हजार शीलांग को धारण करने वाले, छत्तीस प्रकार के आचार को यथास्थिति से ग्लानि रहित रात और दिन प्रतिसमय जो आचरण करते हैं और प्रवर्तन करते हैं, वे आचार्य कहलाते हैं।

(6) अथवा 'नाणाई छत्तीसं तस्सायरणा पयासणो अ।
जे ते भावायरिया भावायारोवउत्ता य॥'[३] -ज्ञानादि छत्तीस

वस्तुओं का आचरण करने से साथ ही उपदेशक होने से भाव आचार से युक्त होते हैं, वे भावाचार्य कहलाते हैं।

(7) अथवा परमप्पणो अ हियमायरंति वा आयरिया, सव्वसत्ते सीसगणाण वा हियमायरंति आयरिया[४] पर एवं स्व के हित को आचरते हैं तथा सर्व जीव एवं शिष्य समुदाय का हित आचरते हैं अतः आचार्य कहलाते हैं।

(8) अथवा 'जिणपहअपंडियआणं पाणहराणं पि पहरमाणाणं।
न करंती पावाइं पावस्स फलं वियाणता॥'

पाणपरिच्चाएऽवि पुढवाईणं समारंभ नायरंति नारभंति नाणुजाणंति वा आयरिया[५]

---

१. भग. शत. १. उ. १
२. महानिशीथ ३ अध्याय पृ.
३. आव. नि. गा. ९९५.
४. महानिशीथ ३ अध्या. पृ. २८२-१ से २८३-३
५. महानिशीथ सूत्र ३ अध्या. पृ. २८२-१ से २८३-३

'जिनमार्ग को न जानने वाले, अन्यों के प्राणहरण करने वाले तथा प्रहार करने वाले जीवों के प्रति पाप-फल को जानने वाले (आचार्य) पापाचरण नहीं करते।' प्राण जाय तो भी पृथ्वीकायिक आदि जीवों का जो आरंभ-समारंभ करते नहीं और उसकी अनुज्ञा भी देते नहीं, वे आचार्य हैं।

(9) अथवा सुट्ठु अवरूद्धे वि न कस्सइ मणसा वि पावमायंरति त्ति आयरिया[१] किसी ने बहुतु अपराध किया हो, तो भी उस पर मन से भी अहितकारी आचरण करते नहीं वे आचार्य कहलाते हैं।

(10) अथवा चतुर्दशविद्यास्थानपारगाः एकादशाङ्गधराः। आचाराङ्गधरो वा तात्कालिकस्वसमय-परसमयपारगो वा मेरूरिव निश्चलः क्षितिरिव सहिष्णुं सागर इव बहिक्षिप्तमल- सप्तभयविप्रमुक्तः आचार्यः।[२] जो चौदह विद्याओं में पारंगत हो, ग्यारह अंग के धारक अथवा आचाराङ्ग मात्र को धारण करते हो, अथवा तत्कालीन स्वसमय और परमसय में पारगंत हो, मेरू समान निश्चल, पृथ्वी के सदृश सहनशील हो, जिन्होने समुद्र के समान मल अर्थात् दोषों को बाहर फेंक दिया हो एवं सप्त भयों से रहित हो उनको आचार्य कहा जाता है।

(1) पवयण जलहिजलोयरणहायामलबुद्धिसुद्धछावासो।
मेरुव्व णिप्पकंपो सूरो पंचाणणो-वज्जो।
देसकुलजाइसुद्धो, सोभंगो संगभंगउम्मुक्को।
गयण व्व णिरुवलेवो, आइरियो एरिसो होई॥
संगह-णिग्गहकुसलो, सुत्तत्थविसारओ पहियकित्ती।
सारण-वारण-साहण-किरियुज्जुत्तो हु आइरियो॥[३] प्रवचन रूपी समुद्र के मध्य में स्नान करने से अर्थात् परमागम के परिपूर्ण अभ्यास और अनुभव से जिनकी बुद्धि निर्मल हो गई है, जो निर्दोष रीति से षडावश्यकों का पालन करते हैं, मेरू के समान निष्कंप है, सिंह की भांति शूरवीर निर्भीक हैं, वर्य अर्थात् श्रेष्ठ हैं। देश, कुल और जाति से शुद्ध हैं। सौम्य मूर्ति हैं, अंतरंग और बहिरंग परिग्रह से रहित हैं। आकाश के समान निर्लेप हैं। जो संघ के संग्रह अर्थात् दीक्षा और निग्रहशिक्षा अथवा प्रायश्चित देने में कुशल हैं। जो सूत्र अर्थात् परमागम के अर्थ में विशारद हैं, जिनकी कीर्ति सर्वत्र फैली है। जो सारणक-आचरण, वारण-निषेध,

---

१. वही.
२. षटखण्डागम १.१,१,१.४८.८
३. षटखण्डागम १११, १ गा. २९-३०-३१

और साधन-व्रतों की रक्षा करने वाली क्रियाओं में निरंतर उद्युक्त हैं, उनको आचार्य समझना चाहिए।

उक्त व्युत्पत्ति परक किये गये अर्थों से स्पष्ट होता है कि जो सूत्र एवं अर्थ के स्वयं ज्ञाता है तथा अन्यों को उसका उपदेश देते हैं। गच्छ के आलम्बनभूत हैं, पचांचार को स्वयं पालते हैं तथा अन्यों से आचरण करवाते हैं। अट्ठारह हजार शीलांग के धारक, आचार के प्रवर्तक, पापाचरण से रहित, आरम्भ-समारंभ की अनुज्ञा रहित, चौदह विद्याओं में पारंगत, ग्यारह अंग के धारक, सिद्धान्त में पारंगत, लक्षण एवं गुणों से युक्त, संघ के नायक, संघ के नियामक हैं वे आचार्य कहे जाते हैं।

उक्त लक्षणों से युक्त आचार्य नित्य अप्रमत्तरूप से धर्मोपदेश देते हैं, विकथा के त्यागी होते हैं तथा देश-काल में उचित भिन्न-भिन्न प्रकार के उपायों के द्वारा शिष्यों को प्रवचन देते हैं।

आचार्य की पर्यायें :-

आचार्य की अन्य पर्यायें हैं-सूरि, गणधर, गणी, गच्छधारी, अनूचान, प्रवचनधर, भट्टारक, भगवान् महामुनि, सद्गुरु, श्रुतधर, पटधारी, गच्छथंभ[१] आदि।

स्वरूप : लौकिक-धार्मिक

सामान्यतया लोक में शिक्षण आदि कार्यों का संचालन, अध्यापन आदि कराते हैं उनको आचार्य कहते हैं। पूर्व में हम आचार्य के दिये गये अर्थों पर दृष्टिपात करते हैं, तो सर्वत्र अध्ययन-अध्यापन आदि शिक्षण कार्यों को करने वालों को आचार्य कहा है। यद्यपि आचार्य गोत्र के धारक भी आचार्य अभिधान को अंगीकार करते हैं। किन्तु अधिकांशतः आचार्य शिक्षण क्षेत्र से ही संयुक्त होते हैं। इस प्रकार शिक्षक के स्वरूप में आचार्य का विभाजन हम दो प्रकार से कर सकते हैं-

1. लौकिक 2. धार्मिक

लौकिक-लोक में प्रचलित व्यवहारों आदि का ज्ञान करावे उसे लौकिक कहा जाता है। यहाँ हम लौकिक संज्ञा उनको देंगे जो धार्मिकता से परे हैं अर्थात् अपने अपने धार्मिक सिद्धान्तों का ज्ञान न कराकर अन्य प्रकार का ज्ञान देते हैं। यथा-कला, विद्या, शिल्प आदि[१] पुरुषों की 72 कलाएँ तथा स्त्रियों की 64 कलाएँ

---

१. विशेषा. भाष्य ३१८९-९९३

कही गई है, इन कलाओं का जो ज्ञान करवाता है, वह लौकिक आचार्य है। साथ लोकभोग्य सामग्री को उपलब्ध कराने के लिए, विघ्नों के नाश के लिए ग्रह शान्ति आदि के लिए जो मंत्र, तंत्र विद्या के आश्रय से उपाय करते हैं, वे भी लौकिक संज्ञा के अंतर्गत आते हैं। इसके अतिरिक्त शिल्प, कृषि, वाणिज्य, विज्ञान आदि का समावेश भी लौकिक के अन्तर्गत हो जाता है। तात्पर्य यह है कि धार्मिक शिक्षण के अतिरिक्त जो भी शिक्षा दी जाती है, वह लौकिक कही जाती है। उसके प्रदाता लौकिक आचार्य है। प्रिन्सिपल, द्रोणाचार्य सैन्य का सरदार, आयुर्वेद-विद्यालय की पदवी आदि इसके उदाहरण हैं।

धार्मिक-जो धर्म के सिद्धान्तों, उनके आचार-विचारों का ज्ञान कराते हैं, उनका आचरण करवाते हैं, वे धार्मिक आचार्य हैं।

इनका विभाजन भी दो प्रकार से किया जा सकता है-

1. अजैन (जैनेतर) 2. जैन

अजैन-जैन धर्म के अतिरिक्त जो अंग और रहस्य सहित वेद, धर्मशास्त्र का अध्ययन कराते हैं। इस प्रकार धर्मक्रिया कराने वाले ब्राह्मण, पुरोहित गोरजी महाराज भी इसके अन्तर्गत आते हैं।

इसी में ब्रह्मसूत्र, गीता और उपनिषद् इन प्रस्थानत्रयी के भाष्यकारों का भी समावेश होता। मंत्रोपदेशक धर्मगुरु, संप्रदाय चलानेवाला धर्माध्यक्ष, मतप्रवर्तक, विद्वान, पंडित, शास्त्र या मत के अभ्यासी, वेद के टीकाकार आदि इसी गणना में सम्मिलित हैं। तात्पर्य यह है कि मात्र जैन के अतिरिक्त दुनियाँ के सर्व धर्मों, उनके प्रवर्तक, आचार्यों को यहाँ समाविष्ट किया जा सकता है।

जैन-जैनेतर धर्मों की भांति जैनधर्म में भी धर्मोपदेशक को आचार्य कहा गया है। किन्तु जैनाचार्य की अन्य धर्माचार्यों से भिन्नता है। यहाँ आचार्य पद का वाहक विशेष गुण एवं लक्षणों से युक्त कहा गया है। वे किसी मत या संस्था के प्रवर्तक नहीं किन्तु अर्हत् परमेष्ठी द्वारा प्ररूपित धर्म का प्रतिनिधि मात्र है। उनकी अनुपस्थिति में वे ही संघ का प्रतिनिधित्व करते हैं। स्वयं किसी सिद्धान्त की प्ररूपणा नहीं करते वरन् नि।५१ आचारों का पालन करते हैं तथा समीपस्थ को भी उनका आचरण करवाते हैं।

जैन परंपरा में आचार्य चार प्रकार के हैं-

1. नाम 2. स्थापना 3. द्रव्य 4. भाव

किसी का नाम आचार्य होना नाम आचार्य हैं। उनका प्रतिबिंब या आकार बनाना स्थापनाचार्य है। शिल्पादि शास्त्रों का ज्ञान करावे वह द्रव्याचार्य है। जो आचार विज्ञान में अनुपयुक्त (उपयोगरहित) है वे भी द्रव्याचार्य हैं। भावाचार्य - जो पांच प्रकार के आचारों का पालन करने वाले, कराने वाले तथा उपदेशक हैं। ज्ञानादि पांच प्रकार के भावाचारों से उपयुक्त होने से वे भावाचार्य हैं। ये भावाचार्य जिनशासन के आधार हैं, चतुर्विध संघ में उल्लास भरते हैं और श्रुतज्ञान के बल पर सकल वस्तु को प्रकाशित करने वाले हैं। श्री जिनेश्वर प्रभु के निवार्ण के पश्चात् निर्ग्रन्थ प्रवचन का धारण, पालन और पोषण करते हैं। ये भावाचार्य पाषाण में अंकुर उत्पन्न करने के समान मूर्ख शिष्यों को पंडित बना देते हैं। सूत्रों में भावाचार्यों को श्री जिनेश्वर के सदृश भी कहा गया है और उनकी आज्ञा को जिनेश्वर की आज्ञा की भांति पालन करने का फरमान किया है। भावाचार्यों की आज्ञा के बिना विद्या एवं मंत्र भी फलीभूत नहीं होते। उनकी आज्ञा से शीघ्र फलदायी होते हैं। ये धर्मोपदेश देने में निरन्तर उद्यत रहते हैं।

(ग) आचार्य की आठ सम्पदाएँ-

दशाश्रुतस्कंध ग्रंथ में आचार्य की अनुपम गौरव गरिमा को अभिव्यक्त करने वाली आठ सम्पदाएँ दर्शाई गई हैं, जो उनके विराट व्यक्तित्व को अभिव्यंजित करती हैं। वे सम्पदाएँ निम्न हैं-

1. आचार सम्पदा-

आचार प्रवणता आचार्य का प्रमुख गुण है। आचार्य स्वयं ध्रुव की तरह रहते हैं। उनको स्वयं साधना से विचलित करने वाली कोई शक्ति नहीं होती। आचार सम्पदा के चार प्रकार है-

1. चरणगुणधुवजोगजुत्ते-महाव्रत, समिति, गुप्तिरूप 13 चारित्र के गुणों में ध्रुव, निश्चल, अडोलवृत्ति निरंतर रखते हैं।

2. ते मद्दवगुण संपन्न-मद का मर्दन करके सदैव निरभिमानी रहते हैं।

3. अनियतवृत्ति-शीत-उष्ण काल में गाँव में एक रात्रि और नगर में पाँच रात्रि से अधिक बिना प्रयोजन न रहे और नवकल्पी (चातुर्मास + आठ महिने का प्रत्येक का एक कल्प) विहार करते हैं। आहार-विहार नियमित और अप्रतिबद्ध होता है।

4. अचंचलगुण-मनोहर-दिव्य रूप सम्पदा के धारक होने पर भी निर्विकारी, सौम्यमुद्रा वाले होते हैं। तन से युवक और नवदीक्षित होने पर भी वे वयोवृद्ध की भांति गंभीर होते हैं। तथा ज्येष्ठ व श्रेष्ठ श्रमणों के समान संयम नियम में जागृत रहते हैं।[१]

इस प्रकार आचार सम्पदा के आचार्य प्रतिपालक होते हैं।

2. श्रुत सम्पदा-

आचार्य बहुश्रुत होते हैं। शास्त्रों के अर्थ-परमार्थ के ज्ञाता होते हैं। आगम साहित्य के अतिरिक्त धर्म, दर्शन, साहित्य, संस्कृति, लोकव्यवहार आदि में व्यापक ज्ञानयुक्त होते हैं। जड़-चेतन के भेदज्ञान, आत्मा-परमात्मा के तलस्पर्शी ज्ञान से जनमानस को मंत्रमुग्ध कर दते हैं। यह श्रुत संपदा चार प्रकार की है-

1. युगप्रधान-सर्वशास्त्रों के ज्ञाता एवं विद्वानों में श्रेष्ठ होने से युगप्रधान होते हैं।

2. आगमपरिचित-शास्त्रीय ज्ञान की परिवर्तना करते रहने से निश्चल ज्ञानी होते है।

3. उत्सर्ग अपवाद कुसला-कदापि किंचिन्मात्र दोष न लगावे-वह उत्सर्गमार्ग और अनिवार्य कारण होने से पश्चाताप युक्त होकर शुद्ध हो जावे वह अपवाद मार्ग, इस प्रकार दोनों मार्ग के यथातथ्य ज्ञाता होते हैं।

4. ससमय-परसमय दक्खे-स्वसमय (जैन सिद्धान्त) पर समय (जैनेतर दर्शन के सिद्धान्त) के शास्त्रों के ज्ञाता होते हैं।[२]

इस प्रकार श्रुतज्ञान का अनुशीलन करके वे आदि से अंत तक और अंत से आदि तक धाराप्रवाह रूप से सूत्र का वांचन करते हैं। उनका उच्चारण पूर्ण शुद्ध होता है। 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' युक्त उनकी वाणी होती है।

3 शरीर सपंदा-

आचार्य का शरीर सर्वांग सुंदर सुदर्शन और स्वस्थ होता है। इस संपदा के भी चार प्रकार हैं-

1. प्रमाणोपेत-अपने माप से अपना शरीर एक धनुष्य लम्बा हो।

2. अकुटई-लंगडा, लूला, काणा या 19 या 21 अंगुलियों वाला इत्यादि अपंग दोष से रहित होना।

---

१. दशाश्रुतस्कंधा-४.१

२. दशा. ४.२

3. पूर्णेन्द्रिय-बधिर, अंधत्व दोष से रहित होना।

4. दृढ़ संघयणी-तप विहारादि संयम के साथ ही उपकार के कार्य में थके नहीं, ऐसे दृढ़ संघयण के धारक होते है।[1] यह शरीर सम्पदा है।

4 वचन सम्पदा[2]

वाक्चातुर्ययुक्त होना उनके वचनों में एक प्रकार की चुंबकीय शक्ति होती है, जो दूसरों को आकर्षित कर लेती है। उनके वचन रागद्वेषरहित-सुस्पष्ट होते हैं। इसके भी चार प्रकार हैं-

1. प्रशस्तवचनी-कोई भी उनके वचनों का खण्डन न कर सके। वचनों को सुनकर परवादी भी सानंदाश्चर्य प्राप्त करें।

2. मधुरता-कोमल, मधुर, गांभीर्ययुक्त सुस्वर से बोलें।

3. अनाश्रित-पक्षपातरहित, कलुषितता रहित होवें।

4. स्फुटता-गणगणाहट आदि दोष से रहित, स्पष्ट उच्चारण युक्त।[3]

इस प्रकार की वचन सम्पदा के धारक आचार्य होते हैं।

5 वांचन सम्पदा[3]

आचार्य शास्त्रवांचन में कुशल होते हैं। उसके भी चार प्रकार हैं-

1. जोगो-शिष्य की योग्यता को जानकर, योग्य शिष्य को ग्रहण कर सके उतना ज्ञान देते हैं। अपात्र को ज्ञान नहीं देते।

2. प्रणीत-शिष्य की रूचि, धारणा शक्ति के अनुसार ज्ञान देते हैं।

3. निरयापयिता-योग्य शिष्य को अन्य कार्यों से निवृत्त करके, सम्प्रदाय कार्य को निर्वाह करने वाले एवं शासन प्रभावना करने वाले साधुकों विशेष रूप से सूत्र का वांचन कराते हैं।

4. निर्वाहणा-पानी में तेल बिन्दु के सदृश ज्ञान परिणमे उस प्रकार थोड़े शब्दों, अर्थ-बहुत्व सरल रीति से वांचना देते हैं।

इस प्रकार आचार्य सूत्र और अर्थ की वांचना शिष्य की योग्यता को देखकर देते है।

---

१. दशा ४.४

२. दशा. ४.५

३. वही ४.६

6 मति सम्पदा[१]

मतिसम्पदा का अर्थ है-'बुद्धि वैशिष्टय'। आचार्य विचक्षण बुद्धि के धारक होते हैं। उनकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण होती है। इसके भी चार प्रकार हैं-

1. **अवग्रह**-शतावधानी की भांति वस्तु के गुणों को एक ही काल में ग्रहण कर लेते हैं। देखी हुई, सुनी हुई, स्वाद ली हुई, सूंघी हुई और स्पर्श की हुई सभी का ग्रहण शीघ्र कर लेते हैं।

2. **ईहा**-वैसे ही इन पाँचों के विषय में तत्काल निर्णय भी कर लेते हैं।

3. **अपाय**-उपरोक्त विषयों के विषय में विचारणा करके तत्काल निश्चयात्मक बना लेते हैं।

4. **धारणा**-निर्णीत वस्तु दीर्घकालपर्यन्त भी विस्मृत न हो, समय पर शीघ्र स्मृतिगोजर हो, हाजिरजवाबी (तत्काल प्रश्न का उत्तर देवे) होते है।

इस प्रकार विषय के रहस्य के ज्ञाता होते हैं। उनकी तलस्पर्शी मेघा से कोई भी विषय अज्ञात नहीं रहता।

7. प्रयोग सम्पदा[२]

पर-प्रवादियों को पराजय करने की कुशलता वह प्रयोग सम्पदा है। इसके भी चार प्रकार है-

1. **शक्तिमान**-वादी के साथ संवाद करने में, प्रश्नोत्तर में मेरी विजय होगी या नहीं? इस प्रकार प्रतिवादी तथा अपनी शक्ति, क्षमता का विचार करके वाद करना।

2. **पुरुषज्ञान**-वादी किस मत का अनुयायी है यह जानकर उसके ही मत एवं शास्त्रों द्वारा वाद करना। जिस परिषद् में वाद करना हो उस परिषद् का जनमानस किस विचारधारा का है? अनुकूल है या प्रतिकूल पूर्व रीति से ज्ञान ले।

3. **क्षेत्रज्ञान**-वाद स्थल का ज्ञान करके वाद करना। तात्पर्य यह है कि जिस क्षेत्र में वाद किया जा रहा है उस क्षेत्र के लोग उद्धत तो नहीं है? अपमान करने वाले या कपटी, लोभी, या मिथ्यात्वी के आडम्बर को देखकर चलित हो जावे, स्थिर न रहें, इस प्रकार तत्संबंधी क्षेत्र का सूक्ष्मरीति से विचार करके वाद करना।

---

१. दशा ४.७
२. वही. ४.११

4. वस्तुज्ञान-कदाचित् विवाद-प्रसंग में राजादिक सत्तावान् व्यक्ति का आगमन हो जाये तो वह राजा न्यायी है या अन्यायी, निष्पक्ष है या पक्षपाती? कपटी है या सरल, नम्र है या अभिमानी इस प्रकार पूर्व में सर्व जानकारी लेकर ही वाद करना।

इस प्रकार आचार्य को बहुमुखी प्रतिभा के धनी होना चाहिये। वाद की विषय वस्तु का भिन्न दृष्टिकोणों से चिन्तन करके वाद करना चाहिये क्योंकि उसकी विजय संघ की विजय एवं पराजय संघ की पराजय है। स्वयं एवं संघ **गौरवान्वित** हो यह आचार्य को विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिये।

8 संग्रहपरिज्ञा सम्पदा[१]

यद्यपि श्रमण निष्परिगृही होते हैं, तथापि साध्वाचार के अनुकूल, उपयोगी वस्तुओं का निर्ममत्व होकर ग्रहण करते हैं। इसके भी चार प्रकार हैं-

1. गणयोग-बालक, दुर्बल, गीतार्थ, तपस्वी, ग्लान, शैक्ष, नवदीक्षित आदि साधुओं का निर्वाह हो सके, वैसे क्षेत्रों का ध्यान रखे।

2. संसक्त-बालक, दुर्बल, गीतार्थ, तपस्वी, ग्लान, शैक्ष, नवदीक्षित आदि साधुओं का निर्वाह हो सके, वैसे क्षेत्रों का ध्यान रखे।

3. क्रियाविधि-जिस काल में जो क्रिया करने की हो उस काल में तत्संबंधी उपयोगी साधनों का संग्रह करें।

4. शिष्योपसंग्रह-व्याख्यानदाता, वादी, विजयी, वैयावच्ची इत्यादि शिष्यों का संग्रह करे। इसका ध्यान रखना आवश्यक है कि उनके शिष्य श्रमण जीवन के नियमोपनियम का सम्यक् सम्पादन करे।

आचार्य का प्रत्येक कार्य उसके अन्तेवासियों का आदर्श होता है। उन पर उसका अमिट प्रभाव पड़ता है। आचार्य स्वयं वयपर्याय (ज्येष्ठ) श्रमणों का आदर करेंगे तो अन्तेवासियों में भी सौहार्दपूर्ण वातावरण निर्मित हो सकेगा। अतः आचार्य अपने शिष्य-प्रशिष्य की सार संभाल करे।

इस तरह आचार्य इन आठ सम्पदा से युक्त होते हैं। ये आठ सम्पदाएँ उनके गौरव की वृत्ति करने में सहायक होती हैं।

---

१. दशा ४.१२

(घ) आचार्य के गुण

आचार्य का जीवन सद्गुणो का आगार है। तीर्थङ्कर देव की अनुपस्थिति में आचार्य ही शासन के आधार स्तम्भ हैं। उनके सिवा अन्य कोई तारणहार नहीं है। वे गुणगण के भण्डार है।

वे उत्तम गुणों से सुशोभित होते हैं, वे 36 हैं। आचार्य महाराज के 36 गुण हैं। इन 36 गुणों की एक छत्तीसी, ऐसी 36 छत्तीसियों का उल्लेख शास्त्रों में वर्णित हैं। तात्पर्य यह है कि 36 प्रकार से 36-36 गुणों का वर्णन किया गया है। इस प्रकार गुण प्रकारान्तर से उपलब्ध होते हैं।

छत्तीसी (सामान्यतया प्राप्त)

1. प्रतिरूपगुण 2. सूर्यवत्तेजस्वी 3. युगप्रधानागम 4. मधुरवाक्य 5. गाम्भीर्य 6. धैर्य 7. उपदेशदान 8. अपरिश्रावि 9. सौम्यप्रकृति 10. शील 11. अपरिग्रह 12. अविकथक 13. अचपल 14. प्रसन्नवदन 15. क्षमा 16. ऋजु 17. मृदु 18. सर्वसंगविमुक्ति 19. द्वादशविधतपोगुण 20. सप्तदशविधसंयम 21. सत्यव्रत 22. शौच 23. आकिंचन्य 24. ब्रह्मचर्य 25. अनित्यभावना 26. अशरणभावना 27. संसारस्वरूप 28. एकत्वभावना 29. अन्यत्वभावना 30. अशुचित्वभावना 31. आस्रवभावना 32. संवरभावना 33. निर्जराभावना 34. लोकस्वरूप 35. बोधिदुर्लभ 36. धर्मदुर्लभ भावना।

अन्य इसी प्रकार की 35 छत्तीसियाँ हैं।

3. संघ नेतृत्व

जैसा कि पूर्व में उल्लिखित है कि अर्हत् परमात्मा ने चतुर्विध संघ की स्थापना की है। और स्वयं तीर्थङ्कर परमात्मा ने संघ नेतृत्व हेतु गणधरों को उत्तराधिकारी बनाया। गणधर भगवन्त के पश्चात् आचार्यों की पट्टपरम्परा अद्यापि चलती रही। इससे स्पष्ट होता है कि आचार्य भगवन्त संघ का सफल नेतृत्व करते हैं। वे ही शासन की बागडोर को थाम कर शासन को उन्नत बनाते हैं। जिस संघ के आचार्य नेता हैं, वह **'संघ'** क्या है? संघ किसे कहा जाये?

आचार्य हरिभद्रसूरि ने पंचाशक[१] में 'संघ' शब्द का अर्थ किया है-

गण समुदाओ संघो पवयण तित्थं ति होंति एगट्ठा।
तित्थगरो विय एणं णमए गुरुभावतो चेव।

---

१. पंचाशक ८.३९

तात्पर्य यह है कि अनेक प्राणियों में स्थित ज्ञानादि गुणों का समुदाय समूह संघ है। संघ समूह वाचक है अतः संघ समूहरूप होने से संघ है। प्रवचन एवं तीर्थ शब्द भी संघ के ही एकार्थक है अर्थात् संघ की ही पर्याय है। प्रवचन एवं तीर्थ शब्द संघ के ही अर्थक है, संघ से अभिन्न है। यद्यपि प्रकृष्ट या प्रशस्त वचन को प्रवचन, जो कि द्वादशाङ्गी रूप है कहा जाता है तथा जिससे भवोदधितिरा जाये उसे तीर्थ कहते हैं। तथापि आधार-आधेय में अभेद की विवक्षा होने से प्रवचन और तीर्थ को भी संघ कहते हैं। इस प्रकार गुरुतर-भाव से इसको नमस्कार करते हैं। गुरुतर से तात्पर्य है गुणात्मक रूप होने से। अथवा गुरुत्व के रूप गौरव होने से संघ को नमस्कार करते हैं।[१]

संघ का गौरवास्पद वर्णन करते हुए संघ का माहात्म्य दर्शाया है कि 'तित्थयराणंतरो संघो'[२] अर्थात् तीर्थंकर के अनन्तर संघ है। तीर्थङ्कर के द्वितीयस्थानवर्ती संघ है। अथवा तीर्थङ्कर से विशेष अन्तर अविद्यमान होने से संघ तीर्थङ्कर से अनन्तर है। अतः यह संघ तीर्थङ्कर के तुल्य पूजनीय है।[३]

यहाँ तक संघ की महत्ता का गुणगान किया गया हैं कि तीर्थङ्कर परमात्मा का तीर्थङ्करत्व भी संघपूर्वक ही है।[४] (संघपूर्वक हि तीर्थकरस्य तीर्थकरत्वं) इससे विदित होता है कि संघ का स्थान सर्वोपरि है। इससे यही फलित होता है कि संघ तीर्थं है।[५]

महानिशीथ सूत्र में पुनः इसे स्पष्ट किया है-

''तित्थयरे तित्थयरे, तित्थं पुण जाण गोयमा! संघ।''[६]

यहाँ तीर्थ और संघ में अभेद बताया है तथा ये एकार्थक है, यह स्पष्ट होता है।

संघ का माहात्म्य

जैन आगम ग्रंथों में संघ की महिमा का गुणगान मुक्त कण्ठ से किया गया है। नन्दी सूत्र में[७] संघ को नगर, चक्र, रथ, पद्म, चन्द्र, सूर्य, समुद्र, मेरू आदि रूपकों से आख्यान किया है।

---

१. पंचाशक टीका ८.३९
२. पंचा. ८.३८
३. पंचा टीका ८.३८
४. वही ८.३८
५. पंचा ८.४०
६. महा. ४. अध्य.
७. नंदीसूत्र गा. ४.१९

संघनगर

वह संघ रूपी नगर उत्तर गुण रूपी भव्य भवनों से व्याप्त, श्रुत-शास्त्र रूप रत्नों से पूरित, विशुद्ध सम्यक्त्व रूप स्वच्छ वाथियों से संयुक्त, अतिचार रहित मूलगुण रूप चारित्र के परकोटे से सुरक्षित है। ऐसे नगर के सदृश गुणों से विभूषित संघ है।

संघचक्र

संघ-चक्र में सत्तरह प्रकार के संयम रूप तुम्ब-नाभि है। बाह्य और आन्तरिक तप रूप बारह आरक हैं। सम्यक्त्व की परिधि है। यह संघचक्र भावचक्र, भाव बन्धनों का सर्वथा विच्छेद करने वाला है। इस प्रकार चक्रवर्ती के चक्र की भांति संघ है।

संघ रथ

इस संघरथ में अट्ठारह सहस्र शीलांगरूप ऊँची पताकाएं फहरा रही है। तप और संयम रूप अश्व जिसमें जुते हुए हैं। पाँच प्रकार के स्वाध्याय (वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा, धर्मकथा) का मंगलमय मधुरघोष जिसमें से निकल रहा है, ऐसा वह संघ रथ है।

संघपद्म

वह संघ पद्म कमल के समान कर्म रज रूपी जल राशि से ऊपर उठा हुआ है-अलिप्त है। जिसका आधार श्रुतरत्नमय दीर्घनाल है, पाँछ महाव्रत जिसकी सुदृढ़ कर्णिकाएँ हैं। उत्तरगुण जिसका पराग है। जो भावुक जन रूपी मधुकरों-भंवरों से घिर हुआ है। तीर्थङ्कर रूपी सूर्य के केवलज्ञान रूप तेज से विकसित है। श्रमणगण रूपी सहस्र पाँखुडियों वाला वह पद्मरूपी संघ है।

संघचन्द्र

तपप्रधान, संयमरूप मृगचिह्नमय, अक्रियावाद रूप राहू के मुख से सदैव दुर्घर्ष, अतिचार रहित सम्यक्त्व रूप निर्मल चांदनी से युक्त चन्द्र रूपी संघ है।

संघसूर्य

सूर्यरूपी संघ परतीर्थ अर्थात् एकान्तवादी, दुर्नय का आश्रय लेने वाले परवादी रूप ग्रहों की आभा को निस्तेज करने वाले, तप रूप तेज से सदैव देदीप्यमान,

सम्यग्ज्ञान से उजागर, उपशम प्रधान सूर्य के सदृश संघ है।

संघसमुद्र

समुद्र की भांति वह संघ घृति अर्थात् मूलगुण तथा उत्तर गुणों से वृद्धिंगत आत्मिक परिणाम रूप बढ़ते हुए जल की वेला से परिव्याप्त है। जिसमें स्वाध्याय और शुभ योग रूपी मगरमच्छ हैं। जो कर्मविदारण में महाशक्तिशाली है और परीषह, उपसर्ग होने पर भी निष्कंप-निश्चल है तथा समस्त ऐश्वर्य से सम्पन्न एवं विस्तृत है। इस प्रकार समुद्र के तुल्य संघ है।

संघमहामन्दर

मेरू के समान संघ की भूपीठिका सम्यग्दर्शन रूपी श्रेष्ठवज्रमय है अर्थात् वज्रनिर्मित है। तत्त्वार्थ श्रद्धान मय सम्यग्दर्शन युक्त उसमें सुदृढ़ आधारशिला है। वह शंकादि दूषण रूप विवरों से रहित है। विशुद्ध अध्यवसायों से चिरंतन है। तीव्र तत्त्व विषयक अभिरूचि होने से ठोस है। नवतत्त्व एवं षड्द्रव्यों में निमग्न होने से गहरा है। उसमें उत्तर गुण रूप रत्न एवं मूलगुण-रूप स्वर्णमेखला है।

इस प्रकार नगर, रथ, चक्र, पद्म, चन्द्र, सूर्य, समुद्र तथा मेरू इन सर्व में जो विशिष्ट गुण समाहित हैं तदनुरूप श्री संघ में भी अलौकिक दिव्यगुण हैं। संघ अनन्तानंत गुणों का आकर है, अतः इन विशिष्ट उपमाओं से उसे उपमित किया गया है।

संघ शब्द का अर्थ

(अ) संघ शब्द का अर्थ जैनागमों में संघात[१], गुणसंघात[२], समुदाय[३], कीटिकादिगण समुदाय अर्थ में[४], कुल समुदाय गण[५] कहलाता है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शनादिसमुचित प्राणिगण में साधु-साध्वी श्रावक और श्राविका रूप भी संघ कहलाता है। शब्दार्थ से यह तो स्पष्टतया प्रतीत होता है कि संघ शब्द का व्यवहार समुदाय या समूह से किया जाता है। किन्तु जैन धर्म में संघ का तात्पर्य विशेष अर्थ से संबंध रखता है। यहाँ संघ का अर्थ भी है तो समूहात्मक ही। किन्तु

---

१. व्यवहार सू. 3 उ.
२. वही
३. जी. ३ प्रति, ४ अधि, प्र.
४. ठा. ५ १ उ.
५. पं व. १. द्वार

वह समूह है-साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप। इसे ही तीर्थ, प्रवचन भी कहा गया है।

आचार्य परमेष्ठी इन्हीं साधु-साध्वी रूप चतुर्विध संघ का कुशलता से नेतृत्व करते हैं।

संघ के प्रकार

यह संघ चार प्रकार का है। श्रमण, श्रमणी श्रावक और श्राविका।[१] इसी से यह चतुर्विध संघ से आख्यात हुआ है। यद्यपि संघ शब्द अन्य अर्थों में भी प्रयुक्त होता है, किन्तु यहाँ यह चतुर्विध संघ की अभिप्रेत है। जिसकी गौरव गाथा का सर्वत्र गुणगान हुआ है।

(ब)

1. धर्म के साथ जुड़ा संघ शब्द

यद्यपि संघ शब्द का प्रयोग समूह अर्थ में होता है, तथापि जैन परम्परा में यह संघ शब्द धर्म के साथ संयुक्त हो गया है। चतुर्विध संघ रूप होने से यह धर्म के पर्याय या एकार्थक हो गया है। जैसा कि पूर्व में उल्लेख हुआ है कि प्रवचन, तीर्थ भी इसी के एकार्थक है। यहाँ तक कि तीर्थङ्कर के अनन्तर संघ का ही स्थान सर्वोपरि माना गया है।

2. सामान्यतया संघ शब्द का प्रयोग

सामान्यतयासमूह-समुदाय अर्थक ही संघ होता है। जैन परम्परा में यह जैन सिद्धान्त, जिन शासन रूप है किन्तु अन्यत्र संस्थारूप में, मण्डली, पदचारी एवं वाहन संयुक्त, यात्रिकों का समूह, पंथ, मण्डल, सहकारी समाज, संगठित एवं व्यवस्थित समुदाय अर्थ में भी संघ शब्द का प्रयोग किया गया है।

3. चतुर्विध संघ

श्रमण, श्रमणी, श्रावक एंव श्राविका इस प्रकार संघ को चतुर्विध मान्य किया है। इनमें से एक का भी अभाव हो तो वह परिपूर्ण नहीं कहा जा सकता। इन चारों से संयुक्त संघ ही चतुर्विध संघ है।

(स) संघ संचालन

आचार्य परमेष्ठी का मुख्य कार्य है- संघ का संचालन करना। संघ की

---

१. ठा. ३.४

उन्नति में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहे, ऐसा लक्ष्य केन्द्र में स्थापित करके येनकेन प्रकारेण वे संघ की, शासन की प्रभावना करते हैं। शासन की प्रभावना होवे वैसी प्रवृत्ति करने वाले प्रभावक कहे जाते हैं। ये प्रभावक आठ प्रकार के हैं।

1. प्रभावकता-

1. प्रावचनिक 2. धर्मकथी 3. वादी 4. नैमितिक 5. तपस्वी 6. विद्यावान् 7. सिद्ध 8. कवि

(1) प्रावचनिक-तत्कालीन (तत्संबंधी समय में विद्यमान शास्त्र) शास्त्रों के ज्ञाता ऐसे प्रावचनिक आचार्य प्रवचन के माध्यम से चतुर्विधसंघ को सन्मार्ग में प्रवृत्त करने के लिए तत्पर रहते हैं। प्रवचन अर्थात् शास्त्र। ये आचार्य वर्तमान काल में विद्यमान श्रुत के अर्थ को धारण करने वाले "प्रावचनिक" नामक प्रभावक होते हैं।

(2) धर्मकथी-अपने उपदेश के अद्‌भुत कौशल के द्वारा भव्य जीवों को प्रतिबोध देने वाले 'धर्मकथी' प्रभावक होते हैं। ये अपनी प्रवचन की कुशलता से लोगों को खुश करते हुए उनके हृदय की शंकाओं का समाधान करते हैं एवं सन्मार्ग में बोध देकर प्रवृत्त करते हैं।

(3) वादी-ये प्रभावक तर्कशास्त्र का गहन अध्ययन करते हैं। प्रसंग आने पर ये प्रभावक अपनी तर्क निपुणता के द्वारा अन्य दर्शनी को परास्त करके जिन शासन की जय जयकार करते हैं। वाद में विजयी होने के कारण ही ये वादी कहलाते हैं। जैन शासन में ऐसे अनेक वादी प्रभावक आचार्य हुए हैं, जिन्होंने अन्य दर्शनी प्रतिवादी के साथ वाद करके विजय की वरमाला पहनी।

(4) नैमित्तिक-ये प्रभावक ज्योतिष आदि विभिन्न शास्त्रों के ज्ञाता होते हैं। ये जैसे-तैसे सांसारिक कार्यों में निमित्त को नहीं कहते, लेकिन जब कभी जैन शासन की महान् प्रभावना का प्रसंग आता है, तब निमित्त कह कर शासनशोभा में अभिवृद्धि करते हैं।

(5) तपस्वी-जिन शासन में 'तपस्वी' नामक पाँचवें प्रभावक हैं। 6 बाह्य और 6 अभ्यंतर इन बारह प्रकार के तप को जीवन में विशेष रूप से अपनाते हैं। जिनेश्वर प्रभु की आज्ञा के अनुसार, आस्रवों का त्याग करके संवर भाव में प्रवृत्त होते हैं। क्रोधादि कषायों पर विजय प्राप्त करके अनुपम समता को आत्मसात् करके तपस्या के माध्यम से श्री संघ की प्रभावना करते हैं।

(6) विद्यावान् प्रभावक-ये प्रभावक विद्या-मंत्र आदि में निपुण होते हैं। शासन की प्रभावना के अवसर पर विद्याओं का प्रयोग करके प्रभावकता को प्रगट करते हैं।

(7) सिद्ध प्रभावक-ये प्रभावक अनेक सिद्धियों के धारक सिद्धपुरुष होते हैं। शासन प्रभावना के प्रसंग पड़ने पर ही सिद्धियों का प्रयोग करते हैं।

(8) कवि प्रभावक-ये प्रभावक अपनी कवित्व शक्ति के द्वारा विशिष्ट प्रकार के काव्य (श्लोकादि की रचना) का निर्माण करते हैं। जिसके माध्यम से राजा, मंत्री आदि अन्य लोगों को प्रभावित करके शासन की प्रभावना करते हैं।

इस प्रकार ये आठ प्रभावक कहे गये हैं। उपाध्याय यशोविजय जी म. फरमाते है कि-जिस काल में ऐसे महान् शासन प्रभावक नहीं होते हैं, तब शास्त्रोक्त विधि विधान से यात्रा पूजादि धर्मानुष्ठानादि धर्म कार्यों में प्रवृत्त कराने वाले ही प्रभावक कहलाते हैं।

(2) आचार की विशुद्धि

(क) पंचाचार की स्वयं परिपालना-आचार्य परमेष्ठी में आचार की विशुद्धि उत्कृष्ट कोटि की होती है। उनका आचारण इतना प्रशंस्य होता है कि वह जगत् के लिए अनुकरणीय हो जाता है। वे अणिशुद्ध पंचाचार की स्वयं परिपालना करते हैं। यदि वे स्वयं आचरण न करे तो जगत् को आचरण की शुद्धता का उपदेश भी कैसे दें? वास्तव में वे जगत् को उपदेश देने हेतु ही आचरण की परिपालना नहीं करते, वरन् स्वकल्याण को लक्ष्य में रखकर आत्मश्रेय हेतु कर्म निर्जरा करने के लिए करते हैं। उनकी परिपालना को देखकर ही संघ उनको आचार्य पद पर आरूढ़ करता है। यह परिपालना ही उनको संघ का नियामक बना देती है। अतः आचार्य परमेष्ठी का सर्वप्रथम कर्त्तव्य है कि वे पंचाचार की परिपालना सुन्दर रीति से करें।

(ख) संघ द्वारा पालन हेतु पुरुषार्थ-जिन पंचाचारों की परिपालना आचार्य परमेष्ठी स्वयं करते हैं, वे संघ को इनकी प्रतिपालना के लिए प्रवृत्त करते हैं। आचार्यजी का पुरुषार्थ भी इसी दिशा में प्रवहमान होता है, कि सम्पूर्ण संघ पंचाचारों के पालन में उद्यत रहे। उनका आचरण, सद्बोध, प्रवचन, ज्ञान, *व्यवहार सर्व कार्यों में वे आचार की शुद्धता का विशेष लक्ष्य रखते हैं। इस हेतु*

वे संघ में प्रवचन देते हैं। शास्त्रों का ज्ञाता होकर जो जीव जिस रुचि से प्रवृत्त हो सकता है, उसको रूचि के अनुसार बोध देकर सन्मार्ग में प्रवृत्त करने हेतु पुरुषार्थ करते हैं।

आचार विभिन्न दृष्टिकोण में

भारतीय आचार

आचार शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है, यथा-नीति, धर्म, कर्त्तव्य, नैतिकता आदि। जिस प्रकार धर्म शब्द व्यापक है, उसी प्रकार आचार की व्यापकता उससे अधिक प्रसरी हुई है। इस प्रकार मानव के कर्त्तव्य के रूप में जिन नियमों का होना आवश्यक है, उनका समावेश आचार के अन्तर्गत हो जाता है। भारतीय आचार में जैन परम्परा यह मान्य करती है कि उनके आचार के नियमों का निर्माण प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव से प्रारम्भ होकर, कुछ परिवर्तनों के साथ अथवा युग के अनुसार उस समय के अन्य तीर्थङ्करों ने किया। अन्तिम स्वरूप में विद्यमान आचार संहिता का विधान अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर की देन है। तथागत बुद्ध ने बौद्ध परम्परा के अनुसार नियमों की सरंचना की, तो वैदिक परम्परा में वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, स्मृति आदि ग्रन्थों के आलंबन से नियमों का निर्माण हुआ। मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम एवं कर्मयोगी श्री कृष्ण ने भी अपने युग के चलते प्रवाह के अनुसार नीति प्रणाली का गठन किया। वास्तव में भारतीय आचार को सुदृढ़ करने वाले ये ही महापुरुष हैं। श्रुति, स्मृति, कल्प आदि ग्रन्थों, साथ ही पिटक, आगमों के आधार पर उनमें, पल्लवन, विस्तार, संकोच और विकास होता रहा।

पाश्चात्य आचार

पाश्चात्य आचार की नींव डालने में ईसा, मूसा और मुहम्मद आदि प्रमुख हैं। क्योंकि बाईबल और कुरान आदि ग्रन्थों में दार्शनिक तत्त्वों का प्रतिपादन न होकर मानव जीवन को समुन्नत बनाने हेतु जिन नियमों की आवश्यकता थी, उन्हीं का प्रतिपादन इनमें किया गया है। यहाँ भी जीवन विकास के लिए आचार को आवश्यक स्वीकार किया गया।

इस प्रकार भारतीय और पाश्चात्य धर्मों में आचार को महत्त्वपूर्ण मान्य किया गया है। भारत के तीनों धर्मों-वैदिक, जैन और बौद्ध ने अपनी परम्परा के अनुसार एवं पाश्चात्य धर्मों में अपनी मान्यताओं के अनुसार आचार प्रणालिका का गठन किया।

जैन परम्परा के आचार एवं भेद-प्रभेद

नवाङ्गी टीकाकार[१] आचार्य अभयदेवसूरि ने आचार शब्द के तीन अर्थ प्रस्तुत किये हैं-1. आचरण 2. आसेवन 3. व्यवहरण

जैन आगम ग्रन्थों में विभिन्न दृष्टिकोणों से भी भेद-प्रभेद किये हैं।[२] स्थानाङ्ग में श्रुतधर्म और चारित्रधर्म के अनुसार दो भेद हैं, तो तत्वार्थसूत्र[३] में सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र रूप में तीन भेद हैं। उत्तराध्ययन[४] में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चार भेदों की प्ररूपणा है। तो कहीं ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार इन पाँच भेदों का निरूपण है।[५] वास्तव में सूक्ष्मता से देखा जाये तो हमें ज्ञात होता है। कि संख्याभेद होने पर भी सैद्धान्तिक दृष्टि से मौलिक अन्तर नहीं है। क्योंकि श्रुतधर्म में सम्यग्दर्शन और ज्ञान का समावेश हो जाता है, तो चारित्रधर्म में चारित्र और तप का। आचार के पाँच भेदों में भी प्रथम दो का ज्ञान में और अन्तिम तीन का चारित्र में समाहार किया जा सकता है, क्योंकि तप और वीर्य ये दोनों ही चारित्र साधना के अंग है। इस प्रकार ज्ञान और क्रिया में, आचार और विचार में सभी भेदों का समावेश हो जाता है।

आचार शुद्धि के सोपानः पंचाचार

आचार्य जिन पंचाचारों का स्वयं पालन करते हैं करवाते हैं, वे निम्न हैं-

1. ज्ञानाचार-मानव का क्रियात्मक पक्ष आचार है। आचार ही ज्ञान का सार है। पाँच प्रकार के आचारों में प्रथम ज्ञानाचार है। ज्ञान के पाँच भेद हैं, यथा-मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान।[६] इन पाँच भेदों में से श्रुतज्ञान को ही आचारण युक्त माना गया है, अन्य को नहीं। क्योंकि श्रुतज्ञान ही व्यवहारात्मक है।[७]

आचार्य संघदासगणि ने निशीथ भाष्य में ज्ञानाचार के आठ भेद दर्शाये हैं[८], जो निम्न हैं।

(1) काल-जिस काल में जो कार्य निर्दिष्ट है, उसी काल में वह कार्य किया जाये।

---

१. (क) आचरणमाचारो व्यवहारः स्था. वृत्ति, पत्र-६० (ख) आचरणमाचारो ज्ञानादि विषयासेवेत्यर्थः। स्था. वृत्ति पत्र ३०९

२. स्थानाङ्ग २.७२

३. तत्त्वार्थ सूत्र १.१

४. उत्तराध्ययन २८.२

५. स्था. ५

६. तत्त्वार्थसूत्र १.१

७. अनुयोगद्वार २.

८. निशीथभाष्य गा. ८-१

(2) विनय-ज्ञान प्राप्त करने के लिए विनम्रतापूर्वक सद्व्यवहार करना।

(3) बहुमान-ज्ञान के प्रति अत्यन्त अनुराग होना एवं अन्तर्मन से उसका आदर, सन्मान करना।

(4) उपधान-शास्त्र की वाचना (अध्ययन) विविध तप का अनुष्ठान युक्त लेना।

(5) अनिह्नव-अध्येता गुरु का उपकार मानकर उनका नाम न छिपाना।

(6) व्यञ्जन-सूत्र का वांचन करना।

(7) अर्थ-सूत्र का अध्ययन अर्थ को समझते हुए करना।

(8) सूत्रार्थ-सूत्र और अर्थ का साथ-साथ बोध करना।

इस प्रकार इन आठ भेदों युक्त ज्ञान का आचरण करना, पालन करना ज्ञानाचार है।

2. दर्शनाचार-पांचाचार में दूसरा भेद है दर्शनाचार। जिसका अर्थ है--सम्यक्त्व विषयक आचरण। सम्यक्त्व का अर्थ है सत्य-तत्त्व के प्रति दृढ़ निष्ठा एवं श्रद्धा। निशीथभाष्य में इसके आठ भेद किये हैं।[१] जो निम्न हैं-

(1) नि:शंकित-इसका अर्थ शंका एवं भय दोनों मिलते हैं। उत्तराध्ययन बृहद्वृति में शान्त्याचार्य ने[२], श्रावक धर्म प्रकरण में आचार्य हरिभद्र ने[३] स्थानाङ्गवृत्ति में आचार्य अभयदेव ने[४], योगशास्त्र में आचार्य हेमचन्द्र ने[५], प्रवचनसारोद्धार में आचार्य नेमिचंद्रने[६], मूलाराधना टीका में आचार्य शिवकोटिने[७] शंका का **अर्थ सन्देह** किया है। तो आचार्य कुन्दन्दने समयसार में[८] शंका का अर्थ भय किया है। **तत्त्वार्थवृत्ति** में आचार्य श्रुतसागर ने[९] इसका अर्थ भय और शंका दोनों अर्थ किये हैं।

इस प्रकार नि:शंकित का अर्थ है जिन भाषित तत्त्व के प्रति असंदिग्ध होना और सात प्रकार के भयों से भयभीत न होकर अभय होना ही सम्यग्दर्शन का आचार है। निशीथचूर्णिकार इसके दो प्रकार करते हैं। 1. देश (अंशत:) शंका 2. सर्वशंका[१०] देशशंका यथा जीव समान है तो भव्य-अभव्य भेद कैसे हो सकते

---

१. निशीथ. भा. गा. २३ २. उत्तरा. वृत्ति पत्र ५६७. ३. श्रा. ध. प्र. वृ. पत्र. २०
४. स्था. वृ. पृ. १७६ ५. योगशास्त्र २.१७ ६. प्रवचन सारो. पृ. ६९
७. मूलराधना १.४४ ८. समय गा. २२८ ९. तत्त्वार्थ वृत्ति ७.२३
१०. नि. भा. गा. 24

हैं? सर्व शंका अर्थात् समस्त द्वादशांग गणिपिटक प्राकृत भाषा में ही बना है अथवा किसी कुशल व्यक्ति द्वारा कल्पित है, इस प्रकार की शंका सर्व शंका है। इस प्रकार शंका न करके नि:शंक रहना दर्शन का आचार है।

(2) निष्कांक्षित-अर्थात् कांक्षा रहित होना। कांक्षा के दो अर्थ हैं-

(1) 'करवा अण्णोण दंसणग्गाहो'[१] अर्थात् अन्य अन्य एकान्त दृष्टिवाले दर्शनों की अभिलाषा करना, उनको स्वीकार करने की इच्छा करना।

(2) धर्माचरण के द्वारा सुख समृद्धि पाने की इच्छा करना[२]

इन दोनों प्रकार की इच्छाओं से रहित होना ही दर्शन का आचार है।

(3) निर्विचिकित्सा-इसके दो अर्थ किये हैं[३] - 1. धर्म के फल में संदेह करना 2. जुगुप्सा-घृणा। यह कार्य होगा या नहीं? प्रत्यक्ष में यह ऐसा है, परोक्ष में इस का फल मिलेगा या नहीं? यह विचिकित्सा है। वितिगिच्छा अर्थात् मति का विप्लव होना। जैसे यह स्थाणु है या पुरुष है? इसका त्याग अथवा रहित होना विचिकित्सा है।

2. जो साधु के मलिन पात्र उपकरण आदि देखकर निन्दा, गर्हा करे वह विचिकित्सा है। पूर्व से यह विशेष है।

(4) अमूढदृष्टि-अर्थात् मोहमयी दृष्टि। परवादी या एकान्तवादी तीर्थिकों की विभूति, ऋद्धि, पूजा, समृद्धि देखकर आकर्षित होना या मोह उत्पन्न होना मूढ़ता है। उस मूढ़ता का अभाव होना अमूढ़दृष्टि होना दर्शन का आचार है।[४]

(5) उपबृंहण-संघदासगणि[५] ने इसकी व्याख्या की है "तपस्वी की वैयावृत्य करना तथा विनय सज्झायादि से युक्त देखकर प्रशंसा करना वह उपबृंहण है। प्रशंसा करना, श्लाघा-श्रद्धा करना उपबृंहण है। अन्यत्र इसका अर्थ किया है पुष्टि करना। वसुनन्दि श्रावकाचार[६] में इसके स्थान पर उपगूहन शब्द प्रयुक्त किया गया है, जिसका अर्थ है- प्रमादवश हुए दोषों का प्रचार न करना व अपने गुणों का गोपन करना। जबकि[७] अमृत चन्द्राचार्य इसे उपबृंहण का ही प्रकार कहते हैं।

---

१. नि. भा. गा. 24

२. तत्त्वार्थवृत्ति ७.२३, पुरुषार्थसिद्धयुपाय २४.

३. नि. भा. २६, प्रव. सारो. २६८ वृत्ति पत्र ६४, पुरुषा २५, रत्न क. श्रा. १.१३

४. नि. भा. २६, श्रावक ध, प्र. ६८-६० ५. नि.भा. गा. २५

६. वसु. श्रा. ४८ ७. पुरुषा. २६

उनका अभिमत है कि स्वयं के आत्मगुणों की वृद्धि करना और दूसरे के दोषों का निगूहन करना-ये दोनों उपबृंहण के ही अंग है।''

(6) स्थिरीकरण-जो संयम से, धर्म व न्यायमार्ग से शिथिल हो रहे हैं, विचलित हो रहे हैं उसमें धैर्यता, स्थिरता उत्पन्न करना, उसे प्रेरणा करना स्थिरीकरण है।[१]

(7) वात्सल्य-मोक्ष में सहायक धर्म व धार्मिकों में वत्सल भाव रखना, उनकी यथायोग्य प्रतिपत्ति करना, साधार्मिक, श्रमणों को आहार, वस्त्र आदि देना। गुरु, ग्लान, तपस्वी, शैक्ष तथा अन्य आए हुए श्रमणों की विशेष सेवा करना वात्सल्य है।[२]

(8) प्रभावना-शब्दों को अवधारण करके जो प्रवचन की प्रभावना करते हैं, वह प्रभावना है।[३] (जिससे चतुर्विध संघ (तीर्थ)-साधु-साध्वी, श्रावक व श्राविका की उन्नति हो, उस प्रकार का प्रयत्न करना। साथ ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र से अपनी आत्मा को प्रभावित करना और जिन शासन की महिमा व गरिमा में वृद्धि करना प्रभावना है।[४]

दर्शनाचार के ये आठों ही अंग सत्यावस्था को प्रकाशित करते हैं। जब तक शंकादि दोषों से मुक्त नहीं होगा उसे सत्य तथ्य का ज्ञान नहीं होगा। आचार्य परमेष्ठी इन आठों ही अंगों को धारण करके अन्य संघादि को सत्यतत्त्व का प्रकाश करते हैं।

3. चारित्राचार

आचार्य तीसरे चारित्राचार का पालन करते हैं। चारित्राचार का अर्थ है, समिति-गुप्ति रूप आचरण। समिति का अर्थ है सम्यक् प्रवर्तक। अहिंसा संवलित प्रवृत्ति समिति तथा जो निवर्तन करे उसे गुप्ति कहते हैं। समिति-गुप्ति के आठ प्रकार हैं[५]

5 समिति-ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदानमंडभत्तनिक्षेपणासमिति, उच्चारप्रस्त्रवणखेल जलसिंघाण पारिष्ठापनिकी समिति[६]

---

१. नि. भा. २८, प्रव. सारो. २६८ वृत्ति पत्र ६४, पुरुषा २८, रत्नकरण्डश्रावकाचार १.१६
२. नि. भा. २९, उत्तरा बहद्वृत्ति ५६७ ३. नि.भा. ३१ बृहद्वृत्ति ५६७
४. उत्तरा. बृहद्वृत्ति ५६७
५. (निशीथ भाष्य गा. ३५-परिधाण जोगजुत्तों पंचहि समितीहिं तिहिं य गुत्तीहिं। एस चारित्ताचारो अट्ठविहो होति नायव्वो।।
६. (उत्तराध्ययन २४. अध्य, तत्त्वार्थ सूत्र ९.५)

तीनगुप्ति-मनगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति

1. ईर्यासमिति-यतनापूर्वक चलना।

2. भाषासमिति-यतनापूर्वक बोलना।

3. एषणासमिति-शय्या (स्थानक), आहार, वस्त्र, पात्र आदि निर्दोष ग्रहण करना।

4. आदानभण्डमत्तनिक्षेपणासमिति-यतनापूर्वक भण्डोपकरणग्रहण करना तथा स्थापित करना (रखना)।

5. पारिष्ठपनिकासमिति-उच्चार-दीर्घशंका (बडीनीति), प्रस्त्रवण-लघुनीति, खेल-श्लेष्म, जल्ल-मैल, सिंघाण-नाक का मैल आदि जीव रहित भूमि में परठना (डालना)।

4. गुप्ति-मन, वचन, काया का गोपन करे। तात्पर्य यह है कि इनका निग्रह करें।[१]

इस प्रकार आचार्य भगवंत इनके दोषों को दूर करके, गुणों का पालन, समिति-गुप्ति का पालन स्वयं करते हैं तथा अन्यों से भी पालन कराते हैं। क्योंकि इनका प्रणिधान समस्त चारित्र के उत्पादन, रक्षण और विशोधन में अनन्य साधन रूप है।

4. तपाचार

आचार का चतुर्थ भेद है-तप। भारतीय आचार पद्धति में तप का स्थान सर्वोपरि रहा है। ब्राह्मण एवं श्रमण संस्कृति में इसे साधना का अपरिहार्य अंग के रूप में मान्य है। जैन परम्परा में इसका अर्थ मात्र कार्य क्लेश या उपवास आदि ही नहीं है, किन्तु इच्छाओं के निरोध[२] के साथ ध्यान प्रायश्चित, स्वाध्याय रूप में भी स्वीकार किया गया है। तप से कर्मों की निर्जरा[३] त्वरित गति से होती है। जैन परम्परा तप के दो भेद स्वीकार करती है[४] -

1. बाह्य तप 2. आन्तरिक तप[५]

---

१. (वही. ९.४)
२. उत्तरा. २९.१३, २९.२७-२८
३. तत्त्वार्थ सूत्र ९.३ 'तपसा निर्जराच'
४. उत्तरा. २८.३४
५. *तत्त्वार्थ सूत्र* ९.१९-२०, *औपपातिक सूत्र* ३०

बाह्य तप के 6 प्रकार हैं-

1. अनशन-असन्नं-अन्न, पाणं-पानी, खाइमं-खादिम (मेवा आदि) साइमं-स्वादिम (मुखवास पान सुपारी आदि) का त्याग करना।

2. अवमोदारिका-आहार, उपधि (वस्त्रादि), कषाय को कम करना।

3. भिक्षाचर्या-गृहस्थों के यहाँ से निर्दोष आहार लाना।

4. रसपरित्याग-स्वादिष्ट एवं बलवर्धक वस्तुओं का यथाशक्ति त्याग करना।

5. काय क्लेश-स्वेच्छा से, स्वाधीन रूप से निर्जरा के लिए काया को कष्ट देना-कायक्लेशतप है।

6. प्रतिसंलीनता-इंद्रिय, कषाय, योग तथा शय्या-आसन का संकोचन करना।

इन बाह्य तपों के आचरण से देहाध्यास छूट जाता है। देहासक्ति साधना में विघ्नरूप है। अतः मनीषियों ने इसके त्याग के लिए तपाचरण का उपदेश दिया है।

आन्तरिक तप-आन्तरिक तप के भी 6 भेद कहे गये हैं-

1. प्रायश्चित तप-पाप की पर्याय का जो छेदन करे, उसे प्रायश्चित कहते हैं।

2. विनय तप-गुरुजनों, वयोवृद्ध, गुणवृद्ध का आदर, सन्मान, सत्कार करना विनय तप है।

3. वैयावृत्य-अर्थात् सेवा करना। वृद्ध, ग्लान, बाल, तपस्वी. पदधारियों की सेवा करना वैयावृत्य है।

4. स्वाध्याय-वाचना, पृच्छना, पुनरावर्तन, अनुप्रेक्षा करना।

5. ध्यान-अशुभ ध्यान से निवृत्ति होकर शुभ ध्यान करना। आर्त-रौद्र ध्यान अशुभ है तथा धर्म-शुक्ल ध्यान शुभ ध्यान है।

6. व्युत्सर्ग-छोड़ने योग्य वस्तु को छोड़ना यह व्युत्सर्ग है।

इस प्रकार यह 6 प्रकार के बाह्य तथा 6 प्रकार के आन्तरिक तप, कुल मिलाकर इन बारह भेदों में आचार्य स्वयं को संलग्न करते हैं तथा अन्यों को भी प्रेरित करते हैं।

(5) वीर्याचार

आचार का पाँचवाँ भेद वीर्याचार है। ज्ञान आदि के विषय में शक्ति का अगोपन तथा अनतिक्रम करना वीर्याचार है। ये गुणों में अपने वीर्य को स्फुरित् करते हैं। निरंतर ज्ञान, ध्यान, तप, संयम तथा धर्मोपदेश में साथ ही धर्मवृद्धि के

प्रत्येक कार्य में प्रवृत्त होकर अपने बल, वीर्य, पराक्रम को स्फुरित करते हैं तथा अन्यों के वीर्योल्लास में वृद्धि कराते हैं। इस प्रकार आचार्य भगवन्त अपने वीर्य-पुरुषार्थ को वेगवान् बनाकर धर्मजागृति लाते हैं।

इन पंचाचारों के धारक आचार्य भगवन्त स्वयं इनका पालन करते हैं तथा अन्य प्राणियों को पालन करने हेतु प्रवृत्त करते हैं।

आचार्य विषयक इतर दर्शनों की विचारणा

वेदों में आचार्य-

श्रमण परम्परा में आचार्य पद का माहात्म्य अनूठा है। ब्राह्मण परम्परा में इस पद की गरिमा का गुणगान किस प्रकार हुआ है? चतुर्वेदों में से मात्र अथर्ववेद में इस पद का उल्लेख प्राप्त होता है।

अथर्ववेद में आचार्य का उल्लेख गुरु के लिए किया है, जो कि ब्रह्मचारी द्वारा पोषित होता है।[१] और उपनयन करने वाला आचार्य उस ब्रह्मचारी को विद्यामय शरीर के गर्भ में स्थापित करता हुआ, तीन रात तक ब्रह्मचारी को अपने उदर में रखता है।[२] यहाँ पर यह भी उल्लिखित है कि "पृथिवी और आकाश के उत्पादक आचार्य की भी ब्रह्मचारी रक्षा करता है।[३] पृथिवी लोक में आचार्य के हृदय रूप गुहा में एक वेदात्मक निधि है।[४]

उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट होता है कि आचार्य ब्रह्मचारी से पोषित ही नहीं, वरन् उनसे रक्षित भी होते हैं। एवं आचार्य उस ब्रह्मचारी को विद्याध्ययन कराते है। वे आचार्य पृथिवी और आकाश के उत्पादक है। साथ ही उल्लेख है कि "उपनयन करने वाले आचार्य" इससे तात्पर्य यह निकलता है कि विधि विधान करने वाले आचार्य, संस्कार करने वाले आचार्य भिन्न-भिन्न होते हैं। इस प्रकार आचार्य भी अनेक प्रकार के होने चाहिये।

इसी अथर्ववेद में आचार्यप्रवर के लिए तो यहाँ तक कथन है कि आचार्य ही मृत्यु हैं, वही वरूण हैं, वही सोम हैं। दुग्ध, ब्रीहि यव और औषधियाँ आचार्य की कृपा से ही प्राप्त होते हैं। अथवा यह स्वयं ही आचार्य हो गए हैं।

---

१. अथर्व. ११.३.५.१
२. वही ११.३.५.३
३. वही ११.३.५.८
४. वही ११.३.५.१०

आचार्य रूप से वरूण ने जिस जल को अपने पास रखा, वही वरूण प्रजापति से फल चाहते थे, वही मित्र ने ब्रह्मचारी होकर आचार्य को दक्षिणा रूप से दिया। विद्या का उपदेश देकर आचार्य ब्रह्मचारी रूप से प्रकट हुए हैं। वही तप से महिमावान हुए प्रजापति बने। प्रजापति से विराट होते हुए, वही विश्व के स्रष्टा परमात्मा हो गए।[१] आचार्य ब्रह्मचर्य से ही ब्रह्मचारी को अपना शिष्य बनाने की इच्छा करता है।[२]

उपर्युक्त कथन से ज्ञात होता है कि यहाँ आचार्य को कितना गौरव प्राप्त है। जीवन-मृत्यु सब कुछ आचार्य के ही आधीन है। यद्यपि उनका कार्य विद्याध्ययन ही है। तथापि उनकी कृपा अति महत्त्वपूर्ण है, जीवन विकास के लिए। उनकी महती कृपा का ही सुफल है कि सर्व वांछित पूर्ण होते हैं। आचार्य ही प्रजापति बनते है तथा क्रमशः विराट एवं विश्व के स्रष्टा परमात्मा होजाते हैं। इस प्रकार आचार्य परमात्मपद का वरण करते हैं।[३]

यद्यपि जैन परम्परा संघ के नायक एवं उपदेशक रूप से अंगीकार करती है। अर्हत् का अभाव में उनका स्थान सर्वोपरि होता है, संघ संचालन में। तथापि वे परमात्म पद का वरण करें ही, यह निश्चित नहीं। क्योंकि जिन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया, वे ही परमात्म पद पर अधिष्ठित हो सकते हैं, अन्य नहीं। आचार्य पद मात्र संघ के नायक, संचालक के लिए ही यहाँ प्रयुक्त हुआ है। जबकि वेद में उनकी समानता परमात्मा के समकक्ष दर्शायी है।

बौद्ध परम्परा में आचार्य

विनयपिटक के अन्तर्गत 'महावग्ग' एवं 'चुल्लवग' में आचार्य विषयक वर्णन उपलब्ध होता है। यहाँ उल्लेख है कि जब संघ में खासतौर से शिष्यों में अव्यवस्था हो जाती है, भिक्षु आचार-धर्म का यथोचित पालन नहीं करते, तब बुद्ध के समक्ष उनकी फरियाद की जाती है। तब बुद्ध स्वयं शिष्यों को उद्‌बोधन करते हैं कि आचार्य बनावें।[४] उससे पूर्व भिक्षु आचार्य के बिना ही रहते थे। अनुशासनहीनता होने पर बुद्ध आचार्य बनाने की अनुमति देते हैं। साथ ही उपदेश

---

१. (अथर्व. ११.३.५.१४-१६)
२. (वही ११.३.५.१७)
३. (तैत्तिरीय उप. १.३.२, ११.१, छांदोग्य ४.९.१, १.४.१, ७..१५.१, जैमि. ३.२.३.४,)
४. (आचारिवत्तकथा-विनयपिटक-महावग्ग १.२.१., चुल्लवग्ग-८.५.४)

देते हैं। कि आचार्य को शिष्ट में पुत्र-बुद्धि रखनी चाहिये तथा शिष्य को आचार्य में पिता बुद्धि।[१]

आचार्य ग्रहण करने की विधि

उत्तरासंग को कंधे पर करवा कर, पादवंदन कर, उकडू बिठा कर, हाथ जोड़कर इस प्रकार कहना चाहिए-भन्ते! मेरे आचार्य बनिए, भंते! मेरे आचार्य बनिए, भंते! मेरे आचार्य बनिए।[२]

आचार्य के प्रति शिष्य का कर्त्तव्य

शिष्य को आचार्य के साथ अच्छा बर्ताव करना चाहिए। अच्छा बर्ताव यह है- समय से उठकर, जूता छोड़, उत्तरासंग को एक कंधे पर रख, दातुवन देना चाहिए, मुख (धोने को) जल देना चाहिये। आसन बिछाना चाहिये। यदि खिचड़ी कलेऊ (नाश्ते) के लिए है, तो पात्र धोकर उसे देना चाहिए। पानी देकर, पात्र लेकर बिना घसे धोकर रख देना चाहिए। आचार्य के उठ जाने पर वहाँ स्वच्छ कर देना चाहिये। आचार्य गाँव में जाना चाहे तो वस्त्र थमाना चाहिये, कमरबन्द देना चाहिए। यदि वे साथ में अनुगामी भिक्षु चाहें तो इसी प्रकार सुसज्ज होकर आचार्य का अनुचर बनना चाहिए।

उनके साथ में न बहुत दूर चलना चाहिए, न बहुत समीप में चलना चाहिए। पात्र में भिक्षा को ग्रहण करना चाहिये। आचार्य के बात करते समय बीच-बीच में बात नहीं करना चाहिये। यदि आचार्य सदोष बात बोल रहे हो तो मना करना चाहिये।

लौटने पर पहले आकर आसन बिछा देना चाहिये पादोदक (पैर धोने का जल) पाद-पीठ, पाद कठली (पैर घिसने का साधन) रख देना चाहिए। जो जो वस्तुएँ-व्यवस्था पहले उनके प्रति की थी, वह पुनः उनसे लेकर व्यवस्थित स्थापित कर देना चाहिए। संक्षेप में आचार्य के आहार, भिक्षाटन, स्नान तथा आवास आदि की स्वच्छता का उत्तरदायित्व शिष्य पर होता है।[३]

यहाँ तक कि यदि आचार्य को उदासी हो तो शिष्य को उसे हटाना, हटवाना चाहिये धार्मिक कथा उनसे करनी चाहिये। उनको शंका उत्पन्न हुई हो तो, उल्टी धारणा भी हो गई हो तो शिष्य को उसे दूर करने का प्रयास करना चाहिए।[४]

---

१. आचारिवत्तकथा-विनयपिटक-महावग्गा-१.२.१, चुल्लवग्ग-८.५.४

२. वही

३. वही

४. वही

यदि आचार्य ने कोई बड़ा अपराध कर दिया हो तो शिष्य को चाहिये कि संघ आचार्य को दण्ड न करे या हल्का दण्ड दे।[१]

आचार्य से पूछे बिना वह कुछ भी कार्य न करे। यदि आचार्य रोग आक्रान्त हों तो जीवनभर उनकी सेवा करनी चाहिए।[२]

आचार्य के कर्त्तव्य

उपाध्याय को शिष्य से अच्छा बर्ताव करना चाहिए। उस पर अनुग्रह करना चाहिये, उपदेश देना चाहिए। आहार, वस्त्र, पात्र की व्यवस्था करनी चाहिये। यदि शिष्य रोग से आक्रान्त हो जावे तो जिस प्रकार शिष्य आचार्य की परिचर्या करता था, उसी प्रकार आचार्य को भी शिष्य की सेवा करनी चाहिये। शिष्य का कुछ अपराध हुआ हो तो संघ उसे क्षमा करे अथवा अल्पदण्ड दे, ऐसी व्यवस्था आचार्य को करनी चाहिये।[३]

आचार्य का अधिकारी

संघ में कम से कम जो दस वर्ष से हो तथा जिसमें शिष्यों की देखभाल करने की शक्ति हो, वही आचार्य का अधिकारी हो सकता है। आचार्य का चयन भी तभी होता था, जब उपाध्याय प्रवास में गए हों, अथवा मरण हुआ हो, उन्होंने भिक्षुत्व का त्याग किया हो, तभी शिष्य आचार्य का चयन करते थे।[४]

इस प्रकार बौद्ध परम्परा में आचार्य पद का उल्लेख किया गया है। उपर्युक्त सन्दर्भों से विदित होता है कि यहाँ आचार्य का मात्र उद्देश्य होता है शिष्य में संस्कारों का आरोपण। शिष्यों की देखभाल करना ही उनका कर्त्तव्य होता है, अन्य नहीं। साथ ही आचार्य का चयन भी शिष्य ही करते हैं, संघ या स्वयं बुद्ध भी इस दिशा में कुछ गठन नहीं करते। संघ संचालन का भार उनके स्कंधों पर नहीं। न ही उनमें विशिष्ट गुणों का होना ज्ञापित किया है, मात्र दस वर्ष की अवधि होना, एवं शिष्य की परवरिश करना ही उनका कार्य है। तात्पर्य यह निकलता है कि बौद्ध परम्परा में मात्र शिष्य की शिक्षा-दीक्षा के लिए ही आचार्य का निर्माण हुआ है।

---

१. वही

२. आचारित्तकथा-विनयपिटक-महावग्ग १.२.१, चुल्लवग्ग-८.५.४

३. वही.

४. वही

इस प्रकार इतर परम्पराओं में भी आचार्यपद पर ध्यान अनुलक्षित किया है। जैन परम्परा जहाँ संघ के नेतृत्व का, संचालन, पंचाचार पालन, अध्ययन-अध्यापन एवं संयम निष्ठा पर विशेष बल देती है, वहाँ इतर परम्परा में अध्ययन-अध्यापन हेतु विशेष जोर दिया गया है।

इस प्रकार तृतीय परमेष्ठी आचार्य पद का यहां अन्य परम्परा एवं जैन परम्परा के सन्दर्भ में विवेचन किया गया है।

अध्याय-6

उपाध्याय-पद

पंच परमेष्ठी का चतुर्थ पद-उपाध्याय

- उपाध्याय-व्युत्पत्तिपरक अर्थ, सामान्य अर्थ
- पर्यायें
- प्रकार-गुण
- आठ प्रभावनाएँ
- अन्य विशेषताएँ-गणि-गच्छ-संधारणे, पाहण ने पल्लव आणे, बावना चन्दन रस समवयणे, अहित ताप सवि टाले, सूत्र सिद्धान्तों के पाठक
- सूत्र सिद्धान्त (आगम)
- आप्त कौन?
- चौदहपूर्व, अंग आगम

1. अंग प्रविष्ट
2. अंगबाह्य

- अन्य दर्शनों में समानपद
- बौद्ध परम्परा में उपाध्याय पद

पंच परमेष्ठी का चतुर्थ पद-उपाध्याय

आस्रव द्वारों को अवरूद्ध करके तथा मन-वचन-काया के योगों को वश करके जिन्होंने विधिपूर्वक स्वर, व्यंजन, मात्रा, बिन्दु, पद और अक्षर द्वारा विशुद्ध ऐसे द्वादशांग श्रुत का अध्ययन किया है, एवं अध्यापन कराते हैं तथा उसके द्वारा स्व-पर के मोक्ष के उपायों को ध्याते हैं वे उपाध्याय हैं।[१] चिरपरिचित ऐसे द्वादशांग श्रुतज्ञान को जो अनन्त गमपर्यय द्वारा चिन्तन करते हैं, पुनः पुनः स्मरण करते हैं और एकाग्र मन से ध्यान करते हैं, वे उपाध्याय हैं।[२]

उपाध्याय अर्थात् साधुओं को शास्त्रों का अभ्यास कराने वाले। शास्त्रकारों ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है-"उप समीपे अधिवसनात् श्रुतस्य अयो-लाभो भवति येभ्यस्ते उपाध्यायाः"- जिनके पास रहने से श्रुत का लाभ हो वे उपाध्याय कहलाते हैं।[३]

नियमसार में उल्लेख है कि "वे रत्नत्रय से संयुक्त जिन कथित पदार्थों के शूरवीर उपदेशक और निःकांक्षित भाव सहित हैं।[४] मूलाराधना में व्याख्या है "बारह अंग चौदहपूर्व जो जिनदेव ने कहे हैं, उनको पंडित जन स्वाध्याय कहते हैं। वे इन स्वाध्याय का उपदेश करते हैं, अतः उपाध्याय है।[५]" धवला में इसे स्पष्ट किया है कि जो साधु चौदह पूर्व रूपी समुद्र में प्रवेश करके अर्थात् परमागम का अभ्यास करके मोक्षमार्ग में स्थित है, तथा मोक्ष के इच्छुक शीलंधरों अर्थात् मुनियों को उपदेश देते हैं, उन मुनीश्वरों को उपाध्याय परमेष्ठी कहते हैं।[६] राजवार्तिक[७], सवार्थसिद्धि[८] भगवती आराधना में इसी प्रकार का कथन किया गया है। पुनः धवलाकार उल्लेख करते हैं कि "चौदह विद्यास्थानों के व्याख्यान करने वाले अथवा तत्कालीन परमागम के व्याख्यान करने वाले उपाध्याय हैं। वे संग्रह, अनुग्रह आदिगुणों को छोड़कर पूर्वकथित आचार्य के समस्त गुणों से युक्त होते हैं।"[९]

---

१. महानिशीथ
२. महानिशीथ
३. सन्दर्भः नमस्कार महामंत्र-भद्रंकर विजय मुनि पृ. १४
४. नियमसार-७४, द्रव्यसंग्रह ५३
५. मूलाराधना ५११, आवय नि. १००१
६.१. (धवला १.१,१,१.५०.१) धवला १.१, १, १.३२५०
७. राजवार्तिक ९.२४.४.६२.१३.
८. सर्वार्थसिद्धि ९.२४.४४.२.७ भगवती आराधना ४६.१५४.२०
९. धवला १.१,१,१.५०.१

शंका समाधान करने वाला, सुवक्ता वाग्ब्रह्म, सर्वज्ञ अर्थात् सिद्धान्तशास्त्र और यावत् आगमों के पारगामी, वार्तिक तथा सूत्रों को शब्द और अर्थ के द्वारा सिद्ध करने वाले होने से कवि, अर्थ में मधुरता का द्योतक तथा मार्ग के अग्रणी होते हैं। उपाध्यायपने में शास्त्र का विशेष अभ्यास ही कारण है, क्योंकि जो स्वयं अध्ययन करता है, और शिष्यों को भी अध्ययन कराता है, वही गुरु उपाध्याय है। उपाध्याय में व्रतादि के पालन करने की शेष विधि सर्व मुनियों के समान है।[१]

सूत्रार्थ अर्थात् सूत्र और उसका अर्थ। तात्पर्य यह है कि सूत्र पर भाष्य का अर्थ, भाष्य पर निर्युक्ति का अर्थ, निर्युक्ति पर चूर्णी-टीका का अर्थ यह सर्व सूत्र के अर्थ में ही सम्मिलित होता है। आचार्य अर्थ की देशना देते हैं। जिस से सूत्र के भावों का बोध होता है, ऐसे पदार्थों का उपदेश देते हैं। जबकि उपाध्याय सूत्र पाठ देते हैं तथा सूत्र का भाष्य-चूर्णी टीका के अन्तर्गत अर्थ की वाचना भी देते हैं।

यद्यपि उपाध्याय आचार्य नहीं है, आचार्य पद पर विराजमान नहीं है, तथापि उपाध्याय स्वाध्याय में तत्पर एवं उद्यत रहते हैं। आचार्य शासन परम्परा का विस्तार करते हैं, तो उपाध्याय सूत्रार्थ परम्परा का विस्तरण करते हैं। वे सूरिगण के- आचार्य के समुदाय के सहायक होते है। सूत्रार्थ की वाचना से मुनियों को बोध होता है। वे स्वाध्याय-पठन-पाठन में रत रहते हैं। इस प्रकार उपाध्याय मुनियों के ज्ञान-दान से मुख्यतया सहायभूत होते हैं। मुनियों को आहार लाकर देना, रुग्णावस्था में वेयावच्च करना यह सहायता है, किन्तु क्षुल्लक है। किन्तु ज्ञान दान सर्व में श्रेष्ठ कहा गया है। क्योंकि ज्ञान होने पर विशेष रूप से जयणा-यतना (दया) करे। हेय-उपादेय पदार्थों का ज्ञान करके तद्विषयक आचरण की शुद्धता करता रहे। इस प्रकार उपाध्याय सुगति का मार्ग प्रशस्त करते हैं। ज्ञान के अभाव में संयम पालन न होने से दुर्गति का भोग बन सकता है। अतः उपाध्याय दुर्गति के द्वार बन्द करके सद्गति का सर्जन करते हैं। ज्ञानदान करके महान् उपकार करते हैं। उपाध्याय मद-माया-मान का त्याग करके सदैव सावधान हैं, जागृत हैं, उद्यमशील है।

(1) वे जागृत हैं, उपयोगवान् एवं विवेकवान् है। पात्र की योग्यता एवं तत्परता देखकर ज्ञानदान करते हैं।

(2) सावधान हैं-सूत्रार्थ के दान में कभी थकान का अनुभव नहीं करते।

---

१. पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध ६५९-६६२

(3) उद्यमशील हैं-सूत्र विपर्यास तथा अर्थ विपर्यास न हो जाये। एक अक्षर अथवा पदार्थ के अर्थ में विपर्यास न हो जावे, अतः पूर्णतया उद्यमशील एवं सावधान रहते हैं।

(4) सूत्रार्थ का दान देने में, जैसे-तैसे पठन-पाठन में तत्पर नहीं होते। वे सरल भावों से व्यवस्थित रीति से एवं सम्पूर्णतया पढ़ाते हैं। उपाध्याय प्रवादी अर्थात् प्रकृष्ट-उत्कृष्ट वादी रूपी हाथियों को परास्त करने में सिंह के सदृश हैं। उनके समक्ष अनेकान्त सिद्धान्त पर रचित विपुल जिनागम का ज्ञान ऐसा महान है कि उनके समक्ष एकान्तवादी वादियों का ज्ञान क्षुद्र-तुच्छ हो जाता है। क्योंकि उनके पास जिनागमों का ज्ञान सचोट एवं संगीन है कि प्रवादियों की प्ररूपणा का खण्डन करते देर नहीं लगती। ऐसे प्रभुत्वज्ञानी, अगाधज्ञानी, सिद्धज्ञान वाले उपाध्याय हैं।

उपाध्याय क्षमा युक्त, लोभ से मुक्त, ऋजुता-मृदुता संयुक्त हैं तथा सत्य शौच, अकिंचन-अपरिग्रह, तप, संयम आदि गुणों में रक्त हैं तथा समिति एवं सुगुप्ति में गुप्त हैं-ब्रह्मचर्य से रमणीय हैं।

उपाध्याय का मुख्य गुण विनय है। क्योंकि विनयगुण मोक्ष मार्ग के लिए बहुत उपयोगी है। इसके बिना मोक्षमार्ग में एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा जा सकता। वास्तव में विनय से ही मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है। विनय के बिना उत्तम प्रकार की विद्या प्राप्त नहीं होती। इस विद्या-विज्ञान के बिना मोक्ष की प्राप्ति भी नहीं होती। छोटे बड़े सब गुणों का मूल विनय है। इस चौथे पद में रही हुई आत्मा विनयगुण का पालन करती है और दूसरों को भी विनय गुण की शिक्षा देती है। आत्मिक गुणों की प्राप्ति में ऐसा नियम है कि जिस गुण की आत्मा हार्दिक इच्छा करता है और उसे प्राप्त करने के लिए सच्चे अतःकरण से प्रयास करता है, वह गुण उसमें प्रगट हुए बिना नहीं रहता। विनयगुण यानि बाह्य अभ्यंतर सर्व प्रकार की ऋद्धि-सिद्धियों का उत्पत्ति स्थान।

जो शिष्य के हित का उपाय का चिन्तन करते हैं, वे उपाध्याय है। आचार का उपदेश करने से आचार्य तथा अन्य को स्वाध्याय कराने से उपाध्याय है। अथवा अर्थ प्रदायक आचार्य है तथा सूत्र प्रदायक उपाध्याय है।[१]

---

१. विशेषावश्य. भा. गा. ३१९९-३२००

उपाध्याय-व्युत्पत्तिपरक अर्थ

उपाध्याय पद की निर्युक्तियाँ निम्न प्रकार से की गई है-

(1) 'उ' ति उवओगकरणे, 'व' त्ति य पाव परिवज्जणे होइ।

'झ' त्ति य झाणस्स कए, 'उ' त्ति य ओसक्कणा कम्मे।।

अर्थात् -उ = उपयोग करना, व = पाप का वर्जन करना, झ = ध्यान करना और उ कर्मों को दूर करना अर्थात् उपरयोग पूर्वक, पापों का नाश करते हुए, ध्यानारूढ़ होकर कर्मों को दूर करे वे उपाध्याय कहलाते हैं।[1]

(2) अथवा-'उ' ति उवओगकरणे, 'झ' त्ति य झाणस्स होई निद्देसो।

एएण हुंति 'उज्झा' एसो अन्नो वि पज्जाओ[2] ॥ अर्थात् उ = उपयोग करना और 'ज्झा' अर्थात् ध्यान करना। इस प्रकार 'उज्झा' अर्थात् उपयोगपूर्वक ध्यान करना, यह इसकी अन्य पर्याय है।

(3) अथवा-उप-समीपमागत्याधीयते 'इङ्' अध्ययने इति वचनात् पठ्यते, इण् गताविति वचनाद्वा 'अधि' आधिक्येन गम्यते, इक् स्मरणे इति वचनाद्वा स्मर्यते सूत्रतो जिनवचनं येभ्यः ते उपाध्यायः[3]-उपाध्याय पद में तीन शब्द है-उप + अधि + ई। उप = समीप, अधि = आधिक्य, एवं 'इ' धातु के तीन अर्थ होते हैं-1. अध्ययन करना 2. जाना (जानना) एवं स्मरण करना अर्थात् जिनके पास जाकर सूत्र से जिनवचनों का अध्ययन किया जाये, अधिकता से ज्ञान प्राप्त किया जाये तथा स्मरण किया जाय-वे उपाध्याय हैं।

(4) अथवा उपाधानमुपाधिः-संन्निधिः तेन उपाधिना उपाधौ वा आयो लाभः श्रुतस्य येषाम्। उपाधीनां वा विशेषणानां प्रक्रमाच्छोमनानामायो लाभ येभ्यः। अथवा उपाधिरेव संनिधिरेव आयम्-इष्ट फलं दैवजनितत्वेन आयानामिष्टफलानां समूहस्तदेकहेतुत्वाद् येषाम्।[4] उपाधि यानि 'संनिधि' जिनकी संनिधि से अर्थात् जिनके सानिध्य में रहने से श्रुतज्ञान का 'आय' अर्थात् लाभ होता तो वह उपाध्याय है।

(5) अथवाऽधीनां मनः पीडानामायो लाभ आध्यायः, अधियां वा, नञः कुत्सार्थत्वात् कुबुद्धीनामायोध्यायः, 'ध्यै चिन्तायाम्' इत्यस्य धातोः प्रयोगान्नञः कुत्सार्थत्वादेव च दुर्ध्यानं वा अध्यायः उपहत अध्यायो अध्यायो वा यैस्ते उपाध्यायाः[5] अर्थात् 'आधि'- मन की पीडा उसका आय-लाभ वह आध्याय।

---

१. (आव. नि. गा. १००३) २. (वही गा. १००२)

३. (भगवती सूत्र मंगलाचरण भाग-१) ४. (भगवती सूत्र मंगलाचरण भाग-१)

५. (भगवती सूत्र, मंगलाचरण भाग-१, आव. नि. गा. १००१,२, ३)

अथवा 'अधि' यानि कुबुद्धि की आय-लाभ वह आध्याय। अथवा अध्याय यानि दुर्ध्यान। यह 'आध्याय' तथा 'अध्याय' को जिसने उपहत किया है अथवा हनन किया है वह उपाध्याय कहलाते है।

(6) अथवा उपाधेरायो येभ्यस्ते उपाध्याय[1] :-जिनके द्वारा उपाधि (शुभ विशेषणादि युक्त पदवी) की प्राप्ति होती है, वे उपाध्याय हैं।

(7) अथवा उपहन्यते आधेर्मानस्या व्यथाया आयः प्राप्तियैस्ते उपाध्यायाः। यद्वा उपहन्यते अधियः कुबुद्धेरायः प्राप्तियैस्ते उपाध्यायाः यद्वा उपहन्यते अध्यायो दुर्ध्यानं यैस्ते उपाध्यायाः[2] अर्थात् जिनके द्वारा मानसिक पीड़ा, कुबुद्धि और दुर्ध्यान का नाश होता है।

इस प्रकार उपर्युक्त निर्युक्तियों व्युत्पत्तियों से उपाध्याय पद का अर्थ यह निकलता है कि जिनके समीप में शिष्यादि द्वादशांग सूत्र-शास्त्रों का अध्ययन करे, स्वाध्याय करण में उपयुक्त, पाप का परिवर्जन करने वाले, ध्यान के उपयोग में तल्लीन, कर्म का विनाश करने में उद्यमी, निरन्तर जिनाज्ञा के प्रतिपालक अगण्य गुणों से विभूषित उपाध्याय होते हैं।

उपाध्याय के पर्याय

उपाध्याय परमेष्ठी की अन्य पर्यायें हैं-वाचक, पाठक, अध्यापक, श्रुतवृद्ध, शिक्षक, स्थविर, अप्रमादी, सदा निर्विषादी, अद्वयानंदी[3]

उपाध्याय के प्रकार

विशेषावश्यक भाष्य में उपाध्याय के चार प्रकार वर्णित है[4] - 1. नाम उपाध्याय 2. स्थापना उपाध्याय 3. द्रव्य उपाध्याय 4. भाव उपाध्याय।

1. नाम उपाध्याय-जिसका नाम ही उपाध्याय हो, वह नाम उपाध्याय है।

2. स्थापना उपाध्याय-उपाध्याय के आकार को किसी वस्तु में स्थापित किया गया हो, वह स्थापना उपाध्याय।

3. द्रव्य उपाध्याय-लौकिक शिल्पादि का उपदेश करने वाले तथा स्वधर्म का उपदेश करने वाले अन्य दर्शनी और तद्व्यतिरिक्त द्रव्य उपाध्याय कहलाते हैं।

---

१. (नमस्कार महामंत्र पृ. १०)
२. (वही.)
३. नमस्कार महामंत्र-मुनि श्री भद्रंकर विजयजी म. सा. पृ. १८७
४. विशेषा. भाष्य भाग-२ गा. ३१९६-२९७

4. भाव उपाध्याय-द्वादशांग रूप स्वाध्याय जो कि जिनेश्वर भगवान् द्वारा कथित है और गणधरों ने परम्परा से उपदेश किया है। उनका स्वाध्याय का शिष्यों को सूत्र से उपदेश देते हैं, वे भाव उपाध्याय हैं।

उपाध्याय के गुण

उपाध्याय में 25 गुणों का होना स्वीकार किया गया है ये पच्चीस गुण हैं-11 अंग एवं 14 पूर्व के ज्ञाता अर्थात् इन 11 अंग और 14 पूर्व के पठन-पाठन गुण से संयुक्त हों, वे उपाध्याय है। 11 + 14 = 25 गुण। अंग एवं पूर्व का विवेचन आगम के सन्दर्भ में किया जाएगा।

इन पच्चीस सूत्र के ज्ञाता रूप गुण के धारक उपाध्याय परमेष्ठी हैं। अन्यत्र अन्य रीति से भी इन पच्चीस गुणों का कथन किया गया है।

12 अंग, 13 करण सित्तरी गुण युक्त 14 चरण सित्तरी गुण युक्त, 15-22 आठ प्रभावना करने वाले तथा 23-25 मन, वचन काया का प्रणिधान करने वाले इस प्रकार 12 + 2 + 3 = 25 इन पच्चीस गुणों के धारक उपाध्याय हैं।[१]

12 अंग-

पूर्वोक्त 11 अंगों के अतिरिक्त बारहवाँ दृष्टिवाद अंग है, जिसका कि विच्छेद हो जाने से अंगों की संख्या 11 मानी जाने लगी। यहाँ बारहवें अंग को भी सम्मिलित कर दिया है।

करणसित्तरी-करण से तात्पर्य है क्रिया। अवसरानुकूल क्रिया करे वह करण है। करण के 70 बोल होने के कारण सित्तरी कहा जाता है।

4 पिंडविशुद्धि-आहार, वस्त्र पात्र और स्थान इन चारों को निर्दोष ग्रहण करें वह पिंडविशुद्धि।

(5) पाँच समिति-ईर्या, भाषा, एषणा, आदानभण्डमत्तनिक्षेपणा, उच्चार प्रस्त्रवणादि प्रतिष्ठापनिका समिति का पालन।

12 भावना-अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्त्रव, *संवर, निर्जरा, लोकसंस्थान, बोधिबीज, धर्मभावना*

12 प्रतिमा-भिक्षु की कायक्लेश तप युक्त प्रतिमा

---

१. चारित्र प्रकाश ११५

5. इंद्रियनिग्रह-पाँचों इन्द्रियों पर निग्रह (संयम-काबू) रखना

25 प्रतिलेखना-वस्त्र के तीन विभाग करके प्रत्येक विभाग को ऊपर नीचे, मध्य में दृष्टि से देखे, 3 × 3 = 9 प्रकार, वस्त्र की दूसरी तरफ 9 बार = 9 + 9 = 18 प्रकार, शंका रहे तो आगे के तीन पीछे एवं 1 शुद्ध उपयोग रखना, इस प्रकार 25 प्रकार की प्रतिलेखना

3. गुप्ति-मन गुप्ति, वचन गुप्ति, काय गुप्ति

4. अभिग्रह-द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से चार प्रकार का अभिग्रह। इस प्रकार करण सित्तरी के धारक उपाध्याय हैं।

चरणसितरी

चरण = चारित्र के 70 भेद हैं।

5 महाव्रत, 10 प्रकार का श्रमणधर्म, 17 प्रकार का संयम, 10 प्रकार का वैयावृत्य, 9 ब्रह्मचर्य की गुप्ति, तीन ज्ञानादिरत्न, 12 प्रकार का तप, 4 कषाय का निग्रह ये 70 चरणसितरी के भेद हैं।

5 महाव्रत = प्राणातिपात विरमण, मृषावाद विरमण, अदत्तादान विरमण, मैथुन विरमण 5. परिग्रह विरमण।

10 श्रमणधर्म-क्षमा, मुक्ति (निर्लोभता), आर्जव (सरलता), मार्दव (नम्रता) लाघव (लघुता), सत्य, संयम, तप, ज्ञान और ब्रह्मचर्य।

17 प्रकार का संयम-पंच आस्रव से निवृत्ति (हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह) पंच इन्द्रिय संयम, (वश करे), 4 कषाय का निग्रह 3 तीन दण्ड से मुक्त = 17 प्रकार का संयम, अथवा पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु और वनस्पतिकाय, बेइंद्रिय, तेइन्द्रिय, चौरिंद्रिय, पंचेंद्रिय, अजीवकाय, प्रेक्षा, उपेक्षा, प्रमार्जना, प्रतिष्ठापनिका, मन, वचन और काया का संयम। इस प्रकार 17 प्रकार का संयम करें।

10 प्रकार का वैयावृत्य (सेवा)-आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, नवदीक्षित, ग्लान (रोगी), स्थविर, स्वधर्मी, कुल, गण, संघ इन दस का वैयावृत्य करें।

9. ब्रह्मचर्य की वाड का पालन

3. ज्ञान, दर्शन और चारित्र रत्न

इस प्रकार इन 70 भेदों का पालन उपाध्याय प्रवर करते हैं।

आठ प्रभावनाएँ

प्रवचनसारोद्धार[1] में उपाध्याय के प्रबल प्रभाव को व्यक्त करने वाली आठ प्रभावनाएँ निर्देशित हैं-

1. प्रावचनी-जैन तथा जैनेतर आगमों का मर्मज्ञ विद्वान होना। अन्य मतावलम्बी सूत्र और शास्त्रों के ज्ञाता, सर्व शास्त्रों में प्रवीण होने पर ही सर्व को योग्य ज्ञान देकर धर्म की प्रभावना कर सकते हैं।

2. धर्मकथी-धर्मकथा करने में कुशल होना। धर्मकथा चार प्रकार की है- 1. आक्षेपणी 2. विक्षेपणी 3. संवेदनी 4. निर्वेदनी। आक्षेपणी-अर्थात् श्रोता जिसे हृदयस्थ व आत्मसात कर ले।

विक्षेपणी-सन्मार्ग छोड़कर उन्मार्गगामी को पुनः सन्मार्ग पर स्थिर करे। सन्मार्ग पर स्थापित कर दृढ़ करे वह विक्षेपणी कथा।

संवेगनी-जिस को सुनकर हृदय में वैराग्य प्रस्फुटित हो, वह संवेगनी कथा।

निर्वेदनी-जिसे सुनने पर संसार से उदासीनता आ जावे, एवं संयम लेने को आतुर हो जावे वह निर्वेदनी कथा। इस प्रकार धर्मकथा में प्रवीण होकर प्रभावना करे।

3. वादी-स्वपक्ष के मण्डन परपक्ष के खण्डन में सिद्धहस्त हो। शास्त्रों का प्रमाण दर्शाकर वादी-प्रतिवादी के खरे-खोटे पक्ष का स्वरूप बताकर स्वमत की स्थापना करके प्रभावना करे।

4. नैमित्तिक-भूत, भविष्य, वर्तमान में होने वाले हानि-लाभ के ज्ञाता। शास्त्रों में भूगोल, खगोल, निमित्त, ज्योतिष आदि जो जो विद्या हैं, उसमें पारंगत होना। आपत्ति के समय सावधान होकर प्रभावना करें।

5. तपस्वी-विविध प्रकार के तप में निपुण यथाशक्ति दुष्कर, कठिन तपश्चर्या करके प्रभावना करे।

6. विद्यावान्-रोहिणी, प्रज्ञप्ति, अदृष्ट, परशरीर प्रवेशिनी, गगनगामिनी आदि विद्याओं, मंत्रशक्ति, गुटिका, रससिद्धि इत्यादि अनेक विद्याओं में प्रवीण हो।

7. सिद्ध-अंजन, पादलेप आदि विविध प्रकार की सिद्धियों के ज्ञाता हो।

---

१. प्रवचन सारो. द्वार १४८ गा. ८३४

8. कवि-गद्य, पद्य, कथ्य, गेय इन चार प्रकार के काव्यों के रचयिता। अनेक प्रकार के छंद, कविता, ढाल, जोड़, स्तवन आदि उत्तम काव्यों का निर्माण करके, उसमें अनुभव रस द्वारा भरपूर गूढ़ार्थ संमिश्रण करके, आत्मज्ञान की शक्ति विकसित करके, धर्म की प्रभावना करें।

इस प्रकार ये उपाध्याय के प्रबल प्रभाव, तेजस्विता को उदीप्त करने वाली-आठ प्रभावनाएँ हैं।

इन पच्चीस गुणों के धारक उपाध्याय हैं। अथवा-11 अंग, 12 उपांग, 2 करण सित्तरी व चरण सित्तरी[1], इस प्रकार 11 + 12 + 2 = 25 गुणों के धारक उपाध्याय हैं।

उपाध्याय की अन्य विशेषताएँ

गणि-गच्छ-संधारणे स्थंभभूता[2]

उपाध्याय स्तंभरूप हैं, किससे? तो कथन है कि वे गणि अर्थात् आचार्य और गच्छ (समुदाय) को सम्यक् रूप से धारण करने में स्तंभ स्वरूप हैं।

आचार्य भी स्तंभरूप हैं, वे समग्र शासन की ईमारत के स्तंभ है। उनके सुदृढ़ स्कंधों पर तीर्थंकर भगवान के शासन का उत्तरदायित्व है। फलस्वरूप शासन अविच्छिन्न रूप से चलता है। इस अर्थ में आचार्य संघ के नेता हैं, उनकी आज्ञा में संघ का संचालन होता है।

इसी से गच्छ के लिए भी स्तंभ समान हैं, क्योंकि गच्छ को उपाध्याय के पास से शास्त्राध्ययन मिले तब ही स्वाध्याय, ज्ञान, ध्यान कर सकते हैं। अन्यथा अध्ययन के अभाव में स्वाध्याय कैसे हो?

साधु के जीवन में भी यदि स्वाध्याय का जोर न हो तो उनके जीवन में *मानसिक विचारों का झंझावात चल पड़ेगा, जिससे रागद्वेष, असमाधि, आर्त्तध्यान* आदि का पोषण होता रहेगा। जो कि जालिम कर्मबंध एवं दुर्गातियों में भटकाने वाला बन जावेगा। उपाध्याय गच्छ को स्वाध्याय एवं ज्ञान देकर भयंकर दुर्दशा एवं दुर्गति-पतन से संरक्षण करते हैं, बचा लेते हैं। इस प्रकार वे गच्छ के लिए एक जबरदस्त स्तंभ समान बनते हैं। गच्छ को स्तंभ के समान भली-भांति साधुता में स्थिर कर देते हैं।

---

१. जैन सिद्धान्त बोल संग्रह भाग ६ पृ. २१६

२. नवपदपूजा चौथा उपाध्याय पद

पाहण ने पल्लव आणे

उपाध्याय मूर्ख शिष्यों को भी विद्या के स्वामी बनाने में रत एवं प्रयत्नशील होते हैं। इस प्रक्रिया में उनके लिए उपमा दी गई है कि वे पाषाण-पत्थर पर पल्लव-अंकुर उगाने का कार्य करते हैं। पत्थर पर अंकुर उगाना अत्यन्त दुष्कर कार्य है, तद्भांति उपाध्याय प्रवर का यह ज्ञान-दान कार्य अत्यन्त दुष्कर है। उनमें (1) स्वाध्याय-मग्नता (2) सूत्रार्थदान-प्रवीणता (3) सूत्रार्थ-विचार रसिकता, होने से वे जगत्पूज्य बनते हैं।

बावना चन्दन रस सम वयणे अहित ताप सवि टाले

जीवों के समस्त अहित और समस्त ताप को उपाध्याय बावना चन्दन के रस सदृश वचन से शमन करते हैं। बावना चन्दन के रस की एक बूंद यदि तप्त लोहे के गोले पर पड़े तो वह लोहा एकदम शीतल हो जाता है, उसी प्रकार उपाध्याय के मुखरित वचनों से आत्मा की गरमी शांत हो जाती है अर्थात् आत्मा के अहित की, अकल्याण की जो गरमी है, ताप है वह शमन हो जाती है। उपाध्याय भगवंत के मुख से सूत्रार्थ-आगम के वचनों का पान करके श्रोता आत्मा के हित-अहित का ज्ञाता बनता है। रागद्वेष आदि कषाय के दुर्ध्यान से तथा असद् विकल्पों के ताप से जन्य आकुलता-व्याकुलता उपाध्याय प्रवर के वचन से शांत हो जाते हैं।

उपाध्याय-सूत्र सिद्धान्तों के पाठक

जैन संघ में आचार्य के पश्चात् दूसरा स्थान उपाध्याय का है। समस्त श्रुतज्ञान का अधिकारी, संयम-योग से अलंकृत, सूत्र और अर्थ दोनों का सम्यग्ज्ञाता, आचार्य पद भी योग्यता का धारक साधक उपाध्याय पद के योग्य होता है। वह श्रमणों को सूत्र की वाचना देते हैं। सूत्र-अर्थ के ज्ञाता-दर्शन-चारित्र की साधना में तत्पर शिष्यों को श्रुतसम्पन्न बनाने में कुशल उपाध्याय होते हैं।[1] आचार्य भद्रबाहू ने आवश्यक निर्युक्ति में उल्लेख किया है कि जिन भगवान द्वारा प्ररूपित बारह अंगों का जो उपदेश करते हैं, वे उपाध्याय है।[2] आचार्य हरिभद्र का[3] कथन है कि जिनके पास श्रमण सूत्रों का अध्ययन करते

---

१. व्यवहारभाष्य पृ. १३४

२. आव. नि. गा. ९९७

३. उपेत्य अधीयतेस्मात् साधवा सूत्रमित्युपाध्यायः आव. हारिभद्रीयावृत्ति पृ. ८८३

हैं, वे उपाध्याय हैं। आचार्य शीलांक ने आचारंगवृत्ति[1] में उपाध्याय को अध्यापक कहा है। इसी का कथन भगवती आराधना की विजयोदयावृत्ति[2] में किया है कि ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप रत्नत्रय की आराधना में स्वयं निपुण होकर दूसरों को आगमों का अध्ययन कराने वाले उपाध्याय है। जो कि श्रुतसागर के अवगाहन में सदा उपयोगपूर्वक ध्यान करते हैं।[3] स्पष्ट है कि उपाध्याय सूत्रों के पाठों का उच्चारण बहुत ही शुद्धतापूर्वक, स्पष्टता के साथ करते हैं।

स्पष्ट होता है कि आचार्य की भांति उपाध्याय का भी जैन परम्परा में अनूठा स्थान होता है। यद्यपि उनकी कक्षा आचार्य के तुल्य होती है। आचार्य की अनुपस्थिति में संघ का दायित्व भी वे वहन करते हैं। तथापि उनका कार्य मुख्यतः सूत्र सिद्धान्तों का पाठ देना है। वे ज्ञान दान में अग्रणी है। अतः उनको पाठक कहा गया है। परंपरा के प्रवहण में उनके सदृश अन्य कोई नहीं है। संघीय व्यवस्था की दृष्टि से उपाध्याय पद आचार्य के पश्चात्वर्ती है। परन्तु जो गौरव आचार्य को दिया जाता है, उसी गौरव को उपाध्याय भी प्राप्त करते हैं। जैसे आचार्य का उपाश्रय में प्रवेश करने पर चरण परिमार्जन का उल्लेख है वैसे ही उपाध्याय का भी है। इस प्रकार ज्ञान-विज्ञान का विस्तार करने वाले उपाध्याय का माहात्म्य अत्यधिक है। वे ज्ञान के अधिदेवता है। उपाध्याय संघरूपी नन्दवन के कुशलमाली है, जो ज्ञानरूपी वृक्ष को शस्य श्यामल बनाए रखते हैं। ज्ञान वृक्ष की शुद्धता-निर्दोषता और विकास का पूर्ण लक्ष्य रखने में तथा आगम पाठ को सुरक्षित रखने में उपाध्याय प्रवर का अपूर्व योगदान है।

इस अर्थ में वे सूत्र सिद्धान्तों के पाठक हैं। जैन परम्परा में इन सूत्रों एवं सिद्धान्तों को आगम कहा जाता है।

जैन साहित्य में आगम का अर्थ क्या है? आगम किसे कहा जाय? तथा इनकी संख्या कितनी है? संक्षेप में इसके स्वरूप का कथन किया जाएगा।

---

१. उपाध्याय अध्यापकः- आचा. शीलांक वृत्ति सूत्र २७९

२. रत्नत्रयेषूद्यता जिनागमार्थ सम्यगुपदिशंति ये ते उपाध्यायः । भग. आरा. वि. टीका ४६

३. वही

सूत्र-सिद्धान्त (आगम)

जिस प्रकार हिन्दु परम्परा में शास्त्रों को 'वेद', बौद्ध शास्त्रों को 'पिटक' कहा जाता है। उसी प्रकार जैन शास्त्रों को 'श्रुत', 'सूत्र', या आगम कहा जाता है। वर्तमान में आगम शब्द का प्रयोग विशेष प्रचलित है, किन्तु प्राचीनकाल में श्रुत का प्रयोग अधिक होता था।[१] श्रुतकेवली, श्रुतस्थविर,[२] शब्दों का प्रयोग आगमों में अनेक स्थलों पर हुआ है, किन्तु किसी भी स्थान पर आगम केवली या आगम स्थविर दृष्टिगत नहीं होता।

सूत्र, ग्रन्थ, सिद्धान्त, प्रवचन, आज्ञा, वचन, उपदेश, प्रज्ञापन आगम[३], आप्तवचन, ऐतिह्य, आम्नाय, जिनवचन[४] और श्रुत ये सभी आगम के पर्यायवाची नाम हैं। आगम शब्द की परिभाषा अनेकशः उपलब्ध होती है। जिससे वस्तुत्त्व (पदार्थ) का परिपूर्ण ज्ञान हो, वह आगम हैं।[५] अथवा 'जिससे पदार्थों का परिपूर्णता के साथ मर्यादितज्ञान हो वह आगम है।[६] अन्यत्र कहा है 'जो तत्त्व आचार परम्परा से वासित होकर जाता है वह आगम है'।[७] साथ ही 'आप्त वचन से उत्पन्न अर्थ (पदार्थ) ज्ञान आगम कहा जाता है। उपचार से आप्त वचन भी आगम कहा जाता है।'[८] 'आप्त का कथन आगम है।[९] जिसे सही शिक्षा प्राप्त होती है, विशेष ज्ञान उपलब्ध होता है वह शास्त्र आगम या श्रुतज्ञान कहलाता है।[१०] इस आप्तवचन या आप्त अनुस्यूत वांणी आगम संज्ञा से अभिहित की गई है। यह आगम समस्त श्रुत-शास्त्रों का परिचायक है।

आप्त कौन?

जिन आप्त पुरुष के वचन आगम या श्रुत कहलाते हैं, वे आप्त कौन है? तात्पर्य यह है कि आप्त किसे कहा जाय?

---

१. नंदी सूत्र १४९
२. स्थानांग १५०
३. अनुयोगद्वार ४, विशेषाव. भा. ८.१९७
४. तत्त्वार्थभाष्य १-२०
५. रत्नाकरावतारिका वृत्ति
६. आव. मलयगिरिवृत्ति ८९-९०, नंदीसूत्र वृत्ति ४०-४१
७. सिद्धसेनगणि कृत भाष्यानुसारिणी टीका पृ. ८७
८. स्याद्वाद मंजरी ३८ गा. टीका.
९. आप्तोपदेशः शब्दः- न्यायसूत्र १.१.७.
१०. विशेषा. भा. ५५९

जिन्होंने रागद्वेष को जीत लिया है, वह जिन, तीर्थंकर, सर्वज्ञ, भगवान्, आप्त हैं और उनका उपदेश एवं वाणी आगम हैं।[१] (उनमें वक्ता के साक्षात् दर्शन एवं वीतरागता के कारण दोष की संभावना नहीं होती और न पूर्वापर विरोध तथा युक्ति-बाध होता है।

आवश्यक निर्युक्ति में कथन है कि 'तप-नियम-ज्ञान रूप वृक्ष के ऊपर आरूढ़ होकर अनन्तज्ञानी केवली भगवान् भव्यात्माओं के विबोध के लिए ज्ञानकुसुमों की वृष्टि करते हैं। गणधर अपने बुद्धि पट में उन सकल कुसुमों को झेलकर प्रवचनमाला गूंथते हैं।[२]

इस प्रकार तीर्थङ्कर केवल अर्थरूप में उपदेश देते हैं और गणधर उसे ग्रन्थबद्ध या सूत्रबद्ध करते हैं।[३] इस प्रकार गणधर द्वादशांगी की रचना करते हैं। अंगबाह्य आगमों की रचना स्थविर, प्रत्येक बुद्धादि करते हैं।[४] इस प्रकार जिन आगमों का निर्माण करते हैं वे अंगप्रविष्ठ तथा अन्य, अतिरिक्त, शेष सभी रचनाएँ अंगबाह्य हैं।[५] अंगप्रविष्ठ तथा अंगबाह्य के अतिरिक्त 'पूर्व श्रुत' की रचना द्वादशांगी से भी पूर्व की गई है।

चौदह पूर्व

जैन वाङ्मय में ज्ञानियों की दो प्रकार की परम्पराएँ प्राप्त होती है। 1. पूर्वधर 2. द्वादशांग वेत्ता। पूर्वों में समग्र श्रुत या परिणेय समग्र ज्ञान का समावेश माना गया है। जैन आगमों का प्राचीनतम वर्गीकरण समवायांग में मिलता है। उसमें भी आगम साहित्य का पूर्व और अंग के रूप में विभाजन किया है। पूर्व संख्या की दृष्टि से चौदह थे[६] और अंग बारह।[७] आचार्य अभयदेवसूरि के अनुसार द्वादशांगी से प्रथम 'पूर्व' साहित्य निर्मित किया गया था। इसी से उसका नाम 'पूर्व' रखा गया।[८] किन्तु कुछ चिन्तक इसे पार्श्वनाथ तीर्थङ्कर की श्रुतराशि मान्य करते हैं। इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर से पूर्ववर्ती होने के कारण यह 'पूर्व' कहा गया।[९] अतः यहाँ इतना तो स्पष्टया कहा जा सकता है कि 'पूर्वों' की रचना द्वादशांगी से पहले हुई है।

---

१. अनुयोगद्वार सूत्र ४२., नंदी ४०-४१, बृहत्कल्पभाष्य गा. ८८
२. आव. नि. गा. ८९-१९०
३. आव. नि. गा. १९२, विशेषा. भा. ५५०, धवला भाग १.९.६४, ७२
४. विशेषाभा. ५५०, तत्त्वार्थ भा. १.२०, मूलाचार ५.८०, जयधवला पृ. १५३
५. आव. मलय. वृत्ति पत्र ४८ ६. सवायाङ्ग १४ समवाय ७. समवायांग-समवाय १३६
८. समवा. वृत्ति, पत्र १०१, नंदीसूत्र (विजयदानसूरि संशोधित चूर्णी पृ. १ ११ अ)
९. नंदी मलय, वृत्ति. पृ. २४०, षड्संडागम. प्र. १ पृ. ११४

वर्तमान में पूर्व द्वादशांगी से पृथक् नहीं मान्य किये जाते। दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग का ही एक विभाग पूर्व हैं। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने भाष्य में स्पष्ट रूप से कथन किया है कि "दृष्टिवाद में समस्त शब्द ज्ञान का अवतार हो जाता है तथापि ग्यारह अंगों की रचना अल्प मेघावी पुरुष और स्त्रियों के लिए की गई।[१] पूर्वों का अध्ययन प्रतिभा सम्पन्न करते थे तथा अंगों का अध्ययन तेजस्विता कम हो वे करते थे।[२]"

पूर्वों के अन्तर्गत विपुल साहित्य है। उसके अन्तर्वर्ती चौदह पूर्व हैं-

चौदहपूर्व[३]

1. **उत्पाद पूर्व**-समग्र द्रव्यों और पर्यायों के उत्पाद या उत्पत्ति को अधिकृत कर इसमें विश्लेषण किया गया है। इसका परिमाण एक करोड़ है।

2. **अग्रायणीय पूर्व**-अग्र तथा अयन शब्दों के मेल से अग्रायणीय शब्द निष्पन्न हुआ है। अग्र का अर्थ परिमाण और अयन का अर्थ गमन-परिच्छेद या विशदीकरण है। अर्थात् इस पूर्व में सब द्रव्यों, सब पर्यायों और सब जीवों के परिमाण का वर्णन है। पद-परिमाण छियानवें लाख है।

3. **वीर्यप्रवाद पूर्व**-सकर्म और अकर्म जीवों के वीर्य (पराक्रम, सामर्थ्य, अन्तरंग शक्ति) का विवेचन है। पद-परिमाण सत्तर लाख है।

4. **अस्ति-नास्तिप्रवाद पूर्व**-लोक में धर्मास्तिकाय आदि जो हैं और खर-विषाणआदि जो नहीं है, उनका इसमें विवेचन है अथवा सभी वस्तुएँ स्वरूप की अपेक्षा से हैं तथा पर रूप की अपेक्षा से नहीं है, यह विवेचन है। पद परिमाण साठ लाख है।

5. **ज्ञानप्रवाद पूर्व**-मति आदि पाँच प्रकार के ज्ञान का विस्तार-पूर्वक विश्लेषण है। पद परिमाण एक कम एक करोड़ है।

6. **सत्यप्रवाद पूर्व**-सत्य का अर्थ संयम का वचन है। उसका विस्तारपूर्वक सूक्ष्मता से विवेचन है। पद परिमाण छः अधिक एक करोड़ है।

7. **आत्मप्रवाद**-आत्मा या जीव का नय भेद से अनेक प्रकार से वर्णन है। पद परिमाण छब्बीस करोड़ है।

---

१. विशेषा भा. गा. ५५४

२. भगवती ११.११.४३२, २.१.९, १७.२.६१७, अंतगड ३ वर्ग अध्य. १, ९, ६ वर्ग अध्य. १५, वर्ग ८, अध्य १, ज्ञाता अध्य १२, २.१

३. जैनागम दिग्दर्शन पृ. २२

8. कर्मप्रवाद पूर्व-ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के कर्मों का प्रकृति स्थिति, अनुभाग, प्रदेश आदि भेदों की दृष्टि से विस्तृत वर्णन किया गया है। पद-परिमाण एक करोड़ छियासी हजार है।

9. प्रत्याख्यान पूर्व-भेद-प्रभेद सहित प्रत्याख्यान-त्याग का विवेचन है। पद-परिमाण चौरासी लाख है।

10. विद्यानुप्रवाद पूर्व-अनेक अतिशय-चमत्कार-युक्त विद्याओं का, उनके अनुरूप साधनों का तथा सिद्धियों का वर्णन है। पद-परिमाण एक करोड़ दस लाख है।

11. अवन्ध्य पूर्व-वन्ध्य शब्द का अर्थ निष्फल होता है। निष्फल न होना अवन्ध्य है। इसमें निष्फल न जाने वाले शुभ-फलात्मक ज्ञान, तप, संयम आदि का तथा अशुभ फलात्मक प्रमाद आदि का निरूपण है। पद-परिमाण छब्बीस करोड़ है।

12. प्राणायु-प्रवाद पूर्व-प्राण अर्थात् पाँच इन्द्रिय, मानस आदि तीन बल, उच्छवास-नि:श्वास तथा आयु का भेद प्रभेद सहित विश्लेषण है। पद-परिमाण एक करोड़ छप्पन लाख है।

13. क्रिया प्रवाद पूर्व-कायिक आदि क्रियाओं का, संयमात्मक क्रियाओं का तथा स्वच्छन्द क्रियाओं का विशाल, विपुल विवेचन है। पद-परिमाण नौ करोड़ है।

14. लोक बिन्दु पूर्व-लोक में या श्रुत लोक में अक्षर के ऊपर लगे बिन्दु की तरह जो सर्वोत्तम तथा सर्वाक्षर-सन्निपात लब्धि है, उस ज्ञान का वर्णन है। पद-परिमाण साढ़े बारह करोड़ है।

अङ्ग

जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों ही परम्पराओं में 'अङ्ग' शब्द व्यवहृत हुआ है। जैन परम्परा में उसका प्रयोग मुख्य आगम ग्रन्थ 'गणिपिटक' के अर्थ में हुआ है। आगम ग्रन्थों में 'दुवालसंगे गणिपिडगे' ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है।[१] अथवा आचार प्रभृति आगम श्रुत पुरुष के अंगस्थानीय होने से भी अंग कहलाते हैं।[२]

---

१. समवायांग-१३६ समवाय, प्रकीर्णक समवाय ८८

२. मूलाराधना-४.५९९ विजयोदया

वैदिक परम्परा में यह अंग शब्द वेद के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ किन्तु वेद के अध्ययन में जो सहायक ग्रन्थ हैं, उनको अंग कहा गया। ये अंग छः है-1. शिक्षा, 2. कल्प, 3. व्याकरण, 4. निरुक्त 5. छन्द 6. ज्योतिष।[१]

बौद्ध साहित्य के मूल ग्रन्थ त्रिपिटक है। उनके लिए अंग शब्द का प्रयोग न होकर बुद्ध के वचनों को नवांग और द्वादशांग कहा गया है।[२] ये नवांग इस प्रकार हैं-1. सुत्त 2. गेय 3. वैयाकरण 4. गाथा 5. उदान 6. इतिवुत्तक 7. जातक 8. अब्भुतधम्म 9. वेदल्ल। द्वादशांग इस प्रकार है-1. सूत्र 2. गेय 3. व्याकरण 4. गाथा 5. उदान 6. अवदान 7. इतिवुत्तक 8. निदान 9. वैपुल्य 10. जातक 11 उपदेश धर्म 12 अद्‌भुत धर्म

जैन परम्परा में द्वादशांग गणिपटक इस प्रकार हैं-

1. आचार 2. सूत्रकृत् 3. स्थान 4. समवाय 5. भगवती 6. ज्ञाताधर्म कथा 7. उपासक दशा 8. अन्तकृतदशा 9. अनुत्तरौपपातिक 10. प्रश्नव्याकरण 11. विपाक 12. दृष्टिवाद। ये बारह अंग है।

समवायांग और अनुयोगद्वार में तो केवल द्वादशांगी का ही निरुपण किया गया है, किन्तु नंदीसूत्र में अंगप्रविष्ट, अंगबाह्य इन भेदों के साथ अंगबाह्य के आवश्यक, आवश्यक व्यतिरिक्त, कालिक और उत्कालिक रूप में आगम की सम्पूर्ण शाखाओं का परिचय दिया गया है।

अंग्र प्रविष्ट और अंगबाह्य

देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने आगमों को दे भागों में विभक्त किया 1. अंग प्रविष्ट 2. अंग बाह्य।[३]

अंग प्रविष्ट श्रुत के तीन हेतु बताए गये हैं-

1. जो गणधरों के द्वारा सूत्र रूप से बनाया होता है।
2. जो गणधर के द्वारा प्रश्न करने पर तीर्थङ्कर के द्वारा प्रतिपादित होता है।
3. जो शाश्वत सत्यों से सम्बन्धित होने के कारण ध्रुव एवं सुदीर्घकालीन होता है।[४]

---

१. पाणिनीयशिक्षा ४१-१२
२. अभिसमयालंकार टीका पृ. ३
३. नंदीसूत्र ५६
४. विशेषावश्यक भा. ५५२

समवायांग[1] एवं नंदीसूत्र[2] में उसका स्पष्ट उल्लेख है कि 'द्वादशांगभूत गणिपिटक कभी नहीं था, ऐसा नहीं है, कभी नहीं है और कभी नहीं होगा, यह भी नहीं। वह था, है और होगा। वह ध्रुव है, नियत है, शाश्वत है, अक्षय है, अव्यय है, अवस्थित है नित्य है।'

अंगबाह्य श्रुत वह होता है-

1. जो स्थविर कृत होता है

2. जो बिना प्रश्न किये तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित होता है। वक्ता के भेद की दृष्टि से भी अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य ये दो भेद किये गये है।[3] जिन आगम के मूलवक्ता तीर्थंकर हो और संकलनकर्ता गणधर हों, वह अंगप्रविष्ट है। पूज्यपाद ने वक्ता के तीन प्रकार बताए हैं-(1) तीर्थंकर (2) श्रुतकेवली (3) आरातीय।[4] आचार्य अकलंक ने कहा हैं कि आरातीय आचार्यों के द्वारा निर्मित आगम अंग प्रतिपादित अर्थ के निकट या अनुकूल होने के कारण अंगबाह्य कहलाते हैं।[5]

आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यक भाष्य में अंग अर्थात् अंगप्रविष्ट तथा अनंग अर्थात् अंगबाह्य का विश्लेषण करते हुए लिखा है- ''गणधरकृत व स्थविरकृत, आदेशसृष्ट (अर्थात् तीर्थङ्कर प्ररूपित त्रिपदी जनित) व उन्मुक्त व्याकरण प्रसूत (अर्थात् विश्लेषण-प्रतिपादनजनित) ध्रुव, नियत व चल-अनियत, इन द्विविध विशेषताओं से युक्त वाङ्मय अंगप्रविष्ट तथा अंगबाह्य नाम से अभिड़ित है।[6]'' इससे तात्पर्य यह है कि गणधरकृत, आदेशजनित तथा ध्रुव; ये विशेषण अंगप्रविष्ट से सम्बद्ध हैं, तथा स्थविरकृत, उन्मुक्त व्याकरण प्रसूत और चल ये विशेषण अंगबाह्य के लिए हैं।

अंगबाह्य श्रुत दो प्रकार का है[7]- (1) सामायिक आदि छः प्रकार का आवश्यक्र (2) तद्व्यतिरिक्त। आवश्यक-व्यतिरिक्त श्रुत भी दो प्रकारका है- (1) कालिक (2) उत्कालिक।

---

१. समवायांग सम. १४८
२. नंदीसूत्र ५७
३. तत्त्वार्थभाष्य १.२०
४. सर्वार्थ सिद्धि १.२०
५. रजवार्तिक १.२०
६. विशेषावश्यकभा. गा. ५५०
७. नंदीसूत्र ५७

1. कालिक-जो श्रुत रात तथा दिवस के प्रथम प्रहर तथा अंतिम प्रहर में ही पढ़ा जाता है वह कालिक श्रुत है।

2. उत्कालिक-जो काल वेला को वर्जित कर सब समय में पढ़ा जा सकता है, वह उत्कालिक श्रुत है: कालवेला = सन्धि समय।

इन सभी आगमों को अनुयोगों के अनुसार चार भागों में भी विभक्त किया गया है[१] -

(1) चरण-करणानुयोग-कालिक श्रुत, महाकल्प, छेद सूत्र आदि

(2) धर्मकथानुयोग-ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन आदि

(3) गणितानुयोग-सूर्यप्रज्ञप्ति आदि

(4) द्रव्यानुयोग-दृष्टिवाद आदि

अंग आगम

श्रमण भगवान महावीर के पंचम गणधर सुधर्मा स्वामी ने जो द्वादशांगी रची, उसके ग्यारह अंग ही शेष रहे हैं, उनको अनुलक्ष करके कालान्तर में स्थविरों एवं गीतार्थ आचार्यों द्वारा अन्य आगमों की रचना की गई। इस प्रकार आज 11 अंग, 12 उपांग, 4 मूलसूत्र, 6 छेदसूत्र, 10 प्रकीर्णक, 2 चूलिका रूप पैंतालीस आगम स्वीकार्य है।[२]

11 उपांग-1. ओववाईय 2. रायपसेणिय 3. जीवाभिगम 4. पण्णवणा 5. सूरपण्णत्ति 6. चन्दपण्णत्ति 7. जंबुद्दीवपण्णत्ति 8. निरयावलिया 9. कप्पवडिंसिया 10. पुप्फिया 11. पुप्फचूलिया 12. वण्हिदसा।

4. मूल-1. आवस्सय 2. उत्तरज्झयण 3. दसवेयालिय 4. ओहनिज्जुत्ति अथवा पिंडनिज्जुत्ति अथवा पक्खियसुत्त।

6. छेद-निसीह, कप्प, ववहार महानिसीह, दसा, जीतकल्प

10 प्रकीर्णक- 1. देविंदथय 2. तंदुलवेयालिय 3. गणिविज्जा 4. आउरपच्चक्खाण 5. महापच्चक्खाण 6 गच्छाचार 7. भत्तपरिण्णा 8. मरणसमाहि 9. संथारग 10. चउसरण।

2. चूलिका-1. नंदी 2. अणुओगदार

---

१. आव. निर्युक्ति ३६३-३७७, विशेषा. भा. २२८४-२२९५, दशवैका. निर्युक्ति, ३. टीका

२. पिस्तालीस आगमो-कापडिया हीरालाल पृ. २

एकादश अंग[1]

1. आयार (आचार)-आयार आगम के अनेक नाम हैं-वेद, आकर, आश्वास, आदर्श, आचीर्ण, आमोक्ष आदि। यह आगम दो विभागों में विभक्त है। जिसे 'श्रुतस्कंध' कहा जाता है। उसके पेटाविभाग को अध्ययन कहा जाता है। अध्ययन में उद्देशक और उद्देशक में सूत्र हैं। प्रथम श्रुतस्कंध का नाम 'ब्रह्मचर्य' और दूसरे का नाम 'आचाराग्र' है। प्रथम श्रुतस्कंध के नौ अध्ययन है। उसका सातवाँ अध्ययन का विच्छेद हो गया। दूसरे श्रुतस्कंध में पहले पाँच चूलाएँ थीं किन्तु पाँचवीचूला ने बाद में पृथक् स्थान ले लिया। अत: अब चार चूला के क्रमश: 7, 7, 1, 1 इस प्रकार सोलह अध्ययन हैं।

2. सूयगड (सूत्रकृत)-आचारांग की भांति इसके भी अन्य नाम हैं-सूतगड और सूत्तकड आदि। इस अंग के भी दो श्रुततस्कंध हैं। पहले के सोलह और दूसरे के सात अध्ययन हैं। प्रथम श्रुतस्कंध को 'गाथाषोडशक' कहते हैं।

3. ठाण (स्थान)-यह आगम दस विभाग में विभक्त है। इस दसों को स्थान एवं अध्ययन भी कहते हैं। कितने स्थानों में उद्देशक भी हैं।

4. समवाय-अधिकांशत: गद्यात्मक इस आगम का नाम प्राकृत और संस्कृत दोनों में ही 'समवाय' है। इसे 'समाय' भी कहते हैं। ठाणं में एक से दस तक संख्यात्मक विवरण है, तो इस आगम में संख्यावाले पदार्थ निरूपण से प्रारम्भ होकर हजार, लाख, करोड़, कोटाकोटि, सागरोपम की संख्यावाले पदार्थों का उल्लेख है।

5. विवाह पण्णत्ति (व्याख्या प्रज्ञप्ति)-इस पंचम अंग के प्राकृत नाम के संस्कृत में विविध समीकरण है। जैसे कि विवाहप्रज्ञप्ति, विवाध प्रज्ञप्ति आदि। बृहद्काय होने से एवं महान् होने से इसे भगवती भी कहा जाता है। इस आगम में 41 शतक हैं, जिसमें उद्देशक भी हैं। सौ से अधिक अध्ययन, 1000 उद्देशक, 36000 व्याकरण (प्रश्न) एवं 84000 पद इसमें थे। किन्तु आज वह दृष्टिगत नहीं होता। इस आगम में प्रश्नोत्तर के माध्यम से प्रतिपाद्य का विश्लेषण किया गया है, जिसमें विविध विषयों को समाविष्ट किया है।

6. नायाधम्मकहा-(ज्ञाताधर्मकथा)-'धर्मकथा' नाम इस आगम में दो श्रुतस्कंध है। पहले का नाम 'नाय' (ज्ञात) और दूसरे का 'धम्मकहा'-धर्मकथा है। पहले

---

१. पिस्तालीस आगमो-पृ. ५-२०

श्रुतस्कंध के 19 अध्ययन है तथा दूसरे में 10 वर्ग हैं, जिसमें 216 अध्ययन हैं। इसे ज्ञातृधर्मकथा भी कहते हैं।

7. उवासगदसा (उपासकदशा)-धर्मकथा अनुयोग से विभूषित इस आगम में दस अध्ययन हैं। इसमें 59 सूत्र हैं। महावीर स्वामी के प्रमुख दस श्रावकों का इसमें विवेचन है।

8. अंतगडदसा (अंतकृद्दशा)-यह आगम आठ वर्ग में विभक्त है। जिसमें 92 उद्देशक हैं। यहाँ उद्देशक का अर्थ अध्ययन है। इसमें अन्तसमय में केवलज्ञान प्राप्त कर अंतर्मुहूर्त में मोक्ष गए हैं, उनके उदात्त चरित्रों का वर्णन है।

9. अणुत्तरोववाईयदसा (अनुत्तरौपपातिकदशा)-यह आगम तीन वर्ग में विभक्त है। इसमें अनुक्रम से दस, तेरह और दस इस प्रकार 33 अध्ययन हैं।

10. पण्हावागरण (प्रश्नव्याकरण)-इस आगम में दो विभाग है। जिसे द्वार कहा गया है। पहले का नाम 'आस्रवद्वार' और दूसरे का नाम 'संवरद्वार' है। इसमें प्रत्येक के पाँच-पाँच अध्ययन है।

11. विवागसुय (विपाकश्रुत)-धर्मकथा अनुयोग से निरूपति इस आगम के दो श्रुतस्कंध है। पहले का नाम 'दुःख-विपाक' और दूसरे का सुख-विपाक है। प्रत्येक विभाग में दस-दश अध्ययन है।

इस प्रकार ये ग्यारह अंग है।

बारह उपांग[१]

1. ओववाइय (औपपातिक)-

इस आगम को उववाइय और ओवाइय भी कहा जाता है। आचारगत 'उववाईय' को लक्ष्य करके इसकी रचना हुई है, ऐसा माना जाता है। यह आचारांग का उपांग है। गद्य एवं पद्य में इसकी रचना है। सू 1-37 जितने भाग को पूर्वार्द्ध और शेष भाग को उत्तरार्द्ध गिना जाता है। इस आगम का हेत उपपात एवं मोक्षगमन है।

2. रायपसेणिय (राजप्रश्नीय)-

यह आगम सूयगडांग सूत्र को लक्षित करके लिखा जाने से यह सूयगड का उपांग माना जाता है। रायपसेणईय, रायप्पसेणईय, रायप्पसेणिय, रायप्पसेणईज्ज ये

---

१. पिस्तालीस आगमो पृ. २१-३२

इसके प्राकृत नामांतर है। राजप्रेसनकीय, राजप्रेसनजित और राजप्रश्नकृत ये संस्कृत नामांतर है। यह आगम गद्य में रचित है।

3. जीवाभिगम-

इस आगम के संस्कृत में जीवाजीवाभिगम अन्य नाम भी है। इस आगम के नव विभाग है, जिन्हें 'प्रतिपत्ति' कहते हैं। तीसरी प्रतिपत्ति के दो उद्देशक हैं।

4. पण्णवणा (प्रज्ञापना)

समवायांग के उपांग रूप से ज्ञात इस उपांग में छत्तीस विभाग हैं, जिन्हें पद कहा गया है। कितनेक पदों में उद्देश्य भी है। मंगलाचरण के पंचम पद में इस उपांग को अध्ययन कहकर इसका चित्र, श्रुतरत्न और दृष्टिवाद के सार रूप में निर्देशित किया है। यह समस्त उपांगों में वृद्धकाय है। भगवती की भांति इसकी शैली भी प्रश्नोत्तर रूप से विवक्षित है।

5. सूरपण्णत्ति (सूर्यप्रज्ञप्ति)

इसे 'सूरियपण्णत्ति' भी कहा गया है। यह विवाहपण्णत्ति अर्थात् भगवती का उपांग है। नंदीसूत्र में उत्कालिक के रूप में तथा पाक्षिकसूत्र में कालिक के रूप उल्लिखित इस उपांग में बीस विभाग हैं, जिन्हें प्राभृत कहा गया है। जो कि पूर्व के विभागों के नाम भी है। प्राभृत के अवान्तर विभाग को प्राभृत और प्राभृतप्राभृत के भाग को प्रतिपत्ति कहा गया है। इसमें गणित-अनुयोग का निरूपण है।

6. जंबुद्वीवपण्णत्ति (जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति)-

नायाधम्मकहा और मतान्तर से उवासगदसा अंग का यह उपांग माना जाता है। इसमें सात वक्षस्कार है। इसमें जैन भूगोल पर विशेष रूप से विवेचन किया गया है।

7. चन्दपण्णत्ति

इसे उवासगदसा का उपांग कहा गया है। इस उपांग का विषय भी खगोल है। यह सूरपण्णति से बहुत साम्य रखता है।

8. निरयावलिया (निरयावलिका)-

निरय अर्थात् नरक के जीव और आवली अर्थात् श्रेणी। नारकों की श्रेणी के वर्णन स्वरूप इस ग्रन्थ को निरयावलिया सुयक्खंध (निरयावलिका श्रुतस्कंध) भी कहते हैं। अंतगडदसा का उपांग इसे मान्य किया है। इसे 'कप्पिया' (सं.

कल्पिता) भी कहते हैं। इसके पाँच वर्ग गिने जाते हैं-1, निरयावलिया 2. कप्पवडिंसिया 3. पुप्फिया 4. पुप्फचूलिया 5. वण्हिदसा। इसके दस अध्ययन है।

9. कप्पवडिंसिया (कल्पावतंसिका)-

अणुत्तरोववाइयदसा के उपांग रूप में निर्देशित इस आगम के दस अध्ययन हैं। सौधर्मादि कल्प (स्वर्ग) में जो उत्पन्न होकर मोक्षगामी होंगे, उनका अधिकार वर्णित किया है।

10. पुप्फिया (पुष्पिता)

यह पण्हावागरण का उपांग माना जाता है। इसमें भी अध्ययन हैं। गद्यमय इसकी रचना है।

11. पुप्फचूलिया (पुष्पचूलिका)

दस अध्ययनों में विभक्त यह आगम विवागसुय का उपांग माना गया है। यह उपांग गद्यात्मक शैली में निबद्ध है।

12. वण्हिदसा (वृष्णिदसा)

इसका अन्य नाम 'अंधगवण्हिदसा' भी है। यह दिट्ठीवाय का उपांग माना जाता है। यह बारह अध्ययनों में विभक्त है। सर्वांश गद्य में रचित है।

इस प्रकार ये 12 उपांग भी आगम में स्थान प्राप्त किये हुए हैं। इनका परिमाण निम्न प्रकार से है-

उपांगों को परिमाण

इन बारह उपांगो का परिमाण क्रमशः निम्न प्रकार से है-1600, 2100, 4700, 7787, 2296, 4454, 2200, 1100 (पाँच उपांग का सम्मिलित परिमाण)

इस प्रकार बारह उपांगों का परिमाण कुल 26237 श्लोक हैं।

4. मूल सूत्र[१]

1. आवस्सय (आवश्यक)

अंगबाह्य सूत्रों में प्रधान यह आगम 130 श्लोक प्रमाण है। यह 6 अध्ययनों में विभक्त है। अवश्य करने योग्य होने से आवश्यक संज्ञा प्राप्त है। 1. सामायिक 2. चतुर्विंशतिस्तव 3. वंदनक 4. प्रतिक्रमण 5. कायोत्सर्ग 6. प्रत्याख्यान, ये 6

---

१. पिस्तालीस आगमो पृ. ३३-४१

अध्ययन है। इसके कर्ता चरम तीर्थंकर भगवान महावीर के समकालीन श्रुतस्थविर हैं। ये श्रुतस्थविर गणधर ही हैं या अन्य, यह विवादास्पद विषय रहा है।

2. उत्तरज्झयण (उत्तराध्ययन)

इस आगम के उत्तरज्झ और उत्तराध्याय इस प्रकार अनुक्रम से प्राकृत और संस्कृत नामांतर हैं। मुख्यतः पद्यात्मक रचित यह आगम 2000 श्लोक प्रमाण है। 36 अध्ययनों में विभक्त है। यह अनुश्रूति है कि भगवान् महावीर ने निर्वाण समय में सोलप्रहर देशना दी थी, उस समय ये 36 अध्ययन उच्चरित किये थे।

3. दसवेयालिय (दशवैकालिक)

'दसकालिय' इस प्रकार के नामांतर वाले एवं 835 श्लोक प्रमाण स्वरूप वाले इस आगम में 10 अध्ययन हैं। पाँचवें अध्ययन के 2 एवं नवम अध्ययन के चार उद्देशक हैं। इस आगम की संकलना महावीर भगवान के चतुर्थ पट्टधर आचार्य शय्यंभव सूरी ने की है। अपने बालदीक्षित पुत्र मनक के लिए इसकी रचना वीर संवत् 72 अर्थात् 455 ई. पू. विकाल के समय की गई थी। चौदह पूर्वों में से उद्धत करके, मतांतरे गणिपिटक में से निर्यूहण करके इसकी रचना की गई है।

4. ओहनिज्जुत्ति (ओघनिर्युक्ति)

'चरणकरण' अनुयोग के निरूपण रूप इस आगम की 811 पद्य की 1355 श्लोक मय रचना है। इसे आवस्सय-निज्जुत्ति की 665 वीं गाथा की प्रशाखा मानी गई है। इस आगम के कर्त्ता श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी है। इसका निर्यूहण प्रत्याख्यान प्रवाद नामक पूर्व में से किया गया है। इस प्रकार यह मौलिक ग्रन्थ नहीं अपितु विशिष्ट प्रकार की संकलना है।

5. पिण्डनिज्जुत्ति (पिण्डनिर्युक्ति)

दसवेयालिय के 'पिण्डेसणा' (पिण्डेषणा) नामक पंचम अध्ययन पर निर्युक्ति रचते समय यह विस्तृत हो जाने से इसकी पृथक् आगम में गणना होने लगी। इस प्रकार यह दसवेयालिय निर्युक्ति की प्रशाखा है। इसमें 671 गाथाएँ है, जिसका प्रमाण 835 श्लोक तुल्य है। इसके कर्त्ता श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी है।

इस प्रकार मूलसूत्रों में प्रथम चार सूत्रों का प्रमाण 130 + 2000 + 835 + 835 + = 3800 श्लोक होता है।

छः छेदसूत्र[1]

(1) निसीह (निशीथ)

821 श्लोक प्रमाण आचार की पाँचवीं चूला रूप में निर्देशित इस गद्यात्मक आगम का दूसरा नाम 'आचार प्रकल्प' है। इसके बीस उद्देशक है। 'पंचकप्पभास' नामक पूर्व में से इस आगम का निर्यूहण भी भद्रबाहूस्वामी ने किया है। अन्यमत से इसके कर्ता गणधर हैं। इसके अन्तिम उद्देशक में व्यवहार के बृहद् भाग को स्थान दिया गया है। साथ ही निशीथ के कितनेक सूत्र आचार की पहली दो चूलाओं से साम्य रखते हैं।

(2) दसा (दशा)

इस आगम के साथ 'सुयक्खंध' संलग्न करके भी इसका व्यवहार किया जाता है और 'आचारदसा' भी कहा जाता है। इसके अतिरिक्त इस आगम को 'दसासुय' भी कहते हैं। इसमें दस अध्ययन हैं, जिसमें आठवें और दसवें अध्ययन को व अन्य सर्व को दशा के रूप में उल्लेख किया है। इसका अष्टम अध्ययन जो कि 'पज्जोसवणा कप्प' है जिसे कल्पसूत्र एवं बारसासूत्र भी कहा जाता है। इस आगम के कर्त्ता भी श्रुतकेवली भद्रबाहूस्वामी है।

(3) कप्प (कल्प)

इसके कल्पाध्ययन, बृहत्कल्प, बृहत्साधुकल्प एवं वेदकल्पसूत्र अन्य नामांतर भी है। इसमें छः उदेशक भी है। इसके प्रणेता भी श्रुतकेवली भद्रबाहू स्वामी है। यह प्रायश्चित सूत्र है। इसका प्रमाण 400 से 413 श्लोक जितना है।

(4) व्यवहार (व्यवहार)

373 श्लोक प्रमाण इस आगम के 10 उद्देशक हैं। इसके प्रणेता भी भद्रबाहू स्वामी है।

(5) जीतकप्प (जीतकल्प)

जीत अर्थात् आचार। 103 गाथा और लगभग 200 श्लोक प्रमाण इस लघुकृति में आलोचनादि दस प्रकारों का वर्णन है। इसके कर्त्ता जिन भद्रगणि क्षमा श्रमण है, जो कि हरिभद्रसूरि के पूर्ववर्ती है।

---

१. पिस्तालीस आगमो पृ. ४२-४८

(6) महानिसीह (महानिशीथ)

इसका प्रमाण 4548 श्लोक है। इसमें प्रारम्भ में तीन विभागों का सूचन किया गया है। किन्तु इसके आठ विभाग दृष्टिगत हैं। जिसमें पहले 6 का अध्ययन अन्तिम दो का चूला रूप में उल्लेख है। पंचमंगलमहासुयक्खंध (नमस्कार मंत्र) की स्थापना इसमें की गई है। कहा जाता है कि इस की रचना गणधर ने की है। इसका उद्धार हरिभद्रसूरि ने किया है।

इस प्रकार इन छः छेदसूत्रों का कुल परिमाण 821 + 2106 + 473 + 373 + 200 + 4548 = 8521 श्लोक है।

10 प्रकीर्णक[1]

(1) देविंदथय (देवेन्द्रस्तव)

307 गाथा में रचित इस प्रकीर्णक में इन्द्रों के विषय में विशेष चर्चा है। इसके कर्ता कोई ऋषिपाल हो ऐसा 305-306 वीं गाथा से विदित होता है। ये 'ब्रह्मद्वीप' शाखा के हैं, ऐसा कईयो का कहना है।

(2) तंदुलवेयालिय (तंदुलवैचारिक)

इस नाम की योजना-100 वर्ष की आयुष्य वाला पुरुष रोज तंदुल (चावल) खावे और उसकी जो संख्या हो, इस विचारणा के उपलक्षण से उसकी नाम योजना हुई हो, ऐसा कहा जाता है। यह अज्ञातकर्तृक है।

(3) गणिविज्जा (गणिविद्या)

82 पद्यों में रचित इस आगम में ज्योतिष का विचार किया गया है। यह भी अज्ञातकर्तृक है।

(4) आउरपच्चक्खाण (आतुरप्रत्याख्यान)

इसके कर्त्ता वीरभद्र हैं। यह मुख्यतया पद्य में रचित है। 100 श्लोक जितने प्रमाण में इसकी रचना है।

(5) महापच्चक्खाण (महाप्रत्याख्यान)

142 श्लोक में इसकी रचना की गई है। यह अज्ञातकर्तृक है।

(6) गच्छाचार (गच्छाचार)

गच्छ समुदाय। गच्छ का वर्णन इसमें किया गयाहै। इस आगम का उद्धार

---

१. *पिस्तालीस आगमों* पृ. ४९-५६९

महानिसीह, कप्प और व्यवहार में से किया गया है। अतः इसका समय वीर संवत् 170 के पश्चात् है। 175 श्लोक प्रमाण यह कृति अज्ञातकर्तृक है।

(7) भत्तपरिण्णा (भक्तपरिज्ञा)

172 पद्यों में रचित इसके कर्त्ता वीरभद्र हैं। इसका प्रमाण 215 श्लोक है।

(8) मरणसमाहि (मरणसमाधि)

इस प्रकीर्णक को मरणविभत्ति (मरणविभक्ति), मरणविहि (मरणविधि), मरणविहिसंगह (मरणविधि संग्रह) तथा मरणसमायारी (मरणसमाचारी) भी कहते हैं। 83 श्लोक प्रमाण यह प्रकीर्णक दस प्रकीर्णकों में, सबसे विस्तृत है। इसकी रचना आठ श्रुतों के आधर पर हुई हैं- 1. आउरपच्चक्खाण, 2. आराहणा (पइण्णग), 3. भत्तपरिण्णा 4. मरणविभत्ति 5. मरणविसोहि 6. मरणसमाहि 7. महापच्चक्खाण 8. संलेहणासुय। यह भी अज्ञातकर्तृक है।

(9) संथारग (संस्तारक)

123 पद्यों में गुंफित और 155 श्लोक प्रमाणित यह अज्ञातकर्तृक कृति है। इसमें अन्तकाल की आराधना रूप संस्तारक की महिमा वर्णित है।

(10) चउसरण (चतुःशरण)

63 पद्यों में रचित इस कृति को 'कुसला-णुबंधिअज्झयण(कुसलानुबंध्यध्ययन) भी कहते है। इसके कर्त्ता वीरभद्र है।'

इस प्रकार इन दस प्रकीर्णकों में से 6 तो समाधिमरण से संबंधित है। वैसे प्रकीर्णकों की संख्या तो अधिक है परन्तु 45 आगमों में इन दस का समावेश हुआ है। 315 + 500 + 105 + 100 +176 + 175 + 215 +837 + 155 + 80 = 2718 श्लोक इस प्रकीर्णकों का प्रमाण है।

2. चूलिका[1]

1. नंदी

इसे कितनेक विद्वान नंदी भी कहते हैं। कोई इसकी 'नान्दी' का प्राकृत समीकरण होने की कल्पना करते हैं। द्रव्यानुयोग के निरूपण स्वरूप इस आगम में 59 सूत्र और 90 पद्य है। प्रारम्भ में 47 जितने पद्य स्थविरावली रूप हैं। प्रारम्भ

---

१. पिस्तालीस आगमो पृ. ५७-६१

में महावीरस्वामी की स्तुति है। इसमें आगमों का वर्गीकरण किया गया है। एवं अंगबाह्य, अंगप्रविष्ट, कालिक, उत्कालिक सूत्रों को प्रस्तुत किया है।

इसके कर्ता दूष्यगणि के शिष्य देववाचक हैं। इन्हें कितनेक देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण स्वीकार करते हैं। जो कि उचित नहीं लगती। इसकी रचना की पूर्व सीमा ईस्वी. सन् की तीसरी शताब्दी और उत्तरसीमा पाँचवीं शताब्दी मानी गई है।

2. अणुओगदार (अनुयोगद्वार)

लगभग 2000 श्लोक प्रमाण और प्रश्नोत्तर शैली में मुख्यतया 152 गद्यमय सूत्रों में रचित इस आगम में द्रव्यानुयोग का विवरण है। अनुयोग के चार द्वार- उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय पर प्रकाश डालता है। इसके कर्त्ता कितनेक के मत में आर्यरक्षित सूरी स्वीकार किये गये हैं। इस प्रकार इसकी रचना ई. स. दूसरी शताब्दी मानी जा सकती है।

इन चूलिका सूत्रों का प्रमाण 700 + 2000 = 2700 श्लोक का है। इन 45 आगमों का कुल प्रमाण 80122 श्लोक हैं।

इन आगमों का अध्यापन/पाठन उपाध्याय प्रवर करवा कर, शिष्य परम्परा में ज्ञानार्जन कराते हैं। ज्ञानाञ्जन करके सत्य तथ्य का ज्ञान करवा कर मुक्ति पथ पर आरूढ़ करते हैं।

बौद्ध परम्परा में उपाध्याय पद

जैन परम्परा की भांति बौद्ध परम्परा में भी उपाध्याय पद का निरूपण किया गया है। यहाँ पर उपाध्याय पद आचार्य पद की भांति प्रथमतः नहीं था, किन्तु शिष्य समुदाय में अनुशासनहीनता तथा अव्यवस्था के फलस्वरूप बुद्ध ने उपाध्याय बनाने की अनुमति प्रदान की। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि बुद्ध ने तो मात्र अनुमति ही प्रदान की है। उपाध्याय का चयन स्वयं शिष्यों को ही करना पड़ता था। किन्तु उपाध्याय पद का अधिकारी वही हो सकता था, जो भिक्षु संघ में दस वर्ष से हो एवं शिष्यों की देखभाल का निर्वहन कर सकता हो। उपाध्याय में शिष्यों पर अनुशासन व व्यवस्था रखने की शक्ति होनी चाहिए।[1]

उपाध्याय को शिष्य को पुत्रवत् तथा शिष्य को भी उपाध्याय को पितृतुल्य गिनना चाहिए। उपाध्याय शिष्य को पाठ देते, धार्मिक प्रश्नों के जवाब देते,

१. उवज्झायवत्तकथा, महावग्ग (विनयपिटक) पृ. ४२-४७, चुल्लवग्ग पृ. ३२८-३३२

उपदेश देते तथा रीति रिवाजों से उनको अवगत कराते। वे शिष्य को पात्र, चीवर एवं आवश्यक वस्तुओं की व्यवस्था कराते हैं।

शिष्य उपाध्याय की सेवा-सुश्रुषा करता। उनका विनय करता एवं आज्ञांकित रहकर उनके प्रत्येक कार्य को करने में सहायक होता। उनके आवास, भोजन, स्नान, आवागमन आदि में सहयोग देता, साधन जुटाता तथा स्वच्छता रखता। यदि उपाध्याय रोग से आक्रांत हो जाते, तो शिष्य पूर्वरूपेण सेवा में तत्पर हो जाता। यदि आजीवन सेवा करनी पड़ती, तो भी वह सेवा करके कर्त्तव्य निभाता। और यदि शिष्य रोगाक्रांत हो जाता तो उपाध्याय भी शिष्य की भांति स्वयं शिष्य की सेवा चाकरी करके उसके आरोग्य के साधन जुटाते।

यदि शिष्य के मन में उदासी हो, शंका हो या भ्रमणा हो जाये तो उपाध्याय उसे निवारण करके समाधान करते। इसी प्रकार यदि उपाध्याय के मन में उदासी, शंका, या भ्रमणा हो जाती तो शिष्य उसका निवारण करने में तत्पर रहता।

अपराध किये जाने पर उपाध्याय का यह कर्त्तव्य होता, कि वे संघ के समक्ष उसके अपराध की क्षमा दिलाते अथवा उसे अल्पदण्ड मिले, ऐसा प्रयास करते। इसी प्रकार यदि उपाध्याय से अपराध हो जाता हो शिष्य भी इसी भांति प्रयत्नशील होता था।[१]

इस प्रकार उपाध्याय के शिष्य के प्रति तथा शिष्यों को उपाध्याय के प्रति कर्त्तव्य एवं धर्म थे। जिस प्रकार आचार्य पद का निरूपण है, उसी के समान उपाध्याय पद का भी उल्लेख किया गया है। उसमें तनिक भी अन्तर नहीं है। जैन दर्शन में उपाध्याय का कर्त्तव्य पठन-पाठन एवं विनयगुण का विकास है वहाँ बौद्ध दर्शन में शिष्य की सम्पूर्णतया जिम्मेदारी उपाध्याय पर है। वहाँ आचार्य की अनुपस्थिति में उपाध्याय को संघ नेतृत्व भी संभालना पड़ता है जबकि यहाँ उपाध्याय की अनुपस्थिति में आचार्य का चयन होता है।[२]

इस प्रकार बौद्ध परम्परा में उपाध्याय पद का वर्णन उपलब्ध होता है।

---

१. वही

२. वही.

अध्याय-7

साधुपद

पंच परमेष्ठी का पंचम पद : साधु

श्रमण एवं ब्राह्मण परंपरा के तुलनात्मक दृष्टिकोण से

(1) साधु : लक्षण, अर्थ, आगमिक व्याख्या

साधु : पर्याय

(2) साधु के गुण : विधि-निषेध रूप में

विध्यात्मक-

(क) 18,000 शील गुणों के धारक

(ख) 84,000,00 उत्तर गुणों से संयुक्त

(ग) 32 संयमयोग संग्रह

निषेधात्मक-

(अ) अनाचरण-1.

(ब) 20 असमाधि दोष

(स) 21 सबल (बड़े) दोष

(3) साधु : आचार विधान : षडावश्यक

(क) साधु समाचारी : विशिष्ट क्रियाएं

(ख) साधु के विविध कल्प

(ग) भिक्षु प्रतिमा

4. साधु के प्रकार

5. जैनधर्म और व्रत परम्परा

1. साधु के व्रत-1. सामायिक 2. पंच महाव्रत

2. चातुर्याम धर्म और पंच महाव्रत

3. पंच महाव्रत का तुलनात्मक अध्ययन

क. बौद्ध परंपरा में दस शील

ख. ब्राह्मण परंपरा में पंचयम

6. महाव्रतों के संरक्षण की व्यवस्था स्वरूप : अष्ट प्रवचन माता

1. पंचसमिति 2. तीन गुप्ति

7. अन्य दर्शनों में साधु एवं साधुत्व

8. साधुत्व की उपयोगिता

पंच परमेष्ठी का पंचम पद-

साधु : श्रमण व ब्राह्मण परंपरा के तुलनात्मक दृष्टिकोण में-

भारतीय संस्कृति की मुख्य दो धाराओं में से जैन परंपरा श्रमण परंपरा पर आधारित है। श्रमण अर्थात् साधु, यति, मुनि, भिक्षु, अणगार आदि। ये सब श्रमण की ही पर्यायें है। जैन प्रवचन शब्द-प्रधान न होकर अर्थ-प्रधान है। अतः इसमें अनेक शब्द-संकलना की गई है। प्रस्तुत प्रकरण में पंचम पद में साधु की विचारणा होने से इसमें साधु के स्थानपर अनेक स्थल पर 'श्रमण' शब्द का भी व्यवहार हो सकता है। इसका कारण यह परंपरा 'श्रमण परंपरा' है।

जैन परंपरा में साधु जीवन को प्रधान माना गया है। जिन-प्रवचन अर्थात् आगम साहित्य अधिकांशतः मुनि जीवन को अनुलक्ष करके ही गुम्फित किया है। बृहद्कल्प सूत्र में इसकी प्रधानता का उल्लेख यहाँ तक किया है कि "प्रथमः प्रत्येक आगन्तुक को यतिधर्म का ज्ञान कराना चाहिये और यदि वह उसके पालन में असमर्थता प्रकट करे तो उसे गृहस्थ धर्म का उपदेश देना चाहिये।[१] इस संदर्भ में साधु जीवन की उत्कृष्टता को दर्शाया गया है।

श्रमण परंपरा की इतर धारा बौद्ध परंपरा में भी भिक्षु के जीवन को उत्कृष्ट माना गया है। गौतम बुद्ध ने त्रिपिटकों में सदैव ही भिक्षु जीवन को प्राथमिकता दी है।[२] जैन मत के सदृश बुद्ध का भी यही उपदेश रहा जो भिक्षु बनने में असमर्थ हो उसे गृहस्थ जीवन अंगीकार करना चाहिये।

इस श्रमण परंपरा के दोनों पक्षों ने मुनिजीवन को प्रथम स्थान दिया है।

वैदिक पंरपरा में ठीक इसके विपरीत गृहस्थ जीवन को विशेष महत्त्व दिया गया है, किन्तु पश्चात्वर्ती वैदिक साहित्य में आश्रम व्यवस्था में संयस्त जीवन को महत्त्व ही नहीं दिया गया वरन् जीवन के अंतिम साध्य के रूप भी स्वीकार किया गया है। गीता के समय तक गृहस्थ जीवन और संन्यास मार्ग दोनों ही परम्पराएँ प्रतिष्ठित हो चुकी थी। गीता में दोनों के बीच समन्वय स्थापित किया गया है।[३] तथा वैदिक परम्परा में गृहस्थाश्रम को विशेष महत्त्व दिया गया है।

---

१. बृहत्कल्प सूत्र ११३९
२. सुत्तनिपात १२.१४-१४
३. ३. गीता ५.२

श्रमण तथा ब्राह्मण परंपरा में साधु जीवन को सर्वोच्च माना है, फिर भी ब्राह्मण परंपरा विशेष रूप से गृहस्थ जीवन को संन्यास के समकक्ष बनाने के प्रयास में रही है।

जैन धर्म में साधु-

श्रमण परंपरा में साधु जीवन को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। साधना के अनुकूल वातावरण प्राप्त करने के लिए गृहस्थ जीवन के प्रपंचों का त्याग करके, गृहस्थ वेश का त्याग करना आवश्यक होता है। यद्यपि साधना गृहस्थ वेष या अन्य किसी वेष से भी हो सकती है, क्योंकि मुक्त होने के लिए वेष बाधक नहीं, बाधक है विषय-विकार। अतः आध्यात्मिक समुत्कर्ष के लिए ब्राह्य वातावरण भी अपेक्षित है, जहाँ सहजता से अनुकूल वातावरण में साधना के माध्यम से कर्म क्षय किया जा सके।

जैन परंपरा में साधु जीवन का प्रथम आचार है, साधना है- पाप विरति। जैन साधु को कुछ समय के लिए नहीं वरन् यावज्जीवन पर्यन्त सावद्य योगों-पापकारी प्रवृत्तियों का त्याग करके, आन्तरिक रूप से उसे समस्त रागद्वेषात्मक प्रवृत्तियों से परे होना पड़ता है। इस अर्थ में साधु का तात्पर्य ही है-समत्व की साधना। वास्तव में मस्तक मुंडाने मात्र से कोई साधु नहीं हो जाता, वरन् जो समत्व की साधना करता है वही साधु होता है।[१] सूत्रकृतांग में साधु जीवन की स्पष्ट रूप से व्याख्या उपलब्ध होती है कि "जो शरीर आदि में आसक्ति नहीं रखता, सांसारिक कामना नहीं करता, किसी प्राणी की हिंसा नहीं करता, झूंठ नहीं बोलता, मैथुन और परिग्रह के विकारों से रहित है। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि जितने भी कर्मादान और आत्मा के पतन के हेतु हैं, उन सब से निवृत्त रहता है। इस प्रकार जो इन्द्रियों का विजेता है, मोक्ष मार्ग का सफलयात्री है, शरीर के मोह-ममत्व से रहित है, वह श्रमण है।[२] "

बौद्ध परंपरा में भी जैन परंपरा की भाँति समत्व की साधना करना ही भिक्षु का परम लक्ष्य स्वीकार किया गया है। बुद्ध के अनुसार जो व्रत हीन है तथा मिथ्याभाषी है, वह मुंडित होने मात्र से श्रमण नहीं होता। इच्छा और लोभ से भरा हुआ मनुष्य भला क्या साधु बनेगा ? जो छोटे-बड़े सब पापों का शमन करता है, उसे पापों का शमनकर्त्ता होने के कारण ही श्रमण कहा जाता है।[३] इस प्रकार बौद्ध परंपरा में भी भिक्षु को पापकारी प्रवृत्तियों से निवृत्त होने का बुद्ध का उपदेश है।

---

१. उत्तराध्ययन २५.३२

२. सूत्रकृतांग १.१६.२

३. धम्मपद २६४-२६५

वैदिक परंपरा में संन्यासी को फलाकांक्षा से दूर रहने को कहा गया है। वहाँ भी पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा का परित्याग करके भी प्राणियों को अभय प्रदान करने वाला संन्यासी है, कहा गया है।[१]

इस प्रकार यहाँ दृष्टिगोचर होता है कि सभी परंपराएं एक मत से पापकारी प्रवृत्तियों का त्याग एवं विषय-विकारों से निवृत्त होना स्वीकारती है।

साधु-आगमिक व्याख्या

प्रथम अंग सूत्र आचारांग में साधु की व्यवस्था करते हुए कथन है कि "जो जीवन प्रपंचों को त्याग कर गृहत्यागी हुआ है, जिसका अन्तःकरण सरल है, जिसने मोक्षमार्ग स्वीकार किया है तथा जिसके कपट का सर्वथा त्याग किया है, वही सच्चा अणगार है।[२] पुनः उल्लेख है कि तत्त्वों को जानकर, उभयरूप संयम के स्वरूप को यथार्थरूप से समझकर जो यह संकल्प करता है कि मैं किसी भी प्राणी को पीड़ा न दूँगा और तदनुसार किसी को भी पीड़ा नहीं देता और हिंसा, विषय, कषाय और सांसारिक बंधनों से विरक्त हैं, जिनशासन में अनुरक्त है।[३] जो लोभ की इच्छा नहीं करते।[४] वह समय को पहचानने वाला, अपनी शक्ति को जानने वाला, मात्रा-प्रमाण, क्षेत्र, अवसर, ज्ञानादि विनय, अपने एवं दूसरे के शास्त्रों को, दूसरों के अभिप्राय को, जानने वाला, परिग्रह की ममता को दूर करने वाला, यथाकाल अनुष्ठान करने वाला, निरासक्त होकर राग-द्वेष को छेदकर मोक्षमार्ग में आगे बढ़ता है।[५] उनको हिंसक उपदेश और चिकित्सा नहीं कल्पती।[६] लोक के स्वरूप को जानकर, विवेकपूर्ण लोकसंज्ञा का त्याग करें।[७] जो कर्म-शरीर को आत्मा से अलग करते हैं। सत्पुरुषार्थी, सम्यक्त्वदर्शी नीरस, हल्का, सूखा भोजन करते हैं।[८] जो शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श के सुंदर या खराब, अनुकूल या प्रतिकूल मनोज्ञ या अमनोज्ञ अवस्था प्राप्त होने पर भी दोनों में

---

१. नीतिशास्त्र की रूपरेखा पृ. १०१
२. आचा. १.१.३.१९
३. वही. १.१.५.३९
४. वही १.२.२
५. वही १.२.५
६. वही. १.२.५
७. वही. १.२.६
८. वही १.२.६

समभाव रखता है, वही साधक चैतन्य (आत्मरूप), ज्ञान, वेद (शास्त्र) धर्म तथा ब्रह्म का ज्ञाता है। वह अपने विज्ञान बल से लोक के स्वरूप को जानता है, वही मुनि कहला सकता है। इस प्रकार धर्म को जानने वाले मुनि का संसारचक्र तथा विषयाभिलाषा (आसक्ति) रागादि से क्या संबंध है ? यह जानते हैं। रति-अरति को सहन करते हैं। संयम में कठिनाई का अनुभव नहीं करते और जागृत रहकर वैर-विरोध को दूर करते हैं।[१]

यहाँ प्रश्न है कि कोई परस्पर लज्जा या भय से पापकर्म नहीं करता है तो क्या वह मुनि कहा जा सकेगा ? समाधान करते हुए कथन है-कदापि नहीं! समता की जहाँ उपेक्षा है, वहाँ मुनित्व नहीं। समभाव से जो पापकर्म नहीं करता वही सच्चा मुनि कहा जा सकता है।[२]

दशवैकालिक[३] एवं उत्तराध्ययन सूत्र[४] में जिसका नाम ही 'स-भिक्खु' है, इस अध्ययन में सद्भिक्षु के लक्षण इस प्रकार बताए हैं-जो तीर्थंकर के वचनों में समाहितचित्त हो, स्त्रियों में आसक्ति से तथा विषय-भोगों से विरत हो। जो षट्कायिक जीवों की किसी भी प्रकार से विराधना नहीं करता-कराता हो, जो समस्त प्राणियों को आत्मवत् मानता है, जो पंच महाव्रत एवं पंच संवर का पालन करता है, जो कषायविजयी है, परिग्रहवृत्ति तथा गृहस्थ प्रपंचों से दूर है, जो खाद्य पदार्थों का संचय नहीं करता, जो लाया हुआ आहार साधर्मिकों को संविभक्त और आमंत्रित करके खाता है। जो अधन (अकिंचन) है तथा जो गृहस्थों का योग (अधिक संसर्ग या व्यापार) नहीं करता, जिसकी दृष्टि सम्यक् है, जो सदा अमूढ़ है जो ज्ञान, तप और संयम में आस्थावान् है। जो तपस्या से पूर्वकत् पापकर्मों को नष्ट करता है और मन-वचन-काया से सुसंवृत्त है, वही सच्चा भिक्षु है।

जो एषणाविधि से प्राप्त आहार को न तो संचित करता है और न करवाता है जो कलहकथा, कोप आदि नहीं करता, जो इंद्रियविजयी, संयम में ध्रुवयोगी एवं अशांत है। जो कठोर एवं भयावह शब्दों को समतापूर्वक सहता है, जो सुख दुःख में समभावी, अभय, तपश्चरण एवं विविध गुणों में रत, शरीर निरपेक्ष, सर्वांग-

---

१. १. आचा. १.३.१

२. आचा. १.३.३.

३. 3. दशवैकालिक अध्य. १०

४. उत्तराध्ययन अध्य. १५

संयत, अनिदान, कायोत्सर्गी, परीषह विजेता, श्रमणभाव में रत, उपधि में अनासक्त है, जो अज्ञातकुलों में भिक्षा लाने वाला, क्रय-विक्रय तथा सन्निधि से विरत, सर्वसंग-रहित, असंयमी जीवन का अनाकांक्षी, वैभव, आडम्बर, सत्कार, पूजा, प्रतिष्ठा आदि में बिल्कुल निस्पृह है। जो स्थितप्रज्ञ है, आत्मशक्ति के विकास के लिए तत्पर है, समिति गुप्ति का पालक, अष्टविध मद से दूर एवं धर्मध्यान आदि में रत है, स्वधर्म में स्थिर है। शाश्वत हित में सुस्थित, देहाध्यास-त्यागी और क्षुद्र हास्यचेष्टाओं से विरत है।[१] छेदनविद्या स्वर विद्या, भूकम्प, अंतरिक्ष, स्वप्न, लक्षण, अंगविचार और पशु-पक्षियों की बोली से आजीविका नहीं करता। मंत्र, विविध वैद्यप्रयोग, धूमयोग, अंजनस्नान, आतुरता, माता-पिात का शरण चिकित्सा इनको ज्ञान से हेय जानकर छोड़ देते हैं, वह भिक्षु है।[२]

प्रस्तुत अध्ययन में भिक्षुचर्या एवं भिक्षुके स्वधर्म और सद्गुणों से संबंधित समग्र चिन्तन विशुद्ध रूप से अंकित किया है। इस अध्ययन का प्रतिपाद्य ही सद्भिक्षु या आदर्शभिक्षु है। इस प्रकार परिपूर्ण रूप से साधुपद की सुंदर विवेचना प्रस्तुत की गई है।

साधु-लक्षण

अत्यन्त, कष्टकारी, उग्रतर और घोर तपश्चरणादि अनुष्ठानों के द्वारा, अनेक व्रत, नियम, उपवास व विविध प्रकार के अभिग्रह से युक्त, संयम पालन करने से तथा सम्यक् प्रकार से परीषह उपसर्गादि कष्टों का सहन करके जो सर्व दुःखों का अंत करने वाले मोक्ष को साधताहै, वह साधु है।[३]

निर्वाणसाधक योग को साधने से और सर्व प्राणियों के प्रति आत्मसम्मान बुद्धि को धारण करने से साधु भगवन्त भाव साधु कहलाते हैं।[४] वे विषय सुख से निवर्तित होते हैं तथा विशुद्ध चारित्र और नियमों को धारण करते हैं, तात्विक गुणों को सिद्ध करते हैं तथा मुक्ति साधक पुरुषों को उनकी साधना में सहाय करते हैं। लोक संज्ञा के त्यागी, क्षमादि दशविध धर्म के धारक तथा लाभालाभ, मानापमान एवं लोष्ठ-कांचन में समवृत्ति रखने वाले, गुर्वाज्ञा में तत्पर, प्रायश्चितादि जल द्वारा पापमल का प्रक्षालन करने वाले, निरन्तर शुद्ध स्वाध्यायकरण में तल्लीन और भ्रमर के सदृश गोचरचर्या में उद्यत श्री साधु भगवंत जंगम तीर्थ है।[५]

---

१. दश. अध्यय. १० गा. १-२१
२. उत्तरा अध्य. १५ गा. १-१६
३. 3. महानिशीथसूत्र
४. आव. नि. गा. १०१०
५. वही.

श्री साधु परमेष्ठी के संबंध में उपाध्यायजी श्री यशोविजयजी महाराज श्री पंचपरमेष्ठी गीता[1] में उल्लेख करते हैं-"निरन्तर, क्लेशनाशिनी देशना देने में जो प्रयास गिनते नहीं तथा भव्यआत्माओं के आश्वासन लेने के लिए वे स्थिरद्वीप की भाँति है। स्वयं साधना करके तिर जाते हैं एवं अन्यों को भी तारने में तत्पर रहते हैं, ऐसे करुणासभरसुखकर साधुपुरुष निरन्तर करुणाशील होने से तथा गुण एवं महिमा के भंडार होने से वे जंगमतीर्थ तुल्य हैं एवं जगत् में बारम्बार धन्यवाद के पात्र हैं।"

साधु : अर्थ एवं पयार्य-

साधु शब्द 'साध्' धातु को 'उण्' प्रत्यय लगने से निष्पन्न होता है, जिसका तात्पर्य है-जो इच्छित अर्थ को साधे वह साधु है। प्राकृत भाषा में "रव-घ-थ-ध-भाम्" 811 ।187। इति धस्य ह: इस प्रकार 'साहु' शब्द प्रयुक्त होता है जिसका शाब्दिक अर्थ होता है शोभन[2] अथवा निर्दोष[3] इसका व्युत्पत्ति परक अर्थ प्रस्तुत किया गया है-

1. साधयन्ति ज्ञानादिशक्तिभिर्मोक्षमिति साधव:[4] -अर्थात् ज्ञानादि शक्तियों द्वारा जो मोक्ष की साधना करे वह साधु है।

2. अथवा समता वा सर्वभूतेषु ध्यायन्तीति निरूक्तिन्यायात् साधव:[5] -अथवा सर्व प्राणियों के प्रति समभाव का जो ध्यान करते हैं वे साधु हैं।

3. अथवा सहायकं वा संयमकारिणां धारयन्तीति साधव: निरूक्तेरेव[6] - अथवा संयम पालन करने वाली आत्माओं को सहायता करते हैं इससे साधु कहलाते हैं।

4. अथवा साधयति सम्यग्दर्शनादियोगैरपवर्गमिति साधु:[7] जो सम्यग्दर्शनादि योगों द्वारा मोक्ष को साधते हैं, वे साधु है।

5. *अभिलषितमर्थं साधयतीति साधु:[8] - जो सम्यग्यदर्शनादि योगों द्वारा मोक्ष* को साधते हैं, वे साधु हैं।

---

१. परमेष्ठी गीता. १
२. सूत्र २.१, २.२
३. द्वावि.११ द्वा.
४. १. भगवती वृ. १.१
५. वही. १.१, दशा. १ अ, आव ४. अ. सूत्र. २.५
६. वही. १.१
७. ४. दश. वृ. १.१, उत्तर. १, चं. प्र. ११ पा.
८. आव म. १

6. सदाचारे[1], पारमार्थिकयतौ[2], ब्रह्मचर्यादिणान्विते[3] अर्थात् सदाचार में रत, परमार्थ में तत्पर, ब्रह्मचर्यादि गुणों से युक्त होने से साधु कहते हैं।

भगवती सूत्र[4] में साधु पद को नमस्कार सर्व विशेषण ते समन्वित होकर किया गया है, जिसका तात्पर्य है-

1. सर्व ग्रहण च सर्वेषां गुणवतामविशेषनमनीयताप्रतिपादनार्थम्, सर्व गुणवान् पुरुष भेदभाव बिना नमस्कार करने योग्य होने से यहाँ सर्व का ग्रहण किया गया है।

2. अथवा सर्वेभ्यो जीवेभ्यो हिताः सार्वस्ते च साधवः-'सार्व' अर्थात् सर्व जीवों का हित करने वाले साधु वे सार्व साधु हैं।

3. सार्वस्य वा-अर्हतो न तु बुद्धादेः साधवः सार्वसाधवः अर्थात् बुद्ध आदि के नहीं परन्तु 'सार्व' अर्थात् अरिहंत के जो साधु वह सार्व साधु है।

4. अथवा सर्वान् वा शुभयोगान् साधयन्ति-कुर्वन्ति-अथवा सर्व शुभ योग को साधे वह सर्व साधु है।

5. अथवा सार्वान् वा-अर्हतः साधयन्ति तदाज्ञाकरणादाराधयन्ति प्रतिष्ठापयन्ति वा दुर्नयनिराकरणादिति सर्वसाधवः सार्वसाधवो वा आज्ञ का पालन करके सार्व अर्थात् अर्हत् को जो आराधते है किंवा दुर्नय को दूर करके (अन्य मतों का खंडन करके) जिनेश्वर भगवान के मत को प्रतिष्ठित करते हैं, वह सार्वसाधु हैं।

6. अथवा श्रव्येषु-श्रवणार्हेषु वाक्येषु-श्रव्य अर्थात् श्रवण करने योग्य वाक्यों में निपुण वे श्रव्यसाधु हैं।

अथवा सव्यानि-दक्षिणान्यनुकूलानि यानि कार्याणि तेषु साधवः निपुणाः श्रव्यसाधवः सव्यसाधवो वा-सव्य अर्थात् अनुकूल कार्यों में निपुण वह सव्य साधु है।

आवश्यक निर्युक्ति में यहाँ तक कहा गया है कि असहाय ऐसे को संयम पालन में सहायक होने से साधु हैं।[5] विषय सुख से दूर रहने वाले, निर्मल चारित्र रूपी नियम वाले, तथ्य गुणों को साधने वाले, आत्मकार्य में उद्यमशील साधु हैं।[6] परमार्थ साधन की प्रवृत्ति में जगत् जब असहाय हो जाता है, तब सहाय रहित ऐसे मुझे संयम रखने में जो मदद करते हैं, वे साधु हैं।[7]

---

१. सूत्र १.३.१ २. पं. व ४ द्वार
३. ठाणं १०.३ ४. भग. १.१
५. आव. नि. १२७ ६. वही १२६
७. वही १२७

षट्खंडागम[१] में कथन है कि "जो अनंत ज्ञानादि रूप शुद्ध आत्मा के स्वरूप की साधना करते हैं। जो पंच महाव्रतों को धारण करते हैं तीन गुप्तियों से सुरक्षित हैं, अट्ठारह हजार शील के भेदों को धारण करते हैं तथा चौरासीलाल उत्तर गुणों का पालन करते हैं।" सिंह समान पराक्रमी, हाथी समान स्वाभिमानी अथवा उन्नत, बैल के समान भद्रप्रकृति, मृग समान सरल, पशु समान निरीह गोचरी वृत्ति करने वाले, पवन सदृश निःसंग अथवा सर्वत्र रूके बिना विचरने वाले, सूर्यसमान तेजस्वी अथवा सकल तत्त्वों के प्रकाशक, उदधि अर्थात् सागर सम गंभीर, मंदराचल अर्थात् सुमेरू पर्वत समान परीषह एवं उपसर्गों के आने पर अकंप एवं अडोल रहने वाले, चंद्र सम शांतिदायक, मणिसमान प्रभापुंज युक्त, पृथ्वी के सदृश सर्व प्रकार की बाधाओं को सहन करने वाले, उरग अर्थात् सर्प के समान अन्य द्वारा निर्मित अनियत आश्रय-वसतिका आदि में निवास करने वाले, अंबर अर्थात् आकाश समान निरालंबी अथवा निर्लेप और सदाकाल परमपद अर्थात् मोक्ष का अन्वेषण करने वाले साधु हैं। वे संपूर्ण कर्मभूमिओं में उत्पन्न होने वाले त्रिकालवर्ती साधु है।"

इस प्रकार अनेकशः साधु परमेष्ठी के व्युत्पत्तिनिर्युक्ति परक अर्थ किये गये हैं।

निश्चय साधु के लक्षण-

साधु में क्या-क्या लक्षण होने चाहिये, उसका उल्लेख है कि "जिसके शत्रु और बंधुवर्ग समान है, प्रशंसा और निंदा के प्रति जिसको समता है, लोष्ठ (ढेला) और सुवर्ण समान है तथा जीवन व मरण के प्रति जिसको समता है वह श्रमण है।[२] जो काया और वचन के व्यापार से मुक्त, चतुर्विध आराधना में सदा रक्त, निर्ग्रन्थ और निर्मोह है।[३] जो निष्परिग्रही व निराम्भ है, भिक्षाचर्या में सदा शुद्धभाव रखता है, एकाकी ध्यान में लीन होता है और सब गुणों से परिपूर्ण होता है।[४] अनन्त ज्ञानादि स्वरूप शुद्धात्मा की साधना करते हैं।[५] वे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, विरति और क्षायिकसम्यक्त्वादि गुणों के साधक है।[६] जो सुख दुःख में समान है, ध्यान में लीन है। शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के राग से मुक्त है।[७] इस प्रकार जो निजात्मा को ही श्रद्धारूप व ज्ञानरूप बना लेता है और उपेक्षारूप ही जिसकी आत्मा की प्रवृत्ति हो जाती हैं, अर्थात् जो निश्चय व अभेद रत्नत्रय की साधना करता है वह निश्चयावलम्बी श्रेष्ठ मुनि है।[८] रत्नत्रय की भावनारूप से वह स्वात्मा को साधता है।[९]

---

१. षट्खंडागम ३३.५१
२. प्रवचन सार २४१, मूलआराधना ५२१
३. नियमसार ७५
४. मूल आराधना १०००
५. धवला १.१, १, १.५१
६. धवला ८.३, ४१.८७.४
७. नय चक्र वृ. ३३०-३३१
८. तत्त्वार्थसार ९.६
९. प्र. सार ता. वृ. २५२-३४५-१६ परमात्म प्रकाश १.७.१४.७, पंचाध्यायी ६६७

यहाँ साधु के लक्षणों में मुख्यतया समता को स्थान दिया गया है। स्वकार्य तथा पर कार्य रूप परमार्थ को साधने वाला साधु है।

साधु : पर्याय (समानार्थक शब्द)

साधु शब्द के अनेकशः समानार्थक शब्द उपलब्ध होते हैं। यद्यपि उनका अर्थ कुछ-कुछ भिन्नता लिये हुए हैं, तथापि भिन्नता में भी समानता दृष्टिगोचर होती है-

सूत्रकृताङ्ग[1] में साधुत्व की पर्यायों का सुंदर समालोचन, व्याख्या के साथ किया गया है। उसमें उल्लेख है जो दांत (इन्द्रियों और मन को वश कर चुका) है, द्रव्य (भव्य मोक्षगमनयोग्य) है , व्युत्सृष्टकाय-जिसने शरीर के प्रति ममत्व का त्याग कर दिया है, उसे माहन, श्रमण, भिक्षु, या निर्गन्थ कहना चाहिये।

यहाँ प्रश्न किया गया है कि ऐसे साधक को माहन, श्रमण, भिक्षु या निर्ग्रन्थ क्यों कहना चाहिये। उसका मार्मिक विश्लेषण किया गया है-

माहन[2] -विरत सव्वपावकम्मे.-जो समस्त पाप कर्मों से विरत है जो किसी पर राग द्वेष नहीं करता, जो कलह से दूर रहता है, किसी पर मिथ्यादोषरोपण नहीं करता, किसी की चुगली नहीं करता, दूसरों की निंदा नहीं करता, जिसकी संयम में अरूचि (अरति) एवं असंयम में रूचि नहीं है, कपट युक्त असत्य नहीं बोलता (दम्भ नहीं करता) अर्थात् अट्ठारह पापस्थानों का सेवन नहीं करता, पांच समितियों से युक्त, ज्ञान-दर्शन-चारित्र से सम्पन्न, सदैव षड्जीवनिकाय की यतना, रक्षण में तत्पर अथवा सदा इन्द्रिय जयी होता है, किसी पर क्रोध नहीं करता, न अभिमान करता है, इन गुणों से सम्पन्न अणगार, 'माहन' कहे जाने योग्य है।

प्रस्तुत सूत्र में 'माहन' का सरस निरूपण किया गया है। वास्तव में 'माहन' पद मा + हन शब्दों से निर्मित होता है जिसका अर्थ है-'किसी भी प्राणी की हिंसा मत करो', इस प्रकार का उपदेश जो अन्य को देता है, अथवा जो स्वयं त्रस-स्थावर, सूक्ष्म-बादर, जीवों की किसी भी प्रकार से हिंसा नहीं करता। हिंसा दो प्रकार की है-1. द्रव्य 2. भाव। राग, द्वेष, कषाय या असत्य, चोरी, परिग्रहवृत्ति आदि सब भाव हिंसा के अन्तर्गत है। भाव हिंसा द्रव्यहिंसा से भंयकर है। 'माहन'

---

१. सूत्रकृताङ्ग : १६ अध्य.
२. वही. १६.६३४

दोनों प्रकार की हिंसा से विरत होता है। 'माहन' को यहाँ सव्व पापस्थानों से विरत बताया गया है। इसका अर्थ यह है कि वह भावहिंसा के इन मूलकारणों से विरत रहता है। वह समिति एवं त्रिगुप्ति से युक्त है अर्थात् वह असत्य, चोरी आदि भावहिंसाओं से रक्षा करने वाली समिति-गुप्ति से युक्त है। वह सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयसम्पन्न माहन हिंसा निवारण के अमोघ उपायभूत मार्ग से सुशोभित है। हिंसा से सर्वथा निवृत्त माहन षड्जीवनिकाय की रक्षा के लिए सदैव यत्नवान् होता ही है। क्रोध और अभिमान-ये दो भावहिंसा के प्रधान जनक है। माहन भावहिंसाजनक कषायों से दूर रहता है। इस प्रकार माहन के अर्थ को प्रकट करता यह सूत्र अत्यन्त सुसंगत है।

श्रमण[२]-

पूर्वोक्त विरति आदि गुणों से सम्पन्न जो साधक अनिश्चित (शरीर आदि किसी भी पर-पदार्थ में आसक्त या आश्रित नहीं) है, अनिदान (अपने तप-संयम के फल के रूप में किसी भी प्रकार के इह-पारलौकिक सुख-भोगाकांक्षा से रहित) है, तथा कर्मबन्ध के कारणभूत, प्राणातिपात, मृषावाद, मैथुन और परिग्रह (उपलक्षण से अदत्तादान) से रहित है तथा क्रोध, मान, माया, लोभ, राग और द्वेष नहीं करता। इस प्रकार जिनजिन कर्मबन्ध के आदान-कारणों से इहलोक-परलोक में आत्मा की हानि होती है, तथा जो जो आत्मा के लिए द्वेष के कारण हो, उन-उन कर्मबंध के कारणों से पहले से ही निवृत्त वह दांत, भव्य (द्रव्य) तथा शरीर के प्रति ममत्व से रहित है, उसे श्रमण कहना चाहिये।

प्रस्तुत सूत्रगाथा में यह बताया गया है कि 'किन विशिष्ट गुणों से सम्पन्न होने पर साधक को श्रमण कहा जा सकता है।'

प्राकृत भाषा में 'समण' शब्द के संस्कृत में तीन रूपान्तर होते हैं-श्रमण, शमन और समन। श्रमण का अर्थ है-जो मोक्ष (कर्ममोक्ष) के लिए स्वयं श्रम करता है, तपस्या करता है। शमन का अर्थ है-जो कषायों का उपशमन करता है, और समन का अर्थ है-जो प्राणिमात्र पर समभाव रखता है, अथवा शत्रु-मित्र पर जिसका मन सम-रोग-द्वेष रहित है। इन अर्थों के प्रकाश में जब हम प्रस्तुत सूत्रोक्त श्रमण के लक्षण को कसते हैं, तो वह पूर्णतः खरा उतरता है। यहाँ श्रमण का पहला लक्षण 'अनिश्चित' बताया है, वह इसलिए कि श्रमण किसी देव आदि

---

१. वही. १६. अध्य ६३५

का आश्रित बनकर नहीं जीता, वह तप-संयम में स्वश्रम (पुरुषार्थ) के बल परआगे बढ़ता है।श्रमण जो भी तप करता है, वह कर्मक्षय के उद्देश्य से ही करता है। निदान करने से कर्मक्षय नहीं होता, इसलिए श्रमण का लक्षण 'अनिदान' बताया गया है। श्रमण संयम और तप में जितना पराक्रम करता है, वह कर्मक्षय के लिए करता है, अतः प्राणातिपात आदि जिन-जिन से कर्मबन्ध होता है, उनका वह शमन (विरति) करता है, उनसे दूर रहता है। क्रोधादि कषायों एवं रागद्वेष आदि का शमन करता है। कषायों के कारण से दूर रहकर 'समन' समत्व में स्थित रहता है।

भिक्षु[१] -

'माहन' और श्रमण के वर्णित गुणों से संयुक्त भिक्षु में अन्य विशिष्ट गुण भी हैं-वह अनुन्नत (निरभिमानी) हो, (गुरु आदि के प्रति) विनीत हो, (अथवा ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि के प्रति विनयशील हो), किन्तु भाव से अवनत (दीन मनवाला) न हो, नामक (विनय से, अष्ट प्रकार से अपनी आत्मा को नमाने वाला, अथवा सबके प्रति नम्र व्यवहारवाला) हो, दान्त हो, भव्य हो, कायममत्व रहित हो, नाना प्रकार के परीषहों और उपसर्गों का समभावपूर्वक सामना करके सहने वाला हो, अध्यात्म योग (धर्मध्यान) से जिसका चारित्र (आदान) शुद्ध हो, जो सच्चारित्र पालन में उद्यत-उपस्थित हो, जो स्थितात्मा (स्थितप्रज्ञ अथवा जिसकी आत्मा अपने शुद्ध भाव में स्थित है, या मोक्ष मार्ग में स्थिरचित्त) हो तथा संसार की असारता जानकर जो परदत्त भोजी (गृहस्थ द्वारा प्रदत्त आहार से निर्वाह करने वाला) हो, उस साधु को 'भिक्षु' कहना चाहिए।

उक्त सूत्र में भिक्षु के विशिष्ट गुणों का निरूपण किया गया है। भिक्षु का सामान्य अर्थ है-भिक्षाजीवी। परन्तु त्यागी भिक्षु न तो भीख माँगने वाला होता है, न ही वह पेशेवर भिखारी और न ही भिक्षा से पेट पालकर अपने शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाकर, आलसी एवं निकम्मा बनकर पड़े रहना उसका उद्देश्य होता है। जब हम भिक्षु के विशिष्ट गुणात्मक स्वरूप की समीक्षा करते हैं तो भिक्षु के लिए निर्दिष्ट सभी विशिष्ट गुण यथार्थ सिद्ध होते हैं। निर्ग्रन्थ भिक्षु का विशिष्ट गुण है-'परदत्तभोजी।' इसका रहस्य यह है कि भिक्षु अहिंसा की दृष्टि से न तो स्वयं भोजन पकाता है या पकवाता है। न ही अपरिग्रह की दृष्टि से भोजन का संग्रह

---

१. सूत्रकृत. १६.६३६

करता है। न भोजन खरीदता है, खरीदवाता है, न खरीदा हुआ लेता है। इसी प्रकार अचौर्य की दृष्टि से गृहस्थ के यहाँ के भोजन को बिना पूछे उठाकर न लाता है, न छीनकर, चुराकर, या लूटकर लेता है। वह निरामिषभोजी गृहस्थवर्ग के यहाँ से उनके लिए बनाए हुए आहार में भिक्षा के नियमानुसार गृहस्थ द्वारा प्रसन्नतापूर्वक दिया गया थोड़ा-सा एषणीय, कल्पनीय और उचित पदार्थ लेता है।

इसके अतिरिक्त यहाँ अन्य विशिष्ट गुण भी दर्शाये हैं-(1) अनुन्नत (2) नावनत (3) विनीत (4) दांत। अनुन्नत आदि ये गुण इसलिए आवश्यक है कि जब कोई साधक भिक्षा को अपना अधिकार या आजीविका का साधना बना लेता है, तब उसमें अभिमान आ जाता है, वह उद्धत होकर गृहस्थों (अनुयायियों) पर धौंस जमाने लगता है, भिक्षा न देने पर श्राप या अनिष्ट कर देने का भय दिखाता है, या भिक्षा देने के लिए दवाब डालता है अथवा दीनता हीनता या करुणता दिखाकर भोजन लेताहै, अथवा भिक्षा न मिलने पर अपनी नम्रता छोड़कर गाँव, नगर या उस गृहस्थ को कोसने या अपशब्दों से धिक्कारने लगता है अथवा जिह्वा आदि पर संयम न रखकर सरस, स्वादिष्ट, पौष्टिक वस्तु की लालसावश सम्पन्नघरों में ताक-झाक करता है, अंगारादि दोषों का सेवनकर अपनी जितेन्द्रियता को खो बैठता है। अतः भिक्षु को अनुन्नत, नावनत (अदीन), नामक (विनीतया नम्र) एवं दाँत होना आवश्यक है।

4. भिक्षु अपने सच्चारित्र पालन में उद्यत रहे, उसी का ध्यान रखे, चिन्तन करे, अपने शरीर और उन से सम्बन्धित वस्तुओं के चिन्तन में मन को प्रवृत्त न करे।

अंतिम दो विशेषण भिक्षु की विशेषता सूचित करते हैं-1. अध्यात्मयोग-शुद्धादान और 2. नाना परीषहोपसर्ग सहिष्णु कई भिक्षु भिक्षा न मिलने या मनोऽनुकूल न मिलने पर आर्तध्यान या रौद्रध्यान करने लगते हैं, यह भिक्षु का पतन है, उसे धर्मध्यानादि रूप अध्यात्मयोग से अपने चरित्र को शुद्ध रखने, रत्नत्रयाराधनाप्रधान चिन्तन करने का प्रयत्न करना चाहिये। साथ ही भिक्षाटन के दौरान कोई परीषह या उपसर्ग आ पड़े तो उस समय मन में दैन्य या संयम से पलायन का विचार न लाकर उस परीषह या उपसर्ग को समभाव से सहन करना ही भिक्षु का गुण है।

निर्ग्रन्थ[१] -

पूर्वकथित भिक्षु गुणों के अतिरिक्त निर्ग्रन्थ के कुछ विशिष्ट गुणों का निर्देश

---

१. वही १६.६३७

किया है-जो साधक एक (द्रव्य से सहायक रहित अकेला और भाव से रागद्वेषरहित एकाकी आत्मा) हो, जो एकवेता (यह आत्मा परलोक में एकाकी जाता है, इसे भली भाँति जानता हो या एकमात्र मोक्ष या संयम को ही जानता हो, जो बुद्ध (वस्तुतत्त्वज्ञ) हो, जो सच्छिन्न स्रोत (जिसने आस्रवों के स्रोत-द्वार बंद कर दिये) हो, जो सुसमित(पांच समितियों से युक्त) हो, जो सुसामायिक युक्त (शत्रु-मित्र आदि पर समभाव रखता) हो, जो आत्मवाद-प्राप्त (आत्मा के नित्यानित्य आदि समग्र स्वरूप का यथार्थ रूप से ज्ञाता) हो, तो जो समस्त पदार्थों के स्वभाव को जानता हो, जिसने द्रव्य और भाव दोनों तरह से संसारगमन स्रोत (मार्ग) को बंद कर दिया हो, जो पूजा, सत्कार एवं द्रव्यादिक के लाभ का अभिलाषी नहीं हो, जो एकमात्र धर्मार्थी और धर्मवेत्ता हो, जिसने नियाग (मोक्षमार्ग या सत्संयम) को सब प्रकार से स्वीकार (प्राप्त) कर लिया हो, जो समत्व में विचरण करता हो, इस प्रकार जो साधु दान्त,भव्य हो और काया से आसक्ति हटा चुका हो, उसे निर्ग्रन्थ कहना चाहिये।

प्रस्तुत सूत्र में विभिन्न पहलुओं से निर्ग्रन्थ का स्वरूप बताया गया है। निर्ग्रन्थ वह है जो बाह्य आभ्यन्तर ग्रन्थियों से रहित हो। सहायकता या रागद्वेषयुक्तता, सांसारिक सजीव निर्जीव पर पदार्थों को अपने मानकर सुख प्राप्ति या स्वार्थपूर्ति की आशा रखना, वस्तुतत्व की अनभिज्ञता, आस्रवद्वारों को न रोकना, मन और इन्द्रियों पर असंयम-परवशता, शत्रुमित्र आदि पर राग-द्वेषादि विषम-भाव, आत्मा के सच्चे स्वरूप को न जानकर शरीरादि को ही आत्मा समझना, द्रव्यभाव से संसार-स्रोत को खुला रखना, पूजा, सत्कार या द्रव्य आदि के लाभ की आकांक्षा करना आदि ये ग्रन्थियाँ है, जिनसे निर्ग्रन्थ समाप्त हो जाती है। बाह्य-आभ्यन्तर गांठे निर्ग्रन्थ जीवन को खोखला बना देती है। इसीलिए शास्त्रकार ने निर्ग्रन्थ के लिए एक, एकवित्, बुद्ध, सच्छिन्न स्रोत, सुसंयत, सुसमित, सुसामायति, आत्मवादप्राप्त, स्रोतपरिच्छिन्न, अपूजा-सत्कार-लाभार्थी आदि विशिष्ट गुण अनिवार्य बताये हैं। क्योंकि गुणों से तत्त्वों का परिज्ञान होने पर ही संग, संयोग, सम्बन्ध, सहायक, सुख-दु:ख-प्रदाता आदि की ग्रन्थि टूटती है। साथ ही विधेयात्मक गुणों के रूप में धर्मार्थी, धर्मवेत्ता, नियागप्रतिपन्न, समत्वचारी आदि विशिष्ट गुणों का भी विधान किया है जो राग-द्वेष, वैर, मोह, हिंसादि पापों की ग्रन्थि से बचाएगा। वास्तव में निर्ग्रन्थत्व के इन गुणों से सुशोभित साधु ही निर्ग्रन्थ कहलाने का अधिकारी है।

ये सब भिन्न-भिन्न शब्द विभिन्न प्रवृत्ति निमित्तक होते हुए भी कंथचित् एकार्थक है, परस्पर अविनाभावी है। इसके अतिरिक्त यति, मुनि आदि पर्यायें भी साधु की ही है।

(2) साधु के गुण-(विधि निषेधरूप में)

जैन परंपरा में साधु पद के अधिकारी में कुछ योग्यताओं को आवशयकीय माना गया है। तात्पर्य यह है कि साधु बनने से पूर्व कुछ गुणों का होना अनिवार्य है, तभी वह साधुत्व को प्राप्त कर सकता है। ये गुण 'मूल गुण' कहलाते हैं, अर्थात् अत्यन्त आवश्यक। श्वेताम्बर परंपरा में ये गुण 27 हैं, तो दिगम्बर परंपरा ये गुण 28 मान्य करती है। तत्त्वार्थ सूत्र एवं मूलाचार नामक ग्रंथ इन गुणों पर अच्छा प्रकाश डालते हैं।

श्वेताम्बर परंपरा मान्य 27 गुण[१] -

1. प्राणातिपात विरमण व्रत संयुक्त
2. मृषावाद विरमण व्रत संयुक्त
3. अदत्तादान विरमण व्रत संयुक्त
4. मैथुन विरमण व्रत संयुक्त
5. परिग्रह विरमण व्रत संयुक्त
6. रात्रिभोजन विरमण व्रत संयुक्त
7. पृथ्वीकाय रक्षक
8. अप्काय रक्षक
9. तेउकाय रक्षक
10. वायुकाय रक्षक
11. वनस्पतिकाय रक्षक
12. त्रसकाय रक्षक
13. एकेन्द्रिय जीव रक्षक
14. बेइन्द्रिय जीव रक्षक

---

१. नवपद आराधना विधि. पृ. ३५

15. तेइन्द्रिय जीव रक्षक
16. चौरिन्द्रिय जीव रक्षक
17. पंचेन्द्रिय जीव रक्षक
18. लोभ निग्रह कारक
19. क्षमा गुण युक्त
20. शुभ भावना भावक
21. प्रतिलेखानादि शुद्ध क्रिया कारक
22. संयम योग युक्त
23. मनोगुप्ति युक्त
24. वचन गुप्ति युक्त
25. कायगुप्ति युक्त
26. शीतादि द्वाविंशति परीषह सहने में तत्पर
27. मरणांत उपसर्ग सहने में तत्पर

अन्य प्रकार से भी ये गुण उपलब्ध होते हैं-[१]

1-5. पंचमहाव्रत
6. अरात्रि भोजन
7-11. पाँचों इन्द्रियों का संयम
12. आन्तरिक पवित्रता
13. भिक्षु उपाधि की पवित्रता
14. क्षमा
15. अनासक्ति
16. मन की सत्यता
17. वचन की सत्यता
18. काया की सत्यता

---

१. बोलसंग्रह भाग-७ पृ. २२८

19-24. छ प्रकार के प्राणियों का संयम अर्थात् उनकी हिंसा न करना।

25. तीन गुप्ति

26. सहनशीलता

27. संलेखना

इन दोनों प्रकारों में साम्य-वैषम्य है। इसी प्रकार समवायांग सूत्र में भी इन 27 गुणों का उल्लेख है[1], जो कि इनसे किंचित् भिन्नत्व लिए हुए हैं-

1-5. पंच महाव्रत

6-10. पाँच इन्द्रियों का संयम

11-15. चार कषायों का परित्याग

16. भाव सत्य

17. करण सत्य

18. योग सत्य

19. क्षमा

20. विरागता

21-24. मन, वचन, काया का निरोध

25. ज्ञान-दर्शन-चारित्र से सम्पन्नता

26. कष्ट सहिष्णुता

27. मरणान्त कष्ट सहना करना

कुछ भिन्नता के अतिरिक्त सभी गुण समान ही उपलब्ध होते हैं।

दिगम्बर परंपरा मान्य 28 गुण[1] -

1-5. पंच महाव्रत

6-10. पाँच इन्द्रियों का संयम

11-15. पाँच समितियों का परिपालन

16-21. षडावश्यक कृत्य

---

१. मूलाचार १.२.३, तत्त्वार्थ ९.४८

22. केश लोंच

23. नग्नता

24. अस्नान

25. भूशयन

26. अदन्त धावन

27. खड़े-खड़े भोजन करना

28. एक भुक्ति-एक समय भोजन करना

यहाँ दिगम्बर परंपरा के इन गुणों में बाह्याचार पर विशेष बल दिया है, किन्तु श्वेताम्बर परंपरा में बाह्य आचरण की अपेक्षा साधक ही आन्तरिक विशुद्धि का अत्यधिक महत्त्व दर्शाया है। आध्यात्मिक विकास का लक्ष्य इससे पुष्ट होता है।

विध्यात्मक गुण-

(क) 18000 शील गुणों के धारक-

18000 शील के गुणों के धारक साधु है। ये 18000 शीलगुण निम्न प्रकार से हैं-

तीन प्रकार की अचेतन स्त्रियाँ × मन, वचन व काय × कृत, कारित, अनुमोदना × पाँच इन्द्रिया × चार कषाय = 720; तीन प्रकार की चेतना स्त्रियाँ × मन, वचन, काय × कृत, कारित, अनुमोदन × पाँच इन्द्रियाँ × चार संज्ञा × सोलह कषाय = 17280 = 18000 इस प्रकार ये ब्रह्मचर्य की विराधना के 18000 अंग हैं। इनके त्याग से साधु को 18,000 शील गुण कहे जाते हैं। अथवा मन, वचन, काया-की शुभ क्रिया रूप तीन योग इन्हीं की अशभु प्रवृत्ति रूप तीन करण, चार संज्ञा, पाँच इन्द्रिय, पृथ्वी आदि दस प्रकार के जीव दस धर्म 18000 शील गुण कहे गये हैं। अथवा मन, वचन, काया-की शुभ क्रिया रूप तीन योग × इन्हीं की अशुभ प्रवृत्ति रूप तीन करण × चार संज्ञा × पाँच इन्द्रिय × पृथ्वी आदि दस प्रकार के जीव दस धर्म 18,000 शील गुण कहे गये हैं।

(ख) 84,000,00 उत्तर गुणों के धारक साधु-

साधु के 84,000,00 उत्तर गुण निम्न प्रकार के हैं-

पाँच पाप, चार कषाय, जुगुप्सा, भय, रति, अरति ये 13 दोष + मन, वचन, काय दुष्टता, 3 + मिथ्यात्व, प्रमाद पिशुनत्व, अज्ञान, पाँच इन्द्रियों का निग्रह ये

पाँच = 21। इन 21 दोषों का त्याग 21 गुण हैं। ये उपरोक्त 21 गुण × अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार ये चार × पृथ्वी आदि 100 जीव समास × 10 शील विराधना × 10 आलोचना के दोष × 10 धर्म 84000,00 उत्तर गुण होते हैं।[1]

(ग) योग संग्रह[2] -

योग अर्थात् मन, वचन और काया। इन तीनों प्रकार के योगों का संग्रह 32 प्रकार का है। इन बत्तीस प्रकार के संग्रह से योगाभ्यास अच्छी तरह हो पाता है। ये 32 कार्यों को योगियों के हृदयकोश में संग्रह योग्य होने से इनको योगसंग्रह कहा गया है। ये 32 निम्न है-

1. दोष लगने पर तुरन्त गुरु से निवेदन करे।

2. शिष्य का अपराध गुरु अन्य से प्रकाशित न करे।

3. कष्ट पड़ने पर भी धर्म में दृढ़ रहे।

4. तपस्या करके इस लोक में यश-महिमा की, सुख की इच्छा न करे तथा परलोक में देवपद आदि की वांछा न करे।

5. 'आसेवना' (ज्ञानाभ्यास संबंधी), 'ग्रहणा' (आचार-गोचरी संबंधी), 'शिक्षा' (सीख) कोई कहे तो उसे हितकारी माने।

6. शरीर की शोभा, विभूषा न करे।

7. गुप्त तप करे (गृहस्थ को पता न चले कि साधु के तप है), लोभ न करे।

8. जिन-जिन कुलों में भिक्षा लाने का श्री वीर प्रभु ने फरमाया है, उन सब कुलों में भिक्षाटन के लिए जाये।

9. परीषह आने पर चढ़ते परिणामों से सहन करे परन्तु क्रोध न करे।

10. सदा सरलता से अर्थात् निष्कपटता से विचरण करे।

11. संयम (आत्मदमन) करे।

12. समकित सहित अर्थात् शुद्ध श्रद्धायुक्त रहे।

13. चित्त को स्थिर करे।

14. ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार इन पाँचों आचारों में प्रवर्ते।

---

१. द्रव्य पाहुड टी. ९.८.१८.

२. *समवायांग सूत्र : ३२*

15. विनय अर्थात् नम्रता युक्त वर्तन करे।

16. जप, तप, क्रिया अनुष्ठान में सदा वीर्य एवं पराक्रम स्फुरित करे।

17. सदा वैराग्यवंत रहे।

18. निज आत्मगुणों (ज्ञान-दर्शन-चारित्र) को रत्न के खजाने के सदृश बंदोबस्त करके सुरक्षा करे।

19. पार्श्वस्थ अर्थात् शिथिल हुए साधु के परिणामों से सावधान रहते हुए सदैव परिणामों से वृद्धि करता रहे।

20. उपदेश एवं प्रवृत्ति से सदा संवर में पुष्टि होती रहे।

21. निज आत्म-दुर्गुणों को दूर करने में प्रयत्नशील रहे।

22. काम (शब्द-रूप संबंधित), भोग (गंध-रस और स्पर्श संबंधित) के संयोग मिलने पर भी लुब्ध न होवे।

23. नियम, अभिग्रह, त्याग वैराग्य की हमेशा यथाशक्ति वृद्धि करे।

24. उपधि अर्थात् वस्त्र, पात्र, शिष्य आदि का अंहकार न करे।

25. मद, विषय, कषाय, निद्रा एवं विकथा इन पाँच प्रमाद का त्याग करे।

26. मितभाषी होवे एवं समयोचित क्रियाएँ करें।

27. आर्त्त-रौद्र इन दोनों ध्यानों का त्याग करे तथा धर्म तथा शुक्ल ध्यान ध्यावे।

28. मन, वचन, काया का सदा शुभ कार्य में प्रवर्तन करे।

29. मरणांतिक कष्ट आने पर भी परिणाम की धारा धर्म में स्थिर रखें।

30. सर्व संग का त्याग करे।

31. गुरु के समक्ष आलोचना, निंदा करे अर्थात् अपने गुप्त पापों का प्रकाश करके प्रायश्चित ले और अपनी आत्मा की निंदा करे।

32. आहार और शरीर का भी त्याग करके समाधिभाव में दोहोत्सर्ग करे।

इस प्रकार इन बत्तीस योगों में साधु सदैव प्रयत्नशील रहे, एवं संग्रह करके सदैव हृदय में धारण करे। यथाशक्ति इन परिणामों में पुरुषार्थ करता हुआ प्रवृत्ति करता रहे।

निषेधात्मक गुण-

(अ) 52 अनाचरण-

विशुद्ध संयम पालन हेतु साधु को दशवैकालिक सूत्र[१] में निर्दिष्ट निम्न बावन अनाचरणों का त्याग करना चाहिए-

1. **उद्देशक**-आहार, वस्त्र, पात्र, स्थानक आदि साधु के निमित्त बनाया हो, उसका उपभोग करना अनाचरण है।

2. **कृतगड**-साधु के लिए कोई भी वस्तु खरीद कर लाई गई हो।

3. **नित्यपिंड**-एक घर से नित्य आहार ग्रहण करें।

4. **अभ्यहृत**-साधु के सन्मुख लाकर आहार दे।

5. **रात्रिभक्त**-अन्न, पानी, मिष्ठान्न, मुखवास आदि रात्रि को ग्रहण करना।

6. **स्नान**-स्नान न करना। देश व सर्वस्नान का त्याग करना। देश स्नान अर्थात् हाथ-पैर आदि धोना। सर्वस्नान अर्थात् पूरे शरीर से स्नान करना।

7. **गंध**-चंदन, इत्र, आदि सुंगधित पदार्थों का बिना कारण विलेपन करना।

8. **माल्य**-पुष्प, मणि, मोती आदि की माला धारण करना।

9. **वीयन**-पंखा, पुट्ठा या वस्त्र आदि से हवा करना।

10. **स्निग्ध**-घृत, तैल, गुड़ आदि का संचय करना।

11. **गिहिभत्त**-गृहस्थ के पात्र थाली, कटोरा आदि में भोजन करना।

12. **रायपिंड**-चक्रवर्ति आदि राजाओं के लिए बनाया हुआ बलिष्ठ आहार का भोजन अथवा राजा के गृह का भोजन करना।

13. **कमिच्छिक**-दानशाला, सदाव्रत आदि स्थलों से आहार ग्रहण करना।

14. **संबाहन**-बिना कारण शरीर पर तैल आदि की मालिश करे।

15. **दंतधावन**-राख, मंजन आदि से दाँतों की शोभा करे।

16. **संप्रश्न**-गृहस्थ या असंयति को सुखशाता पूछे।

17. **देह प्रलोयन**-काँच, पानी आदि में अपना चेहरा देखे।

18. **अष्टापद**- अष्टांग निमित्त प्रकाशित करे।

---

१. दशवैकालिक सूत्र-अध्य. ३

19. नालिका-ताश, चौपड़, शतरंज आदि खेले।

20. छत्र-छतरी धारण करे, छत्र धरे।

21. तिगिच्छ-बिना कारण बल-वृद्धि के लिए औषध सेवन करे।

22. वाहनी-जूते, चप्पल, मोजडी आदि पैरों में पहने।

23. जोत्यारंभ-दीपक, चूला आदि अग्नि का आरम्भ करे।

24. शय्यातरपिंड-जिसकी आज्ञा लेकर या जिसके मकान में निवास किया, उसके यहाँ का आहार-पानी आदि ले।

25. आसंदी-कुर्सी, खाट, पलंग आदि पर बैठे।

26. गृहांतरशय्या-वृद्धावस्था, रोग या तपश्चर्यादि में कारण बिना गृहस्थ के यहाँ बैठे।

27. गात्रमर्दन-पीठी आदि शरीर पर लगाए।

28. गृही वेयावृत्य-गृहस्थ का वैयावृत्य करे या उनसे करावे।

29. तप्तनिवृत्त-जिस बर्तन में पानी गर्म किया हो, वह बर्तन ऊपर, नीचे या मध्य में गर्म न हुआ हो वह पानी ले।

30. आतुरशरण-रोग, दुःख, कष्ट आदि से घबरा कर कुटुम्बियों का शरण ले।

31. जात्याजीवी-जाति, संबंध आदि बताकर आहार आदि ले।

32-45. मूल, अदरक, इक्षुखंड, सूरणादि, कंद-मूल, जड़ी, फल, बीज, सैंधव, अगर का नमक, नमक, रोमदेश का नमक, समुद्रीय नमक, पांशुक्षार, कालानमक, ये चौदह वस्तु सचित्त ग्रहण करे।

46. धुवणे-वस्त्रादि को संगुधी द्रव्यों का धूप खेवे।

47. वमन-बिना कारण वमन करे।

48. वसति-बस्तीकर्म करे (गुदा द्वारा पानी या दवा प्रक्षेप करके मलोत्सर्ग करे) (एनिमा ले)।

49. विरेचन-बिना कारण जुलाब ले।

50. अंजन-शोभा के लिए आँखों में काजल, सुरमा आदि अंजन करे।

51. दंतवणे-दाँतों को रंगे।

52. गात्रभंग-कसरत, मल्ल कुश्ती आदि करे।

इस प्रकार उपर्युक्त 52 अनाचरणों का त्याग करके साधु शुद्ध संयम का पालन करे।

(ब) बीस असामधि दोष[१] -

संयम में असमाधि उत्पन्न करने में निम्न 20 दोष है-

1. जल्दी-जल्दी चलना।

2. प्रकाशित स्थान में दृष्टि से देखे बिना चले और अप्रकाशित स्थल पर रजोहरणादि से पूंजे (प्रमार्जन) बिना चलना।

3. प्रमार्जन अन्य स्थल पर करे, चले अन्य स्थान पर।

4. पाट, पट्टे आदि अधिक सेवन करे।

5. रत्नाधिक-गुणवन्त के सामने बोले।

6. स्थविर (वृद्ध) आदि की मौत इच्छे।

7. सर्व प्राण, भूत, जीव, सत्त्व के घात की इच्छा करे।

8. बात-बात में गुस्सा करे।

9. निंदा करे।

10. बारम्बार निश्चय भाषा (यह काम करूँगा, यहाँ जाऊँगा) बोले।

11. नये-नये झगड़े पैदा करें।

12. पुराने झगड़ों को उखाड़े, गुजरी गई बातों को पुनः पुनः याद करे और क्षमा माँगने पर भी लड़ाई करे।

13. बत्तीस प्रकार की असज्झायों में सज्झाय करे।

14. रास्ते की धूल से सने पैरों (सचित रज से लिप्त) का प्रर्माजन किये बिना आसन पर बैठे।

15. रात्रि के अंतिम प्रहर से सूर्योदय पर्यन्त जोर से बोले।

16. मृत्यु होने जैसी लड़ाई-झगड़ा करे।

---

१. दशाश्रुतस्कंध अध्य. १.२

17. कटुवचन, अपशब्द बोले।

18. स्व-पर को, असमाधि उत्पन्न करने वाले वचन बोले।

19. सुबह से शाम तक खा-खा करे (व्रतादि न करे)।

20. दूषित आहार-पानी ग्रहण करें।

(ख) 21 सबल (बड़े) दोष[1] -

21 दोष जो कि बलवान है, उनका सेवन न करके त्याग करने का निर्देश किया है। दोष तो सदैव त्याज्य ही होते हैं, किन्तु सबल दोष होने की वजह से, दोष विशेष रूपसे त्यागने योग्य हैं। वे दोष निम्न हैं-

1. हस्त कर्म करना।

2. मैथुन सेवन करना।

3. रात्रि में चारों आहार का सेवन करना।

4. राजपिंड (अति पौष्टिक आहार कि जो राजवंशजों के लिए बनाया गया हो। जिसमें शराब, मांस आदि सम्मिलित हों) आहार ग्रहण करना।

5. आधाकर्मी आहार (साधु के निमित्त निर्मित किया गया आहार) सेवन करना।

6. कीयगडं-खरीदा हुआ लेना।

पामीचं-उधार लिया हुआ, अछेजं-निर्बल के हाथ से छीन कर लेना,

अणिसिट्ठं-स्वामी की आज्ञा के बिना लेना, अभिहडं-सन्मुख लाकर देवे इन पाँच दोषों से युक्त आहार लेना।

9. एक महिने में 3 बड़ी नदी पार करना।

10. एक महिने में 3 बार कपट करे तो।

11. शय्यातर के घर का आहार ले तो। (मकान में उतरने की आज्ञा देने वाला)

12-14. आकुटी (इरादापूर्वक) हिंसा करे, असत्य बोले, चोरी करे तो।

15. सचित पृथ्वी पर बैठे तो।

16. सचित्त धूल की रज से युक्त पाट, पट्टे ग्रहण करे तो।

---

१. दशाश्रुतस्कंध अध्य. १.२

17. सड़े हुए पाट कि जिसमें जंतुओं के अंडे उत्पन्न हो गये हों, वैसी प्रयोग में ले तो।

18. 'कंद' (मूल-जड़), 'खंध' (उपर का थड़), 'शाखा' बड़ी डाली, 'प्रतिशाखा' (छोटी डाली) 'त्वचा' (छाल), 'प्रवाल' (कोंपल), पत्ते, फूल, बीज, हरित, इस प्रकार 10 कच्ची वनस्पति का उपयोग करे तो।

19. एक वर्ष में दस बार नदी पार करे तो।

20. एक वर्ष में दस बार माया स्थान सेवन करे तो।

21. सचित्त पानी से, हरी वनस्पति से या ऐसे कोई सचित्त पदार्थ से युक्त भोजनवाला आहार-पानी आदि ग्रहण करे तो।

इस प्रकार ये 21 सबल दोष है। जिस प्रकार निर्बल व्यक्ति शक्ति के उपरांत भार उठाने पर मर जाता है, उसी प्रकार इन 21 प्रकार के दोषित कार्य करने से संयम रूपी धन का नाश होता है।

(3) साधु : आचार विधान

षडावश्यक-

जिस प्रकार वैदिक परंपरा में सन्ध्याकर्म है, बौद्ध परंपरा में उपासना है, पारसियों में खोर देह अवेस्ता है, यहूदी और ईसाईयों में प्रार्थना है, इस्लाम धर्म में नमाज है, उसी प्रकार जैन धर्म में गुणों की अभिवृद्धि के लिए और दोषों की विशुद्धि के लिए कुछ क्रियाएं आवश्यक है। जैसा कि नाम है-आवश्यक, वैसा ही इससे तात्पर्य भी यही है कि "जो अवश्य करणीय है वह आवश्यक है।[१]" आवश्यक जैन साधना का मुख्य अंग है। इसका विधान साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका सभी के लिए किया गया है।[२] यद्यपि इसका विधान सब के लिए किया है, तथापि साधु के लिए तो यह अनिवार्य है। इस आचार का पालन अवश्यंभावी है। गृहस्थ को भी यह करना चाहिए, किन्तु अकाट्य रूप से उनके लिए विधान नहीं। मात्र बारह व्रतधारी के साथ अनिवार्यता रखी गई है। अन्य गृहस्थी चाहे तो करे। नहीं करने पर उनके लिए कोई प्रायश्चित नहीं।

---

१. आव. मूल्य वृत्ति प. १८६, मूलाचार अधि. ७

२. आव. वृत्ति गा. २

साधु में भी प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के साधुओं के लिए यह नियम है कि वे अनिवार्य रूप से आवश्यक करें। किन्तु मध्य के 22 तीर्थकरों के लिए अनिवार्यता नहीं, यदि कारण का योग होतो करना चाहिये।[१] ये आवश्यक उभयकाल किये जाते हैं।[२]

जैनागमों में ये आवश्यक कर्म छः मान गये हैं[३]-

1. सामायिक-समताभाव रखना।
2. चतुर्विंशतिस्तव-चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करना।
3. वंदन-गुरुजनों को वंदना, उनका गुणगान।
4. प्रतिक्रमण-सदाचार में लगे हुए दोषों का प्रायश्चित करना।
5. कायोत्सर्ग-चित्त को एकाग्र करके शरीर पर से ममत्व हटाना।
6. प्रत्याख्यान-आहार आदि का त्याग करना।

१. सामायिक (सावद्य योग विरति)-

षड़ावश्यक में सामायिक का प्रथम स्थान है। यह जैन आचार का ही नहीं चौदह पूर्वों का सार है।[४] यह समत्व वृत्ति की उत्कृष्ट साधना है। समत्व साधना के दो पक्ष हैं-1. बाह्य रूप से यह सावद्य (पापकारी) प्रवृत्तियों का त्याग है[५] तथा 2. आन्तरिक रूप में सभी प्राणियों के प्रति आत्मभाव तथा सुख-दुःख, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, निंदा-प्रशंसा में समभाव रखना है।[६] वास्तव में समता का विकास जीवन की पहली आवश्यकता है। जब आत्मा की परिणति विषम होती है, तब असत् प्रवृत्तियाँ होती है और जब आत्मा की प्रवृत्ति सम होती है, तब असत् प्रवृत्तियाँ स्वतः निरुद्ध हो जाती है। इस सम परिणति का नाम ही सामायिक है।

सामायिक में साधक की चित्तवृत्ति एकदम शांत रहती है, इसलिए वह नवीन कर्मों का बंध नहीं करता। आत्मस्वरूप में स्थित रहने के कारण जो कर्म शेष रहे हुए हैं, उनकी वह निर्जरा कर लेता हैं। इसीलिए आचार्य हरिभद्र ने लिखा है कि सामयिक की विशुद्ध साधना से जीव घातिकर्मों को नष्ट कर केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है।[७]

---

१. आ. नि. गा. १२४४
२. आव. मलय. टीका प. ८६
३. उत्तर २९.८-१३
४. विशेषा. भा.गा. २७९६
५. नियमासार १२५
६. उत्तरा. १९.९०-९१
७. अष्टक प्रकरण ३०.१

इस प्रकार जिसके द्वारा पर-परिणति (बाह्य मुखता) से आत्म-परिणति (अन्तर्मुखता) की ओर जाया जाता है,वही सामायिक है।[१]

इस समत्व की साधना की चर्चा दोनों परंपराओं में आलेखित है। बौद्ध दर्शन में भी यह समत्व वृत्ति स्वीकृत है। धम्मपद में कहा गया है कि सब पापों को नहीं करना और चित्त को समत्ववृत्ति में स्थापित करना ही बुद्ध का उपदेश है।[२] गीता के अनुसार सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि[३] , सुख-दुःख, लोह-कंचन, प्रिय-अप्रिय और निंदा-स्तुति, मान-अपमान, शत्रु-मित्र में समभाव और सावद्य (आरम्भ) का परित्याग ही नैतिक जीवन का लक्षण है।[४]

श्रीकृष्ण अर्जुन को यही उपदेश देते हैं कि हे अर्जुन, तू अनुकूल और प्रतिकूल सभी स्थितियों में समभाव धारण कर।[५]

साधक चाहे वह गृहस्थ हो या साधु समत्व की साधना करके ही आत्मकल्याण कर सकता है। व्यावहारिक पक्ष हो या नैश्चियिक जीवन तथा आत्मा में गुणों का आधान समता के द्वारा होता है। गृहस्थ साधक के लिए व्यवहार से सामायिक व्रत दो घड़ी (48 मिनिट) के लिए होती है निश्चय में समत्व वृत्ति या समता भाव ही सामायिक है। निषेधात्मक रूप में वह सावद्ययोग (पापकारी कार्यों) से विरति है तो विधिरूप से वह समत्व की साधना है-मन, वचन और काया से।

चतुर्विंशतिस्तव (उत्कीर्तन)-

जैन परंपरा में भक्ति का महत्त्व रहा है, किन्तु उसका संबंध सर्व शक्ति-संपन्न सत्ता से नहीं। चतुर्विंशतिस्तव भक्ति साहित्य की एक विशिष्ट रचना है। उसमें किसी शक्ति को प्रसन्न करने व उससे कुछ पाने के लिए भक्ति नहीं की जाती, किन्तु उसका प्रयोजन वीतरागता के प्रति होता है। कालचक्र के वर्तमान खण्ड में चौबीस तीर्थंकर हुए। वे सब स्वयं वीतराग और वीतराग-धर्म के प्रवर्तक थे। इसलिए उनकी स्तुति आवश्यक में सम्मिलित की गई। इससे जीव दर्शन की विशुद्धि करता है।[६]

---

१. गोम्मटसार, जीवकाण्ड (टीका) ३६८
२. धम्मपद १८३
३. गीता ६.३२
४. वही १४.२४.२५
५. गीता २.४९
६. उत्तरा २९.९

इस आवश्यक में जो जैन तीर्थकरों की स्तुति का विधान किया है, उसका कारण यह है कि उनके गुणों का चिन्तन करके अपनी अन्तश्चेतना को जागृत करना चाहिये।

तीर्थंकर साधनामार्ग के आलोक-स्तम्भ है। जैसे आलोक-स्तम्भ जहाज का पथ प्रदर्शन करता है, पर चलने का कार्य तो जहाज का ही है। वैसे ही साधना की ओर प्रगति करना साधक का कार्य है। जैन दृष्टि से भक्ति का लक्ष्य अपने-आप का साक्षात्कार है।

चतुर्विंशतिस्तव से अनेक लाभ है। उससे श्रद्धा परिमार्जित होती है, सम्यक्त्व विशुद्ध होता है। उपसर्ग और परीषहों को समभाव से सहन करने की शक्ति विकसित होती है और तीर्थंकर बनने की पवित्र प्रेरणा मन में उद्‌बुद्ध होती है। इसलिए षडावश्यकों में तीर्थंकर स्तुति या चतुर्विंशतिस्तव को स्थान दिया गया।

3. वन्दन (गुणवत् प्रतिपत्ति)-

वन्दन अर्थात् गुरु उपासना। यह तीसरा आवश्यक है। साधना के क्षेत्र में तीर्थंकर के पश्चात् दूसरा स्थान गुरु का है। देव के पश्चात् गुरु को नमन किया जाता है। उनका स्तवन, अभिवादन किया जाता है। वन्दन मन, वचन और काया का प्रशस्त व्यापार है, जिसके द्वारा प्रथ-प्रदर्शक गुरु एवं विशिष्ट साधनारत साधकों के प्रति श्रद्धा और आदर प्रकट किया जाता है।

वंदन किसे किया जाये ? आचार्य भद्रबाहू ने स्पष्ट रूप से निर्देश किया है कि "गुणहीन एवं दुराचारी अवंद्य व्यक्ति को वंदन करने से न तो कर्मों की निर्जरा होती है न कीर्ति ही। प्रत्युत् असंयम और दुराचार का अनुमोदन होने से कर्मों का बंध होता है। ऐसा वंदन व्यर्थ का कार्यक्लेश है।"[१] इसके अतिरिक्त यहाँ तक कहा गया है कि "जो व्यक्ति अपने श्रेष्ठ जनों से वंदन करवाता है, वह असंयम में वृद्धि करके अपना अधः पतन करता है।[२] स्पष्ट है जैन परंपरा में चारित्र एवं गुणों से सुसंपन्न ही वंदनीय है। प्रत्येक आवश्यक के पूर्व एवं पश्चात् गुरु की वंदना अवश्यकरणीय बतलाई है।[३]

---

१. आव. नि. ११०८
२. आव. नि. ११०९
३. उद्धृत-समाचारी

वंदन आवश्यक का फल बतलाया है कि "गुरुवंदना से जीव नीचगोत्र कर्म का क्षय करके उच्चगोत्र कर्म का बंध करता है, और अप्रतिहत सौभाग्यवाला तथा सफल आज्ञावाला होता हुआ सर्वत्र आदर प्राप्त करता है।"[१] वंदन करने से अहंकार नष्ट होता है, विनय की उपलब्धि होती है। सद्गुरुओं के प्रति अनन्य श्रद्धा व्यक्त होती है। आज्ञा पालन होने से शुद्ध धर्म की आराधना होती है। अतः साधक को सतत् जागरूक रहकर वंदन रहना चाहिये। उत्तराध्यन में इसकी पुष्टि की गई है "वंदन करने से व्यक्ति लोकप्रियता प्राप्त करता है।"[२]

जैन परंपरा के समान बौद्ध एवं वैदिक परंपरा में भी वंदन को महत्त्वपूर्ण स्थान आवश्यक के समान वर्णित किया है। धम्मपद में उल्लेख है कि "पुण्य की इच्छा से किया व्यक्ति का वर्षभर में यज्ञ और हवन का फल पुण्यात्माओं के अभिवादन के फल का चतुर्थ भाग भी नहीं है। अतः सरल मानस वाले महात्माओं को नमन करना चाहिये। सदा वृद्धों की सेवाकरने वाले और अभिवादनशील पुरुष की चार वस्तुएं वृद्धि को प्राप्त होती है-आयु, सौन्दर्य, सुख और बल।"[३]

वैदिक परंपरा में भी वदंन सद्गुणों की वृद्धि के लिए आवश्यक माना है।[४] श्रीमद्भागवत में नवधाभक्ति का उल्लेख है।[५]

उस नवधाभक्ति में वंदन भी भक्ति का एक प्रकार बताया गया है। श्रीमद् भगवद्गीता में 'मां नमस्कुरु' कहकर श्रीकृष्ण ने वंदन के लिए भक्तों को उत्प्रेरित किया है।[६]

इस प्रकार सर्व परंपराओं में 'वंदन' को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। जैन परंपरा में इसकी गणना आवश्यक में करके इसके गौरव में वृद्धि की है।

4. प्रतिक्रमण (स्खलितनिन्दना-पापों की आलोचना)-

प्रतिक्रमण जैन परंपरा का एक विशिष्ट प्रक्रिया शब्द है। जिसका शाब्दिक अर्थ है-पुनः लौटना एवं आचार्य हेमचंद्र[७] के अनुसार शभु योगों में से अशभु योगों में गये हुए अपने आपको पुनः शुभ योगों में लौटा लाना प्रतिक्रमण है। हम

१. उत्तरा. २९.१०
२. वही २९.१०
३. धम्म पद १०९
४. मुनिस्मृति २.१२१
५. श्रीमद्भागवत पुराण ७.५.२३
६. गीता १८.६५
७. योगाशास्त्र, तृतीय प्रकाश स्वोपज्ञवृत्ति

अपनी मर्यादाओं का अतिक्रमण कर, अपनी स्वभाव दशा से निकलकर विभाव दशा में चले गये, अतः पुनः स्वभाव के प्रति आगमन करना प्रतिक्रमण है। जो पाप मन, वचन और काया से स्वयं किये जाते हैं, दूसरों से करवाये जाते हैं एवं दूसरों के द्वारा किये हुए पापों का अनुमोदन किया जाता है, उन सभी पापों की निवृत्ति हेतु, किये गये पापों की आलोचना करना, निंदा करना प्रतिक्रमण है।

आवश्यक सूत्र की निर्युक्ति, चूर्णि, वृत्ति आदि ग्रंथों में इसकी विस्तृतचर्चा की गई है। साधारणतया यह समझा जाता है कि प्रतिक्रमण अतीतकाल में लगे हुए दोषों की परिशुद्धि के लिए है। परन्तु आचार्य भद्रबाहु[१] एवं. आ. हरिभद्र[२] ने निर्देश किया है कि "प्रतिक्रमण केवल अतीतकाल में लगे दोषों की ही परिशुद्धि नहीं करता, अपितु वह वर्तमान और भविष्य के दोषों की भी शुद्धि करता है। अतीतकाल में लगे हुए दोषों की शुद्धि तो प्रतिक्रमण में की जाती ही है। वर्तमान में भी साधक संवर साधना में लगा रहने से पापों से निवृत्त हो जाता है। साथ ही प्रतिक्रमण में वह प्रत्याख्यान ग्रहण करता है, जिससे भावी दोषों से भी बच सकता है। भूतकाल के अशुभ योग से निवृत्ति, वर्तमान में शुभ योग में प्रवृत्ति और भविष्य में भी शुभ योग में प्रवृत्ति करुंगा, इस प्रकार वह संकल्प करता है।"

काल की दृष्टि से प्रतिक्रमण पाँच प्रकार का होता है-

1. दैवसिक-दिन के अंत में किया जाने वाला प्रतिक्रमण दैवसिक है।

2. रात्रिक-रात्रि में लगे दोषों का रात्रि के अंत में किया जाने वाला प्रतिक्रमण।

3. पाक्षिक-पंद्रह दिन के अंत में अमावस्या और पूर्णिमा को अथवा चतुर्दशी के दिन संपूर्ण पक्ष में आचरित पापों का प्रतिक्रमण करना।

4. चातुर्मासिक-चार चार माह के पश्चात् कार्तिकी चौदस/पूर्णिमा, फाल्गुनी चौदस/पूर्णिमा, आषाढ़ी चौदस/पूर्णिमा के दिन चार महिने में लगे हुए दोषों की आलोचना कर प्रतिक्रमण करना चातुर्मासिक प्रतिक्रमण है।

5. सांवत्सरिक-प्रत्येक वर्ष संवत्सरी महापर्व के दिन वर्ष भर के पापों का चिन्तन कर उनकी आलोचना करना सांवत्सरिक प्रतिक्रमण है। भाद्रवा शुक्ला चतुर्थी/पंचमी को यह महापर्व आता है।

---

१. आव. नि. सा

२. आव. हारिभद्रीय वृत्ति

इस प्रकार प्रतिक्रमण जैन साधना का प्राणतत्त्व है, जो कि साधक के जीवन की अपूर्व क्रिया है। बौद्ध एवं वैदिक परंपरा में समान रूप से इसे महत्त्व दिया गया है। वास्तव में यह परंपरा न्यूनाधिक रूप से सब परंपराओं में रही है।

बौद्ध परंपरा में प्रवारणा-

बौद्ध परंपरा में प्रतिक्रमण के स्थान पर प्रतिकर्म, प्रवारणा और पापदेशना नाम प्राप्त होते हैं। उदान में उल्लेख है कि "जीवन की निर्मलता एवं दिव्यता के लिए पापदेशना आवश्यक है। पाप के आचरण की आलोचना करने से भार हल्का हो जाता है।[१] बौद्ध आचार-दर्शन में प्रवारणा के नाम से पाक्षिक प्रतिक्रमण की परंपरा स्वीकार की गई है। बोधिचर्यावतार में तो आचार्य शांतिदेव ने पाप देशना के रूप में दिन और रात्रि में तीन-तीन बार प्रवारणा का उल्लेख किया है। उनका कथन है कि तीन बार रात में और तीन बार दिन में त्रिस्कन्ध (पापदेशना, पुण्यानुमोदना और बोधि परिणामना) की आवृत्ति करनी चाहिये। इससे अनजान में हुई आपत्तियों का उससे शमन हो जाता है।[२] पुनः उनका कथन है कि जो भी प्रकृति सावद्य और प्रज्ञप्ति सावद्य पाप मुझ अबोध मूढ़ ने कमाये, उन सबकी देशना, दुःख से घबराकर, मैं प्रभुओं के सामने हाथ जोड़कर बारम्बार प्रणाम करता हूँ। हे नायकों, अपराध को अपराध के रूप में ग्रहण करो। हे प्रभुओं, मैं यह पाप फिर न करूँगा।[३] जैन परंपरा के अनुसार के 25 मिथ्यात्व, 14 ज्ञानातिचार, 18 पाप स्थान का आचरण अथवा मूलगुण का भंग प्रकृति सावद्य हैं, क्योंकि इनसे दर्शन, ज्ञान चारित्र का मूलोच्छेद होता है एवं व्रत व प्रतिज्ञा में लगने वाले दोष या स्खलनाएं प्रज्ञप्ति सावद्य है।

प्रवारणा के लिए यह भी आवश्यक माना गया है कि वह संघ के सानिध्य में ही हो। इस प्रकार बौद्ध परंपरा में प्रतिक्रमण रूप दृष्टिगोचर होता है।

वैदिक परंपरा-

वैदिक परंपरा में प्रतिक्रमण की भांति संध्या करने का विधान है, जो कि प्रातःकाल एवं सायंकाल दोनों समय की जाती है। कृष्णयजुर्वेद में जिस मंत्र का उच्चारण किया जाता है, वह प्रतिक्रमण विधि का संक्षिप्त स्वरूप ही है। उसमें

---

१. उदान ५.५

२. बोधिचर्यावतार ५.९८

३. वही २.६४-६६

संकल्प है कि मैं आचरित पापों के क्षय के लिए परमेश्वर के प्रति उस उपासना को संपन्न करता हूँ। इसका मैं विसर्जन करता हूँ।[१] इसी प्रकार पारसी धर्म में भी पापों को प्रकट करने का विधान है।[२] ईसाई धर्म में भी पापों का प्रगटन आवश्यक माना गया है। इस प्रकार प्रतिक्रमण आलोचना का स्वरूप प्रायः सर्व धर्मों में स्वीकार किया गया है।

5. कायोत्सर्ग (व्रण चिकित्सा)

जैन साधना पद्धति में कायोत्सर्ग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें दो शब्द है- काय और उत्सर्ग। इनका अर्थ है-शरीर का त्याग करना। शरीर त्याग से यहाँ तात्पर्य है-दैहिक चंचलता और देहासक्ति का त्याग अर्थात् शरीर से ममत्व को छोड़कर तथा स्व स्वरूप में लीन होकर निश्चल होना। आचार्य भद्रबाहू का कथन है कि कायोत्सर्ग की स्थिति में साधक को यदि कोई भक्तिभाव से चंदन लगाए या कोई द्वेष पूर्वक बसूले से शरीर का छेदन करे, चाहे उसका जीवन रहे या मृत्यु का वरण करना पड़े-- वह सब स्थितियों में सम रहता है। तभी कायोत्सर्ग विशुद्ध होता है। कायोत्सर्ग के समय देव, मानव और तिर्यञ्च संबंधी सभी प्रकार के उपसर्ग उपस्थिति होने पर जो साधक उनको समभावपूर्वक सहन करता है, उसी का कायोत्सर्ग वस्तुतः सही कायोत्सर्ग है।[३] कायोत्सर्ग क्यों किया जाये ? इसका समाधान है कि 'संयमी जीवन को अधिकाधिक परिष्कृत करने के लिए, आत्मा को माया, मिथ्यात्व और निदान शल्य से मुक्त करने के लिए, पाप कर्मों के निर्घात के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है।[४]

यह एक प्रकार का तप भी है। इस प्रकार प्रतिक्रमण के सदृश कायोत्सर्ग से साधक अतीत एवं वर्तमान के दोषों का शोधन करता है, फिर प्रायश्चित से विशुद्ध होकर कर्मभार से हल्का हो जाता है। तदनन्तर वह चिन्तारहित होकर शुभ (प्रशस्त) ध्यान में लगा हुआ सूखपूर्वक विचरण करताहै।[५] इस कायोत्सर्ग को सब प्रकार के दुःखों से छुड़ाने वाला भी कहा गया है।[६]

वस्तुतः कायोत्सर्ग ध्यान-साधना का आवश्यक अंग होने से इसे षडावश्यक में सम्मिलित किया है।

---

१. कृष्ण यजुर्वेद-दर्शन और चिन्तन भाग-२ पृ.१९८ से उद्धृत २. खोरदेह अवस्ता पृ. ४/२३-२४
३. आव.नि.गा. १५४८-४९ ४. आवश्यक सूत्र-तस्सउत्तरी सूत्र
५. उत्तरा. २६.३९ ६. वही २९.१३

बौद्ध परंपरा में भी इसे स्वीकार किया गया है। आचार्य शांतरक्षित के कथनानुसार सब देहधारियों को जैसे सुख वैसे यह शरीर मैंने न्यौछावर कर दिया है। वे अब चाहे इसकी हत्या करें, निन्दा करें अथवा इस पर धूल फकें, चाहे खेले, और विलास करें। मुझे इसकी क्या चिन्ता? मैंने शरीर उन्हें दे डाला है।[1] यहाँ इस कथन में कायोत्सर्ग की झलक मिलती है। विपश्यना आदि में भी देह के प्रति ममत्व हटाने की साधना है।

वैदिक परम्परा में गीता का ध्यान-योग इसी को पुष्ट करता है। गीता में उल्लेख है कि शुद्ध भूमि में कुशा, मृगछाला और वस्त्र है, उपरोपरि अपने आसन को न अति ऊँचा और न अति नीचा, स्थिर स्थापित करके काया, सिर और ग्रीवाको समान और अचल धारण किये हुए दृढ़ होकर अपने नासिका के अग्रभाग को देखकर अन्य दिशाओं को न देखता हुआ और ब्रह्मचर्य के व्रत में स्थिर रहा हुआ, भय रहित और अच्छी तरह से शान्त अन्तःकरणवाला और सावधान होकर, मन को वश में करके मेरे में लगे हुए चित्तवाला और मेरे में परायण हुआ स्थित होवे।[2]

इस प्रकार सभी परम्पराओं में प्रकारान्तर से कायोत्सर्ग विधि को अपनाया है। काया का बारबार उत्सर्ग शारीरिक, मानसिक और आत्मिक दृष्टि से लाभदायक है।

6. प्रत्याख्यान (गुणधारण-आगे के लिए त्याग, नियम ग्रहण आदि)

प्रत्याख्यान शब्द का अर्थ है-परित्याग करना। यद्यपि साधु सर्व-विरत होता है, तथापि आहारादि का अमुक समय विशेष के लिए त्याग करना प्रत्याख्यान आवश्यक है। इसके करने से मन, वचन और काया की दूषित प्रवृत्तियाँ रूक जाती हैं और फिर कर्मों का आस्रवद्वार भी बंद हो जाता है।[3] आवश्यक के प्रकारों में प्रत्याख्यान का समावेश इसलिये किया गया है कि साधक आत्मशुद्धि के लिए प्रतिदिन यथाशक्ति किसी न किसी प्रकार का त्याग करे। नियमित त्याग करने से अभ्यास होता है, साधना परिपुष्ट होती है और जीवन में अनासक्ति का विकास और तृष्णा मंद होती है। इसीलिए भद्रबाहू स्वामी ने आवश्यक निर्युक्ति में उल्लेख किया है कि प्रत्याख्यान से संयम होता

१. बोधिचर्यावतार ३-१२-१३
२. गीता ६.११, १३-१४
३. उत्तरा. २९.१३

है। संयम से आस्रव का निरुन्धन होता है और आस्रव के निरुन्धन से तृष्णा का अन्त हो जाता है।[१] तृष्णा के अन्त से अनुपम उपशम भाव उत्पन्न होता है और उससे प्रत्याख्यान विशुद्ध बनता है।[२] उपशमभाव की विशुद्धि से चारित्रधर्म प्रकट होताहै। चारित्र से कर्म निर्जीर्ण होते हैं और उससे केवलज्ञान-दर्शन होता है, फलस्वरूप शाश्वत मुक्ति सुख प्राप्त होता है।[३] गीता में प्रत्याख्यान के समान त्याग का विवेचन उपलब्ध है। यह त्याग भी तीन प्रकार का है[४]

1. सात्त्विक-शास्त्रविधि से नियम किया हुआ कर्त्तव्य-कर्म करते हुए उसमें आसक्ति और फल का त्याग कर देना।

2. राजस-सभी कर्म दु:ख रूप हैं, ऐसा समझकर शारीरिक क्लेश के भय से कर्मों का त्याग करना राजस त्याग है।

3. तामस-नियत कर्म का त्याग करना योग्य नहीं है, इसलिए मोह से उसका त्याग करना तामस त्याग है।

वास्तव में प्रत्याख्यान अमर्यादित जीवन को मर्यादित व अनुशासित बनाता है। यह त्याग के संबंध में ली गई प्रतिा या आत्मनिश्चय है।

इस प्रकार षट् आवश्यकों का विधान प्राय: सभी परम्पराओं में प्रकारान्तर से वर्णित है। जैन परम्परा में इन आवश्यकों का जो क्रम रखा गया है, वह कार्यकारण की श्रृंखला पर अवस्थित है तथा पूर्ण वैज्ञानिक है। साधक को सर्वप्रथम समता को प्राप्त करना आवश्यक है। विषमभाव से निवृत्ति हो जाने पर समत्व भाव धारण करने वाला वीतरागी महापुरुषों के गुणों का संकीर्त्तन करके उनके उदात्त गुणों को जीवन में उतारता है। इसलिए सामायिक के पश्चात् चतुर्विंशतिस्तव का क्रम है। तब साधक भक्ति में विभोर होकर उनको वंदना करता है। वंदन करने वाले सरल आत्मा कृत दोषों की आलोचना करता है, अत:वंदन के पश्चात् प्रतिक्रमण आवश्यक का निरूपण है। उसके पश्चात् कायोत्सर्ग से तन मन की एकाग्रता की जाती है। स्थिरवृत्ति के अभ्यास के लिए प्रत्याख्यान किया जाता है। इसलिये आवश्यकों में प्रत्याख्यान छठा है। इस प्रकार यह षडावश्यक आत्म निरीक्षण, आत्मपरीक्षण और आत्मोत्कर्ष का श्रेष्ठ उपाय है।

---

१. आव. नि. १५९४
२. वही १५९५
३. वही १५९६
४. गीता १८.४, ७-९

(क) समाचारी: विशिष्ट क्रियाएँ

समाचारी जैन संस्कृति का पारिभाषिक शब्द हैं। वह विशेष क्रिया कलाप जो साधुओं के लिए मौलिक नियमों की भांति विशेष रूप से पालन करने होते हैं, वे समाचारी कहे जाते हैं। सम्यक् दिनचर्या भी इसका अर्थ हो सकता है। भगवती[१], स्थानांग[२], उत्तराध्ययन[३], में इसका उल्लेख प्राप्त होता है। यह दस प्रकार की कही गई है[४] इसे दसविध चक्रवाल समाचारी भी कहा जाता है।

1. आवश्यकी-साधु आवश्यक कार्य से ही अपने उपाश्रय (निवास स्थान) से बाहर जावे, अन्यथा अनावश्यक आवागमन न करे।

2. नैषेधिकी-आवश्यक कार्य को करने के पश्चात् निवृत्त होकर आने पर नैषिधिकी का उच्चारण करे यह स्थान प्रवेश का द्योतक है।

3. आपृच्छा-अपना कोई भी कार्य हो, गुरुजनों से पूछना, उनका आदेश निर्देश लेना यह आपृच्छा समाचारी है।

4. प्रतिपृच्छा-दूसरे के लिए पूछना प्रतिपृच्छा है अथवा पुनः दूसरी बार पूछना प्रतिपृच्छा है।

5. छन्दना-अपने द्वारा लाये हुए आहार, वस्त्र आदि को आचार्य, ज्येष्ठ-श्रमण गुरुजन आदि को आमन्त्रण देना। बाल, ग्लान, शैक्ष आदि को ग्रहण करने तथा उपभोग करने को आमन्त्रित करना, छन्दना है। अकेला-चुपचाप उसका उपभोग न करें।

6. इच्छाकार-साधुओं की इच्छानुसार तदनुकूल आचरण करे।

7. मिच्छाकार-स्खलना होने पर, गलती होने पर उसका पश्चात्ताप करे, ''मिच्छामि दुक्कड़म्'' कहे एवं नियमानुसार प्रायश्चित ग्रहण करे।

8. तथाकार-इसे 'प्रतिश्रुत तथ्यकार' भी कहते हैं। आचार्य, गुरु एवं रत्नाधिक (अपने से बड़े) की आज्ञा स्वीकारना। उनके कथन पर विश्वास करना।

9. अभ्युत्थान-गुरुजनों का विनय करना, आने पर खड़ा होना, सेवा शुश्रूषा करना अभ्युत्थान है। इसी प्रकार सत्कार सम्मान भी अभ्युत्थान है।

---

१. भगवती २५.७
२. स्थानांग १०.७४९
३. उत्तराध्यय २६
४. वही २६.२-७

10. उपसम्पदा-एक गण से दूसरे गण में ज्ञानार्जन के लिए, स्थिरीकरण अथवा दर्शन विषयक शास्त्रों को ग्रहण करने के लिए तथा विशिष्ट साधना-तप, वैयावृत्य के लिए जाना उपसम्पदा है।

ये सर्व सामाचारी साधु के लिए अत्यावश्यक है। इसके अनुकूल आचरण से सद्गुणों की अभिवद्धि होती है। तदनुसार आचरण करके साधु कर्म-क्षय करके मुक्त होने का प्रयास करता है।

(ख) साधु के विविध कल्प

कल्प (कप्प) शब्द का अर्थ है-आचार-विचार के नियम, उमास्वातिजी के अनुसार-"जो कार्य ज्ञान, शील, तप का उपग्रह करता है, और दोषों का निग्रह करता है, वह निश्चयदृष्टि से कल्प है।[१] कल्पसूत्र में श्रमणों के आचार को कल्प कहा गया है।[२] जैन परम्परा के समान वैदिक परम्परा में भी कल्प शब्द आचार के नियमों के लिए व्यवहृत हुआ है। वैदिक कल्पसूत्र में गृहस्थ और त्यागी ब्राह्मणों के आचार वर्णित है।"

जैन परम्परा में निम्न दस कल्पों का विधान है[३]

1. आचेलक्य 2. औद्देशिक 3. शय्यातर 4. राजपिण्ड 5. कृतिकर्म 6. व्रत 7. ज्येष्ठ 8. प्रतिक्रमण 9. मासकल्प 10. पर्युषणा-कल्प।

1. आचेलक्य

चेल अर्थात् वस्त्र। वस्त्र का अभाव अचेल है। दिगम्बर सम्प्रदाय में अचेल का अर्थ वस्त्र रहित किया है। इससे आचेलक्य कल्प का अर्थ हुआ-मुनि को वस्त्र धारण नहीं करना चाहिये। 'अ' शब्द का अर्थ अल्प भी किया गया है। इससे आचेलक्य का अर्थ अल्पवस्त्र भी हो जाता है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुसार मुनि को कम से कम वस्त्र धारण करना चाहिए।

---

१. प्रशमरति १४३

२. कल्पसूत्र कल्पलता गा. १. पृ. २

३. आव. नि. मलय. वृत्ति १२१, निशीथ भा. ५९३३, बृहत्कल्प. ६३-६४ भगवती अराधना ४२७ पंचाशक-१७.६-४०

2. औद्देशिक

इस कल्प का अर्थ यह है कि साधु को उसके उद्देश्य से, निमित्त से लाये गये अथवा खरीदे गये आहार, पेय, वस्त्र, पात्र, उपगरण तथा निवास ग्रहण नहीं करना चाहिये।[1] अशन-वसन और भवन आदि अग्राह्य और असेव्य है।[2] प्रथम व अन्तिम तीर्थंकर के शासन का साधु किसी भी श्रमण के उद्देश्य से बने आहार को ग्रहण नहीं कर सकते, जब कि अन्य 22 तीर्थकरों के साधु दूसरे साधु के निमित्त बने आहारादि को ग्रहण कर सकता था, वह उसके लिए ग्राह्य हो जाता था।[3] औद्देशिक आहार ग्रहण करने का निषेध इसलिए है कि इससे त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा का अनुमोदन होता है।

3. शय्यातरपिण्ड कल्प

जो साधु को शय्या (वसति-उपाश्रय-स्थान) देता है, उसको शय्यातर कहा जाता है[4], अर्थात् वह गृहपति जिसके मकान में मुनि ठहरते हैं।[5] उस शय्यातर का आहार आदि साधु के लिए अग्राह्य होता है।

4. राजपिण्ड कल्प

राजा के यहाँ का भोजन राजपिण्ड है।[6] राजकीय भोजन साधु के लिए त्याज्य होता है। प्रथम व अन्तिम तीर्थकर के साधुओं के लिए इसका निषेध है, अन्य 22 तीर्थंकरों के साधु को नहीं।[7]

5. कृतिकर्म

कृतिकर्म का अर्थ है अपने से संयमादि में ज्येष्ठ एवं सद्गुणों से श्रेष्ठ मुनियों का सत्कार व सम्मान करना। उनके आने पर खड़े होकर बहुमान करना। उनकी हितशिक्षाओं को श्रद्धा से नतमस्तक होकर स्वीकार करना।[8] यह कल्प सार्वकालिक है।[9]

---

१. दशवै. चूर्णि (अगस्तयसिंह),- हारिभद्रीयावृत्ति ११६
२. दश. अ. ५. उ. १ गा. ५१-५२
३. दशवैकालिक अ. ५.उ.१. गा. ५१-५२
४. निशीथभाष्य पृ. १३१
५. (क) दश.वृत्ति (हारि.) ११७, चूर्णि. अगस्त्यसिंह एवं जिनदास ११३
६. वही पृ. ११२-११३
७. कल्पसमर्थन गा. २ पत्र २
८. निशीथचूर्णि भाग-२ पृ. १८७-१८८
९. कल्प समर्थन गा. १३

6. व्रतकल्प

व्रत का अर्थ है विरति।[१] अर्थात् हटना। असत् प्रवृत्तियों से हटना विरति है। करण, निवृत्ति, उपरम और विरति एकार्थक शब्द है।[२] (सभी साधुओं को पंच महाव्रतों का अप्रमत्त रहकर, मन-वचन-काया से पालन करना चाहिये। भ. पार्श्वनाथ तक चातुर्याम (व्रतों) की व्यवस्था थी, जब कि भगवान महावीर ने पंचमहाव्रतों का विधान किया।[३]

7. ज्येष्ठ कल्प

जैन परम्परा गुणप्रधान होने पर भी पुरुष ज्येष्ठ है। संभवत: इसके पीछे हमारे देश की पुरुष प्रधान सभ्यता का प्रभाव है। शतवर्ष दीक्षिता साध्वी भी अद्यदीक्षित मुनि को भक्तिभावना से नमन करती है।[४]

ज्येष्ठकल्प का दूसरा अर्थ भी है-भगवान् महावीर के आचार-दर्शन में दीक्षा दो प्रकार की मानी गई है-1. छोटी दीक्षा 2. बड़ी दीक्षा। छोटी दीक्षा परीक्षा रूप है। इसमें मुनिवेश ग्रहण करके सामायिक चारित्र लिया जाता है। उसके पश्चात् योग्यतानुसार बड़ी दीक्षा दी जाती है। इसे छेदोपस्थापनीय चारित्र कहा जाता है। इसके आधार पर ही श्रमण ज्येष्ठ व कनिष्ठ माना जाता है। छेदोपस्थापनीय में पंचमहाव्रत आरोपित किये जाते है।[५] भगवान् पार्श्व के समय मात्र सामायिक चारित्र था, जबकि भगवान् महावीर ने छेदोपस्थापनीय चारित्र का विधान किया।

8. प्रतिक्रमणकल्प

प्रतिक्रमण जैन साधु का आवश्यक अंग है। प्रतिदिन सायंकाल एवं प्रात:काल प्रतिक्रमण करना प्रतिक्रमण कल्प है। भगवान महावीर के पूर्व पार्श्वनाथ भगवान् आदि 22 तीर्थंकरों की परम्परा में दोष लगने पर ही प्रायश्चित स्वरूप प्रतिक्रमण किया जाता था। भगवान् महावीर के शासन में दोनों समय प्रतिक्रमण का विधान है।[६]

---

१. तत्त्वार्थ ७.२
२. तत्त्वार्थ भाष्य ७.१
३. उत्तरा. २३, सूत्रकृतांग २.१६
४. कल्पसमर्थन गाथा १७ पत्र. २
५. उत्तरा, २३.१२, आचा. २.१५
६. आव. नि. गा. १२४४

9. मासकल्प

साधु एक स्थान पर स्थिर होकर न रहे।[1] साधु के लिए सामान्य नियम यह है कि वह गाँव में एक रात्रि और नगर में पाँच रात्रि से अधिक न रहे। किन्तु भगवान् महावीर ने इस स्थितिकाल में परिवर्तन करके अधिक से अधिक एक स्थान पर एक मास तक रूकने की अनुमति प्रदान की है। इससे अधिक निषिद्ध किया है। किन्तु 22 तीर्थंकर के श्रमण वे चाहें तो एक स्थान पर दीर्घकाल तक रह सकते हैं। अथवा शीघ्र ही प्रस्थान भी कर सकते हैं।

इस कल्प का ध्येय है कि सतत भ्रमण से अनासक्त वृत्ति रहती है और जन सम्पर्क व जनकल्याण भी अधिकाधिक हो सकता है।

10. पर्युषण कल्प

पर्युषण का अर्थ है-आत्मा के समीप रहना। चातुर्मास काल में एक स्थान पर रहकर तप, संयम और ज्ञान की आराधना करना। इन साधनों से आत्मा के अधिकाधिक समीप रहा जा सकता है। पहले व अन्तिम तीर्थंकर के लिए पर्युषण कल्प अनिवार्य है, किन्तु 22 तीर्थंकरों के श्रमणों के लिए नहीं। वे वर्षा आदि के कारण ठहरते भी थे और कारणाभाव में विहार भी कर देते थे।[2] इनमें छः कल्प अस्थिर तथा चार कल्प अवस्थित है।[3] इस प्रकार जैन परम्परा में इन कल्पों का विधान किया गया है, जो कि साध्वाचार के आवश्यक अंग भी है।

बौद्ध परम्परा और कल्पविधान

जैन सम्मत दस कल्पों का विधान बौद्ध परम्परा में है या नहीं, उसका अवलोकन करें।

आचेलक्य कल्प के अनुसार ही यहां भी बौद्ध भिक्षु दीक्षित होने के समय ही यह निश्चित करता है कि मैं अल्प एवं जीर्ण वस्त्रों में संतुष्ट रहूँगा।[4] बुद्ध ने प्रमाणोपेत वस्त्रों का ही भिक्षु के लिए विधान किया है। औद्देशिक कल्प के लिए कुछ विधान नहीं है तो राजपिण्ड व शय्यातर का भी प्रश्न वहाँ नहीं है। कृतिकर्म में दोनों परम्परा समान है। दीक्षावय में ज्येष्ठ भिक्षु का सत्कार व सम्मान व

---

१. बृहत्कल्पभाष्य १.३६
२. कल्पसमर्थन गा. २८ प. २
३. आव. मलय. वृत्ति प. १२१
४. विनयपिटक-महावग्ग १.२.६

वंदनविधि अनिवार्य कही गई है। दीक्षावृद्ध श्रमणी के लिए छोटे बड़े सभी भिक्षुओं को वंदन करने का विधान है। भिक्षुणी के आठ गुरुधर्मों में (अट्ठगुरुधम्मा) सबसे पहला नियम यही है।[१] व्रत कल्प के सदृश यहाँ बौद्ध परम्परा में भी दो प्रकार की दीक्षा का विधान गया है–1. श्रामणेर दीक्षा 2. उपसम्पदा। श्रामणेर दीक्षा परीक्षा स्वरूप है, जिसमें दस भिक्षु–शीलों की प्रतिज्ञा की जाती है। उपसम्पदा देने के लिए पाँच अथवा दस भिक्षुओं के भिक्षु–संघ का होना अनिवार्य है।[२] इस प्रकार यह सामायिक व छेदोपस्थापनीय के तुल्य है। इस परम्परा में भी वरिष्ठता व कनिष्ठता उपसम्पदा के अनुसार ही मानी गई है। प्रतिक्रमण कल्प की भांति यहाँ प्रावरणा की व्यवस्था है, जिसमें पन्द्रहवें दिन भिक्षु संघ एकत्रित होकर आचारित पापों का प्रायश्चित करता है। यह विधि प्रतिक्रमण कल्प के समकक्ष कही जा सकती है।

मासकल्प के तुल्य यहाँ भी भिक्षु को एक स्थान पर रूकना वर्जित किया गया है। चातुर्मासकाल में एक स्थान पर रूक कर धर्म की विशेष आराधना को यहाँ भी महत्त्व दिया गया है। इस प्रकार कल्पविधान में दोनों परम्पराएँ अति निकट प्रतीत होती है।

वैदिक परम्परा में कल्पविधान

जैन परम्परा के सदृश वैदिक परम्परा में आचेलक्य कल्प के समान सन्यासी के लिए या तो नग्न रहने का या तो जीर्ण–शीर्ण अल्पवस्त्र धारण करने का विधान है।[३] औद्देशिक कल्प के सदृश तो नहीं, किन्तु भिक्षावृत्ति को मान्य किया गया है। शय्यातर व राजपिण्ड कल्प का विचार यहाँ उपलब्ध नहीं होता किन्तु कृतिकर्म कल्प व व्रत कल्प को समान ही स्थान दिया गया है। प्रतिक्रमण कल्प जैसा यहाँ विधान नहीं, किन्तु प्रायश्चित का यहाँ भी विधान है। मासकल्प के सदृश वैदिक परम्परा में भी संन्यासी को एक स्थान पर रूकना चाहिये। शेष समय गाँव में एक रात्रि और नगर में पाँच रात्रि से अधिक न रूककर भ्रमण करना चाहिए।[४]

तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाये तो कल्पविधान में जैन–बौद्ध व वैदिक परम्परा में बहुत कुछ साम्य है। जैन परम्परा में जिस प्रकार आहार के नियमों के

---

१. विनयपिटक–चूलवग्ग १०.१२
२. बुद्धिज्म पृ. ७७–७८
३. धर्मशास्त्र का इतिहास भाग १. पृ. ४९४
४. वही पृ. ४९१

अनुसार औद्देशिक कल्प पर, राजपिण्ड व शय्यातर कल्प पर जोर दिया गया है वैसा-बौद्ध एवं वैदिक परम्परा में विधान नहीं किया गयाहै। इसके पालन के मूल में अहिंसा व्रत को विशेषरूप से पुष्ट किया गया है। जैन परम्परा जितनी सूक्ष्मता से अहिंसा का विचार करती है, उतना विचार अन्य परम्परा में नहीं किया गया। फिर भी मूल मन्तव्य की दृष्टि से विशेष दूरी नहीं है।

(ग) भिक्षु प्रतिमाएँ

प्रतिमा का अर्थ है प्रतिज्ञा-विशेष। भिक्षावृत्ति से गोचरी ग्रहण करने वाले साधुओं को भिक्षु कहा जाता है। भिक्षु-प्रतिमाएँ उन भिक्षुओं द्वारा आचरित होती हैं, जिनका शारीरिक संहनन सुदृढ़ और श्रुतज्ञान विशिष्ट होता है। पंचाशक के अनुसार-"जो मुनि विशिष्ट संहनन सम्पन्न, धृति सम्पन्न और शक्ति-सम्पन्न तथा भावितात्मा होता है, वही गुरु की आज्ञा प्राप्त कर इन प्रतिमाओं का स्वीकार कर सकता है। उसकी न्यूनतम श्रुत-सम्पदा नौवें पूर्व की तीसरी वस्तु तथा उत्कृष्ट श्रुत सम्पदा कुछ न्यून दस पूर्व की होनी चाहिये।[१] ये भिक्षु प्रतिमाएँ बारह हैं[२]- 1. एक मास की भिक्षु प्रतिमा 2. दो मास को 3. तीन मास की 4. चारमास की, 5. पाँच मास की 6. छः मास की 7. सात मास की 8. प्रथम सप्त रात्रिं दिवा भिक्षु प्रतिमा 9. द्वितीय सप्तरात्रिंदिवा प्रतिमा 10. तृतीय सप्तरात्रिंदिवा प्रतिमा 11. अहोरात्रिक प्रतिमा 12. एक रात्रिक भिक्षु प्रतिमा.

एक मास की भिक्षु प्रतिमा

इस प्रतिमा के धारी भिक्षु को काया पर से ममत्व छोड़कर एक मास तक आने वाले सभी देव, मनुष्य और तिर्यञ्च-कृत उपसर्गों को सहना होता है। वह एक मास तक शुद्ध निर्दोष भोजन और पान की एक-एक दत्ति ग्रहण करता है। एक बार में अखण्ड धार से दिये गये भोजन या पानी को एक दत्ति कहते हैं। वह गर्भिणी, अल्पवयस्क बच्चे वाली, बच्चे को दूध पिलाने वाली, रोगिणी आदि स्त्रियों के हाथ से भक्त-पान को ग्रहण नहीं करता। वह दिन के प्रथम भाग में ही गोचरी निकलता है। वह कहीं भी एक या दो रात से अधिक नहीं रहता। विहार करते हुए जहाँ भी सूर्य अस्त हो जाय, वहीं ठहर कर रात्रि व्यतीत करता है। मार्ग में चलते हुए पैर में कांटा लग जाये या आँख में किरकिरी चली जाय, तो वह

---

१. श्री पंचाशक १८.४-५

२. समवायांग १२.१

अपने हाथ से नहीं निकालता है। वह रात्रि में गहरी नींद नहीं सोता वरन् बैठे 2 ही अल्पकालिक झपकी लेते हुए आत्मचिन्तन में रात्रि व्यतीत कर देता है। विहार करते हुए यदि सामने से शेर आदि हिंसक प्राणी या हाथी, घोड़ा आदि कोई उन्मत्त प्राणी आ जाता है, तो वह एक पैर भी पीछे नहीं हटता वरन् वहीं खड़ा हो जाता है। जब प्राणी आगे निकल जाये तब वह आगे विहार करता है। इस प्रकार वह आगमोक्त मर्यादा से अपनी प्रतिमा का पालन करता है।[1]

दूसरी से लेकर सातवीं प्रतिमा वह क्रमशः दो से लेकर सात-सात दत्तियाँ लेता है। आठवीं प्रतिमा सात अहोरात्र की होती है। इसमें मुनि उपवास करता है, गाँव के बाहर रहता है और उत्तान आदि आसन में स्थित होता है। नौवीं प्रतिमा भी इसी प्रकार की है किन्तु उत्कटुक आदि आसन में स्थित होता है। दसवीं में भी इसी प्रकार वीरासन में स्थित रहता है। ग्यारहवीं प्रतिमा दूसरे उपवास में करनी होती है। बारहवीं प्रतिमा तीसरे उपवास में की जाती है। इसमें मुनि की शारीरिक मुद्राइस प्रकार होती है-प्रलम्बन बाहु, सटे हुए पैर, आगे की ओर झुका हुआ शरीर तथा अनिमेष नयन।[2]

भगवान महावीर ने म्लेच्छ प्रदेश दृढ़भूमि के पोलास नामक चैत्य में यह महाप्रतिमा धारण की थी।[3]

इस प्रकार बारह भिक्षु प्रतिमाओं को ग्रहण करके मुनि अपने कर्मों को क्षीण करता है। जिन कल्पी मुनि के सदृश उत्कृष्ट संयमी ही इसे धारण कर सकते हैं।

(4) साधु के प्रकार

जैन परम्परा में साधु के प्रकार साध्वाचार के नीति नियमों व साधना के स्तर के अनुसार किये गये हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में आचरण के नियमों के आधार पर दो प्रकार किये गये हैं-1. जिनकल्पी 2. स्थविर कल्पी[4]

1. जिनकल्पी

जिनकल्पी साधु की साधना अत्यन्त उत्कृष्ट होती है। राग-द्वेष, कषाय, इन्द्रिय, परीषह, उपसर्ग और अष्ट प्रकार के कर्मों को जीतने वाले निर्ग्रन्थ के कल्प को

---

१. समवायांग वृत्ति. पत्र २१

२. वही

३. आव. नि. मलय. वृत्ति पत्र २८८

४. विशेषावश्यक भाष्यवृत्ति. ७

'जिनकल्प' कहा जाता है। वे सामान्यतया नग्न एवं पाणिपात्र होते हैं तथा एकाकी विचरण करते हैं। वे अधिकतर खड़े रहते हैं। यदि बैठने का प्रसंग उपस्थित हो जाये तो वे कुक्कुडु, गोदुग्ध आदि आसन से बैठते हैं, जिससे कि भूमि का स्पर्श न हो।[1]

जिनकल्पी प्रतिदिन लुंचन करते हैं। वह तृतीय प्रहर में भक्त-पान ग्रहण करते हैं न उससे पहले और न बाद में। विहार में भी चतुर्थ प्रहर होते ही वे रूक जाते हैं।

2. स्थविरकल्पी

जो संयम मार्ग में पूर्ण स्थिर है और संयम साधना में अस्थिर, अन्य साधकों को इहलोक और परलोक संबंधी हानि बताकर श्रमणधर्म से च्युत होने पर कि न इस लोक में शान्ति है, न परलोक में ही, इस प्रकार अस्थिर मानस वाले साधक को जो ज्ञान -दर्शन-चारित्र में स्थिर करते हैं, वे स्थविर हैं। स्थविर का कल्प स्थविरकल्प, वे मुनि स्थविर कल्पी कहलाते हैं।[2]

बाह्य आचार की अपेक्षा स्थविर कल्पी का आचार कम उग्र और शिथिल प्रतीत होता है। किन्तु जिनकल्पी केवल स्वयं का उपकार करते हैं, उसका संघ के साथ कोई संबंध नहीं। जबकि स्थविकल्पी अपना भी उपकार करते हैं और साथ ही संघ का भी उपकार करते हैं। इसलिये स्थविरकल्पी का भी अपना गौरव है। स्थानांग सूत्र में साधु के पाँच प्रकार निर्देश किये हैं[3]

1. पुलाक 2. बकुश 3. कुशील 4. निर्ग्रन्थ 5. स्नातक

1. पुलाक

नि:सार धान्यकणों की भांति जिसका चरित्र नि:सार हो, उसे पुलाकनिर्ग्रन्थ कहते हैं। ये मूलगुण तथा उत्तरगुण में परिपूर्णता प्राप्त न करते हुए भी वीतराग प्रणीत आगम से कभी भी विचलित नहीं होते। इनके दो भेद हैं-1. लब्धि पुलाक 2. प्रतिषेवापुलाक। संघ-सुरक्षा के लिए पुलाकलब्धि का प्रयोग करने वाला लब्धिपुलाक कहलाता है तथा ज्ञान आदि की विराधना करने वाला प्रतिषेवापुलाक कहलाता है।

पुलाक साधु पाँच प्रकार के होते हैं[4] -

1. ज्ञानपुलाक-स्खलित, मिलित आदि ज्ञान के अतिचारों का सेवन करने वाला ज्ञान पुलाक है।

---

१. (भा. वृ. १४२४) २. (वही)
३. (स्थानांग ५ १८४) ४. वही ५.१८५

2. दर्शनपुलाक-सम्यक्त्व के अतिचारों का सेवन करने वाला दर्शनपुलाक है।

3. चारित्रपुलाक-मूलगुण और उत्तरगुण में दोष लगाने वाला चारित्रपुलाक है।

4. लिंगपुलाक-शास्त्रविहित उपकरणों से अधिक उपकरण रखने वाला या बिना ही कारण अन्य लिंग को धारण करने वाला लिंग पुलाक है।

5. यथासूक्ष्मपुलाक-प्रमाद वश अकल्पनीय वस्तु को ग्रहण करने का मन में चिन्तन करने वाला या उपर्युक्त पाँचों अतिचारों में से कुछ अतिचारों सेवन करने वाला यथासूक्ष्म पुलाक है।

इस प्रकार पुलाकश्रमण के पाँच भेद हैं।

2. बकुश

जिसके चारित्र में स्थान-स्थान पर धब्बे लगे हुए हैं, वह बकुश साधु है। शरीर विभूषा आदि के द्वारा उत्तरगुणों में दोष लगाने वाला भी बकुश है। इसके चारित्र में शुद्धि और अशुद्धि दोनों का सम्मिश्रण होने कारण शबल-विचित्र वर्ण वाले चित्र की तरह विचित्रता होती है।

बकुश साधु भी पाँच प्रकार के होते हैं[१]-

1. आभोगबकुश-जानबूझकर शरीर की विभूषा करने वाला आभोग बकुश है।

2. अनाभोगबकुश-अनजान में शरीर की विभूषा करने वाला।

3. संवृतबकुश-छिप-छिपकर शरीर आदि की विभूषा करने वाला।

4. असंवृतबकुश-प्रकटरूप में शरीर की विभूषा करने वाला।

5. यथा सूक्ष्मबकुश-प्रकट या अप्रकट शरीर आदि की सूक्ष्म विभूषा करने वाला। इस प्रकार शरीर और उपकरण के संस्कारों का अनुसरण करने वाला, सिद्धि तथा कीर्ति का अभिलाषी सुखशील अविविक्त (ससंग), परिवारवाला तथा छेद (चारित्र) पर्याय की हानि तथा शबल अतिचार (दोषों से युक्त निर्ग्रन्थ)।

---

१. स्था. ५.१८६

3. कुशील

जिसका चरित्र कुछ-कुछ मलिन हो गया हो। मूल तथा उत्तर गुणों में दोष लगाने वाला कुशील निर्ग्रन्थ कहलाता है। इसके दो प्रकार है-1. प्रतिसेवनाकुशील 2. कषायकुशील। इन्द्रियों का वशवर्ती होने से उत्तर गुणों की विराधनामूलक प्रवृत्ति करने वाला प्रति सेवना कुशील है। और कभी भी तीव्र कषाय के वश न होकर कदाचित् मंद कषाय के वशीभूत हो जाने वाला कषायकुशील है। दोनों के भी पाँच पाँच प्रकार है-1. ज्ञान 2. दर्शन 3. चारित्र 4. लिंग 5. यथासूक्ष्म।[1]

1. ज्ञानकुशील-काल, विनय आदि ज्ञानाचार की प्रतिपालना नहीं करने वाला।

2. दर्शनकुशील-निष्कांक्षित आदि दर्शनाचार की प्रतिपालना नहीं करने वाला।

3. चारित्रकुशील-कौतुक, भूतिकर्म, प्रश्नाप्रश्न, निमित्त, आजीविका, कल्ककुरुका, लक्षण, विद्या तथा मन्त्र का प्रयोग करने वाला।

4. लिंगकुशील-वेष से आजीविका करने वाला।

5. यथासूक्ष्मकुशील-अपने को तपस्वी आदि कहने से हर्षित होने वाला।

4. निर्ग्रन्थ

जिसका मोहनीय कर्म छिन्न हो गया हो, वह निर्ग्रन्थ साधु है। निर्ग्रन्थ भी पाँच प्रकार के होते है[2]-

1. प्रथम समय निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थ की काल स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण होती है। उस काल में प्रथम समय में वर्तमान निर्ग्रन्थ।

2. अप्रथमसमय निर्ग्रन्थ-प्रथम समय के अतिरिक्त शेष काल में वर्तमान निर्ग्रन्थ।

3. चरमसमय निर्ग्रन्थ-अन्तिम समय में वर्तमान निर्ग्रन्थ।

4. अचरमसमय निर्ग्रन्थ-अन्तिम समय के अतिरिक्त शेष समय में वर्तमान निर्ग्रन्थ।

5. यथासूक्ष्मनिर्ग्रन्थ-प्रथम या अन्तिम समय की अपेक्षा किए बिना सामान्य रूप से सभी समयों में वर्तमान निर्ग्रन्थ।

---

१. वही ५.१८७

२. स्था. ५.१८८

इस प्रकार जिनकी मोह और कषाय की ग्रन्थियाँ क्षीण हो जाती हैं, वे निर्ग्रन्थ कहलाते हैं। सर्वज्ञता न होने पर भी जिसमें रागद्वेष का अत्यान्त अभाव हो और अन्तर्मुहूत के बाद ही सर्वज्ञता प्रगट होने वली हो।

5. स्नातक

जिनके चार घाती कर्म क्षय हो जाते हैं, सर्वज्ञता प्रकट हो जाती है, वे स्नातक हैं। स्नातक पाँच प्रकार के होते हैं[१]

1. अच्छवी-काय योग का निरोध करने वाला।

2. अशबल-निरतिचार साधुत्व का पालन करने वाला।

3. अकर्मांश-घात्यकर्मों का पूर्णतः क्षय करने वाला।

4. संशुद्धज्ञानदर्शनधारी-अर्हत्, जिन, केवली

5. अपरिश्रावी-सम्पूर्ण काय योग का निरोध करने वाला

साधु के इन पाँचों में से प्रथम तीन प्रकार के साधु वास्तविक साधु जीवन से निम्न श्रेणी के साधक है। अन्तिम दो उच्चकोटि के साधु हैं।

वैदिक परम्परागत साधु के प्रकार

जैन परम्परा में जिस प्रकार साधु के पाँच प्रकारों का विधान किया गया है, उसी प्रकार वैदिक परम्परा में भी संन्यासियों के प्रकार वर्णित किये हैं। महाभारत में 4 प्रकार के संन्यासी वर्णित किये गये हैं[२]

1. कुटीचक 2. बहुदक 3. हंस 4. परमहंस

1. कुटीचक-कुटीचक संयासी अपने गृह में ही संन्यास धारण करता है तथा अपने पुत्रों द्वारा निर्मित कुटिया में रहकर, उनकी भिक्षा ग्रहण करके साधना करता है।

2. बहूदक-वे संन्यासी त्रिदण्ड, कमण्डलु एवं कषायवस्त्रों से युक्त होते हैं एवं सात ब्राह्मण घरों से भी भिक्षा लाकर जीवन यापन करते हैं।

3. हंस-हंस संन्यासी ग्राम में एक रात्रि तथा नगर में पाँच रात्रि निर्गमन करते हुए उपवास, चन्द्रायण आदि व्रत करते हैं।

---

१. वही. ५.१८९

२. महाभारत अनुपर्व १४१-१८९

4. परमहंस-परमहंस संन्यासी सदैव ही पेड़ के नीचे शून्यगृह या स्मशान में निवास करते हैं। सामान्यतया नग्न रहते है तथा सदैव आत्मभाव में लीन रहते हैं।

यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाये तो परमहंस साधु के प्रकार को जिनकल्पी साधु की कोटि में लिया जा सकता है तथा अन्य की तुलना किंचित् स्थविर कल्पी से की जा सकती है। किन्तु फिर भी भिन्नता तो है ही।

साधु के इन पाँच प्रकारों का उल्लेख सामान्यतया निर्ग्रन्थ के प्रकारों से हुआ है। तत्त्वार्थसूत्र के विवेचक पं. सुखलालजी का कथन है कि "निर्ग्रन्थ शब्द का तात्त्विक (निश्चयनयसिद्ध) अर्थ भिन्न है और व्यावहारिक (साम्प्रदायिक अर्थ भिन्न है। दोनों अर्थों के एकीकरण को ही यहाँ निर्ग्रन्थ सामान्य मानकर उसी के पाँच भेद कहे गये हैं। निर्ग्रन्थ वह है जिसमें रागद्वेष की गांठ बिल्कुल न रहे। निर्ग्रन्थ शब्द का यही तात्त्विक अर्थ है। अपूर्ण होने पर भी तात्त्विक निर्ग्रन्थता का अभिलाषी हो-भविष्य में वह स्थिति प्राप्त करना चाहता हो-वह व्यावहारिक निर्ग्रन्थ है। पाँच भेदों में प्रथम तीन व्यावहारिक है और शेष दो तात्त्विक है[१] "

(5) जैनधर्म और व्रत परम्परा

भारतीय संस्कृति में व्रतों का प्रादुर्भाव कब से हुआ? डॉ. हर्मन जेकोबी के अनुसार "जैनों ने अपने व्रत ब्राह्मणों से उधार लिए हैं।" ब्राह्मण संन्यासी मुख्यतया अंहिसा, सत्य अचौर्य, सन्तोष और मुक्तता-इन पाँच व्रतों का पालन करते थे। जेकोबी का अभिमत है कि जैन महाव्रतों की व्यवस्था के आधार उक्त पाँच व्रत बने हैं।

वस्तुतः उनका यह अभिमत कहां तक सत्य है, उस पर विचार करना होगा। यदि व्रतों की परम्परा का ऐतिहासिक अध्ययन करें तो अहिंसा आदि व्रतों का मूल ब्राह्मण परम्परा में नहीं पायेंगे। हो सकता है कि डॉ. जेकोबी ने बौधायन में उल्लिखित व्रतों के कारण यह कल्पना की हो। किन्तु प्रश्न फिर भी रहता है कि उसमें भी व्रत कहाँ से आए?

व्रतों का संयास के साथ अविच्छिन्न संबंध है। संयास आश्रम चतुर्थ आश्रम है, ऐसे कुल आश्रम चार हैं। वेदों में आश्रम का उल्लेख नहीं किया गया है। और न ही ब्राह्मण और आरण्यक ग्रन्थों में इसकी चर्चा है। सर्व प्रथम इसका उल्लेख

---

१. तत्त्वार्थ सूत्र पृ. २३२

बृहदारण्यक उपनिषद् में हुआ, उसमें सन्यास को 'आत्म-जिज्ञासा के बाद होने वाली स्थिति' कहा है।[१] और वे पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकेषणा से व्युत्थान कर भिक्षाचर्या करते थे।[२]

जबकि श्रमण परम्परा में मुख्य रूप से कथन है कि "लोकेषणा मत करो।[३] ऐसे अनेकानेक सन्दर्भ है जहाँ इन एषणाओं के त्याग का उपदेश दिया गया है।[४] इसके विपरीत वैदिक परम्परा में तो इसको महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में स्वीकार किया गया है। पुत्रोत्पत्ति अर्थात् पुत्र का मुख-दर्शन पिता को हो जाए तो उसका ऋण छूट जाता है। और वह अमर हो जाता है। इन उद्धरणों से यह स्पष्ट दिखाई देता है कि वैदिक परम्परा में पुत्रोत्पत्ति को प्रधान माना है, जबकि श्रमण परम्परा इन सबको त्याग करके सन्यास ग्रहण करने का उपदेश देती है।"

जैन-दर्शन का सन्यास नितान्त आत्मवाद पर आधारित है। आचार की आराधना आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी कर सकते हैं।[५] जब तक आत्म-जिज्ञासा नहीं होती, तब तक सन्यास का प्रश्न ही नहीं हो सकता। इससे यही परिलक्षित होता है कि आत्म-जिज्ञासा पर आधारित सन्यास श्रमणों की दीर्घ परम्परा है।[६]

तेवीसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्व के समय श्रमण संघ सुसंगठित था। उपनिषद् का रचनाकार उनसे पहले नहीं जाता। भगवान् पार्श्व का अस्तित्व काल ई. पू. दसवीं शताब्दी है[७], और उपनिषदों का रचनाकाल प्रायः ई. पू. 800 से 300 के बीच का है।[८]

इस स्थिति में यह माना जा सकता है कि संन्यास और व्रतों की व्यवस्था के लिए श्रमण धर्म वैदिक धर्म का ऋणी नहीं है।

वेद, ब्राह्मण, आरण्यक-साहित्य में महाव्रतों का उल्लेख किंचित् मात्र भी नहीं है। उपनिषद्-पुराणों और स्मृतियों में जो उल्लेख मिलता है, वे भगवान

---

१. बृहदारण्यक ४.४.२२
२. वही
३. आचारांग १.४.१.१२८
४. उत्तराध्यानन १४.९, १४.१२
५. आचारांग १.१.१.५
६. उद्धरण: मुनि नथमल: उत्तराध्ययन एवं समीक्षात्मक अध्ययन पृ-. 38.
७. महापुराण: पर्व ७४ पृ. ४६२, देखिए जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश पृ. २१.
८. (क) History of Sanskrit Literature P. 226 (ख) A. B. Kieth: The Religion and Philosophy of the Veda and Upanisadas P. 20

पार्श्व के उत्तरकालीन है। अत: पूर्वकालीन व्रत-व्यवस्था को उत्तराकीलन व्रत व्यवस्था ने प्रभावित किया, यह कैसे माना जा सकता है?

भगवान् पार्श्व के उत्तरक़ालीन भगवान् महावीर है। भगवान् महावीर ने भगवान पार्श्व के व्रतों का ही विकास किया है। अन्य किसी परम्परा का अनुसरण करके नहीं। धर्मानन्द कौंसबी[१] भी यही स्वीकार करते हैं कि पार्श्वनाथ का धर्म महावीर के पंचमहाव्रतों में परिणत हुआ है। वही धर्म बुद्ध के अष्टांगिक मार्ग में और योग के यम-नियमों में प्रकट हुआ। गाँधीजी के आश्रमधर्म में भी प्रधानतया चातुर्याम-धर्म दृष्टिगोचर होता है।

हिन्दुधर्म और जैनधर्म आपस में घुलमिलकर अब इतने एकाकार हो गए हैं कि आज का साधारण हिन्दु यह जानता भी नहीं कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और परिग्रह ये जैनधर्म के उपदेश थे, हिन्दुत्व के नहीं। जैन धर्म का बहुत बड़ा भाग व्रत और अव्रत की मीमांसा है। संभवत: अन्य किसी भी दर्शन में व्रतों की इतनी मीमांसा नहीं हुई। चौदह गुणस्थानों-विशुद्धि की भूमिकाओं में अव्रती चौथे, अणुव्रती पाँचवें और महाव्रती छट्ठे गुणस्थान का अधिकारी होता है। यह विकास दीर्घकालीन परम्परा का है, तत्काल गृहीत परम्परा का नहीं।

1. साधु के व्रत

1. सामायिक 2. पंचमहाव्रत

आध्यात्मिक पूर्णता की दिशा में बढ़ने के लिए सर्वप्रथम तदनुरूप आचरण भी आवश्यक होता है। पंच परमेष्ठी पद पूर्णता की दिशा के चरण है। इसका पहला प्रयास साधु पद में है। गृहस्थ जीवन का परित्याग करके साधक सावद्य (पापकारी) योगों से पूर्णतया बचने के लिए संयम अंगीकार करता है। सर्व बाह्य (स्वजन) एवं आंतरिक (आसक्ति) परिग्रह का त्याग करके कर्म क्षय हेतु कटिबद्ध होता है। जैन परम्परा में इसे 'भागवती-दीक्षा' संज्ञा से अभिप्रेत किया जाता है। अन्य जन्म में ग्रहण किये हुए कर्म संचय को दूर करने के लिए मोक्षाभिलाषी आत्मा सर्व सावद्य योगों से निवृत्त होने के लिए चारित्र पथ पर आरूढ़ होता है। संयम, चारित्र, दीक्षा इस अपेक्षा से समानार्थक शब्द है।

भगवान् महावीर के शासन में दीक्षार्थी को प्रथम सामायिक चारित्र प्रदान

---

१. पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म पृ. ६.

किया जाता है, उसके पश्चात् छेदोपस्थापनीय चारित्र में पंच महाव्रत से अलंकृत किया जाता है। किन्तु भगवान पार्श्व के समय मात्र सामायिक चारित्र था और भगवान् महावीर ने छेदो-पस्थापनीय चारित्र का प्रवर्तन किया। वस्तुतः चारित्र एक सामायिक ही है।[१] जिसका तात्पर्य है-'समता की आराधना'। जब विषमतापूर्ण प्रवृत्तियाँ त्यक्त होती है, तब सामायिक चारित्र की प्राप्ति होती है। यह निर्विशेषण या निर्विभाग है। भगवान् पार्श्व ने चारित्र के विभाग नहीं किये। भगवान् महावीर के समक्ष एक विशेष प्रयोजन उपस्थित था, इसलिए उन्होंने सामायिक को छेदोपस्थापनीय का रूप दिया।

1. सामायिक-सम अर्थात् रागद्वेष रहित आत्मा के प्रतिक्षण अपूर्व अपूर्व-निर्जरा से होने वाली आत्मविशुद्धि का प्राप्त होना सामायिक है।[२] भवाटवी के भ्रमण से पैदा होने वाले क्लेश को प्रतिक्षण नाश करने वाली, चिन्तामणि, कामधेनु एवं कल्पवृक्ष के सुखों का भी तिरस्कार करने वाली, निरूपम सुख देने वाली, ऐसी ज्ञान, दर्शन, चारित्र पर्यायों को प्राप्त कराने वाले, राग द्वेष रहित आत्मा के क्रियानुष्ठान को सामायिक कहते हैं।[३]

सर्व सावद्य व्यापार का त्याग करना एवं निरवद्य व्यापार का सेवन करना सामायिक है।[४]

सामायिक के दो भेद हैं-

1. इत्वर कालिक सामायिक 2. यावत्कथिक सामायिक।[५]

1. इत्वरकालिक सामायिक

इत्वर काल का अर्थ है अल्पकाल अर्थात् भविष्य में दूसरी बार फिर सामायिक व्रत का व्यपदेश होने से जो अल्प काल की सामायिक हो, उसे इत्वर कालिक सामायिक कहते हैं। पहले एवं अंतिम तीर्थंकर भगवान् के तीर्थ में जब तक शिष्य में महाव्रत का आरोपण नहीं किया जाता, तब तक उस शिष्य के इत्वर कालिक सामायिक समझनी चाहिए।

---

१. विशेषावश्यकभाष्य गा. १२६२
२. वही १२६१
३. वही
४. विशेषा. १२६३
५. वही

2. यावत्कथित सामायिक

यावज्जीवन की सामायिक यावत्कथिक सामायिक कहलाती है। प्रथम एवं अन्तिम तीर्थकर भगवान् के सिवाय शेष बाईस तीर्थंकर भगवान् एवं महाविदेह क्षेत्र के तीर्थंकरों के साधुओं के यावत्कथिक सामायिक होती है। क्योंकि इन तीर्थंकरों के साधुओं को दूसरी बार सामायिक व्रत नहीं दिया जाता है।[१]

2. पंचमहाव्रत-छेदोपस्थापनीय

जिस चारित्र में पूर्व पर्याय का छेद एवं महाव्रतों की उपस्थापना/आरोपण होता है, उसे छेदोपस्थापनिक चारित्र कहते हैं। अथवा पूर्व पर्याय का छेद करके जो महाव्रत दिये जाते हैं उसे भी इसी चारित्र से अभिहित किया जाता है। यह चारित्र भरत, ऐरावत, क्षेत्र के प्रथम एवं चरम तीर्थंकरों के तीर्थ में ही होता है, शेष तीर्थंकरों के तीर्थ में नहीं होता।[२] इसके भी दो भेद हैं-1. निरतिचार 2. सातिचार

1. निरतिचार-इत्वर सामायिक वाले शिष्य के एवं एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ में जाने वाले साधुओं के जो व्रतों का आरोपण होता है, वह निरतिचार छेदोपस्थापनिक चारित्र है।

2. सातिचार-मूल गुणों का घात करने वाले साधु के जो व्रतों का आरोपण होता है, वह सातिचार छेदोपस्थापनिक चारित्र है।[३]

छेदोपस्थापनीय चारित्र को स्वीकारने वाले व्यक्ति को विभागशः महाव्रतों का स्वीकार कराया जाता है। छेद का अर्थ विभाग है।[४] भगवान् महावीर ने भगवान् पार्श्व के निर्विभाग सामायिक चारित्र को विभागात्मक सामायिक चारित्र बना दिया और वही छेदोपस्थापनीय के नाम से प्रचलित हुआ।

भगवती सूत्र में उल्लेख है कि जो चातुर्याम-धर्म का पालन करते थे, उन मुनियों के चारित्र को सामायिक कहा जाता था और जो मुनि सामायिक-चारित्र की प्राचीन परम्परा का त्याग करके पंचयाम-धर्म में प्रव्रजित हुए, उनके चारित्र को छेदोपस्थापनीय कहा गया है।[५]

---

१. विशेषा. १२६४
२. वही १२६८
३. वही १२६९
४. सन्दर्भ उत्तराध्ययन एक समीक्षात्क अध्ययन पृ. १२६
५. भगवती २५.७.७८६

प्रस्तुत छेदोपस्थापनीय चारित्र में व्रत का भंग नहीं है। अर्थात् सामायिक का त्याग नहीं है वरन् विशेष व्रत शुद्धि है।[१] सामायिक की अपेक्षा इसमें पंचमहाव्रतों का उपस्थापन-आरोपण यह विशेष व्रत विशुद्धि का सोपान है।

2. चातुर्याम धर्म और पंच महाव्रत

महाव्रतों के निरुपण की दो परम्पराएँ हैं- 1. चातुर्याम परम्परा 2. पंचमहाव्रत परम्परा। ये दोनों ही परम्पराएँ श्रमणों की स्थिति के आधार पर निर्मित हुई है। अर्हत् अजित से लेकर अर्हत् पार्श्व तक की परम्परा चातुर्याम की थी अर्थात् श्रमणों के चार व्रत थे। किन्तु अर्हत् ऋषभदेव और अर्हत् महावीर ने पंचयाम-पंच महाव्रत प्ररूपित किये।

भगवान् पार्श्व के चातुर्यामधर्म में ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह नामक व्रतों की व्यवस्था नहीं थी। उनकी व्यवस्था में बाह्य वस्तुओं की अनासक्ति का सूचक शब्द था 'बहिस्तात्-आदान-विरमण'[२] भगवान् महावीर ने इस व्यवस्था में परिवर्तन किया और 'बहिस्तात्-आदान-विरमण' को 'ब्रह्मचर्य' और अपरिग्रह इन दो शब्दों में विभक्त कर दिया। ब्रह्मचर्य शब्द वैसे वैदिक साहित्य में भी प्रचलित था। किन्तु भगवान महावीर ने उसे महाव्रत के रूप में प्रयुक्त किया। जबकि महाव्रत के रूप में वैदिक साहित्य में प्रचलित नहीं था। अपरिग्रह शब्द का भी सर्वप्रथम महाव्रत के रूप में भगवान् महावीर ने ही प्रयोग किया था। यद्यपि जाबालोपनिषद्[३], नारदपरिव्राजकोपनिषद्[४], तेजोबिन्दूपनिषद्[५], याज्ञ्यवल्क्योपनिषद्[६], आरुणिकोपनिषद्[७], गीता[८] योगसार आदि में अपरिग्रह शब्द का उल्लेख मिलता है, तथापि ये सभी ग्रन्थ भगवान् महावीर के उत्तरवर्ती है। उनके पूर्ववर्ती ग्रन्थ में अपरिग्रह शब्द का महाव्रत के रूप में प्रयोग नहीं हुआ। क्या कारण था कि भगवान् महावीर को चातुर्याम परम्परा में परिवर्तन करना पड़ा। क्या बाईस तीर्थंकरों के समय ब्रह्मचर्य आवश्यक नहीं था? इसका समाधान करते हुए कथन है कि प्रथम तीर्थंकर के साधु ऋजु जड़ थे और चरम तीर्थंकर के साधु वक्रजड़ी थे। पहले के लिए धर्म समझना कठिन था। सरलता के कारण सब कुछ समझाना पड़ता था, क्योंकि वे साथ में जड़ भी थे। जबकि भगवान् महावीर के

---

१. विशेषा. १२६६-६७ २. उत्तरा. २३.२३ ३. जाबाल. ३.५
४. नारदपरि. ३.८.६ ५. तेजोबिन्दु. २.३ ६. याज्ञवल्क्य २.१
७. आरूणिक. ३ ८. गीता ६.१० ९. योगसार २.३०

साधु प्रकृति से वक्र भी थे और जड़ भी। इसलिए महाव्रतों के निरूपण में भेद आया। बाईस तीर्थंकर के साधु बहिर्दान (परिग्रह) के अन्तर्गत स्त्री को भी परिग्रह मानकर परित्याग कर देते थे।[1] इस प्रकार चातुर्याम और पंचमहाव्रत की संख्या में भेद हुआ। वस्तुतः संख्याभेद होने पर भी व्रतों की परिपालना में, प्रयोग में अन्तर नहीं हुआ है।

(3) पंच महाव्रत

श्रमण जीवन की आधार शिला पंचमहाव्रत हैं। साथ ही इनको मूलभूतगुण भी मान्य किये गये हैं। जैन परम्परा में पंच महाव्रत निम्नलिखित हैं[2] -

1. सव्वाओपाणाइवायाओ वेरमणं (अहिंसा)
2. सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं (सत्य)
3. सव्वाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं (अस्तेय)
4. सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं (ब्रह्मचर्य)
5. सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं (अपरिग्रह)

ये पाँचों ही व्रत श्रावक (गृहस्थ) एवं श्रमण (साधु) दोनों के लिए ही कथित है। फर्क इतना ही है कि, साधु उन पंच महाव्रतों का पालन अकाट्य रूप से, पूर्णरूपेण पालन करता है। जबकि गृहस्थों के लिए ये अणु रूप से पालन करने होते हैं। इसीलिए साधु को तो इन महाव्रतों की परिपालना नवकोटि अर्थात् मन, वचन, काय एवं कृत, कारित तथा अनुमोदित $3 \times 3 = 9$ कोटियों सह करना होता है। इन पंच महाव्रतों के अतिरिक्त एक व्रत और है जिसका पालन भी साधु को अनिवार्यतः करना होता है वह है 6. सव्वाओ राइ भोअणाओ वेरमण[3]।

श्वेताम्बर परम्परा में रात्रि-भोजन को साधु का छठा व्रत मान्य किया गया है एवं दिगम्बर परम्परा में यह मूलगुण के रूप में उल्लिखत है।

जैन परम्परा की भांति बौद्ध परम्परा मान्य दस भिक्षु-शील के अन्तर्गत 6 शीलों से महाव्रत-व्रत साम्य रखता है। बौद्ध परम्परा में दस शील है-1. प्राणातिपात विरमण, 2. अदत्तादान विरमण, 3. अब्रह्मचर्य या कामेसु-मिच्छाचार विरमण,

---

१. उत्तरा. २३.२३-२६

२. पाक्षिक सूत्र

३. पाक्षिक सूत्र, दशवैका. ६.२३-२४, ४.६

4. मूसावाद (मृषावाद) विरमण, 5. सुरामेरमद्य (मादक द्रव्य) विरमण 6. विकाल भोजन विरमण, 7. नृत्य गीतवादित्र विरमण, 8. माल्य धारण, गन्ध विलेपन विरमण 9. उच्चशय्या, महाशय्या विरमण 10. जातरूप रजतग्रहण (स्वर्ण-रजतग्रहण) विरमण।[१]

उपर्युक्त बौद्ध परम्परा मान्य दसशीलों में से 6 शील, पंच महाव्रत एवं छठा रात्रि भोजन विरमण व्रत के अत्यधिक समान है। यद्यपि अन्य चार का समावेश व्रतों में तो नहीं किन्तु इन चारों को भी साध्वाचार से विरुद्ध एवं वर्जनीय कहा गया है।

1. सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं (अहिंसा महाव्रत)-प्राणीवध का सर्वथा निर्वर्तन करे। प्राणों को धारण करे वह है प्राणी।

जैन परम्परा में प्राणों के दस प्रकार है[२] 1. श्रोतेन्द्रियबलप्राण 2. चक्षुरिन्द्रियबल प्राण 3. घ्राणेन्द्रिय बल प्राण 4. रसनेन्द्रियबल प्राण 5. स्पर्शनेन्द्रियबल प्राण 6. मनबलप्राण 7. वचनबल प्राण 8. कायबलप्राण 9. श्वासोच्छवासबलप्राण 10. आयुष्यबलप्राण।

जिसके बल (आधार) से जीव कार्य में प्रवृत्ति करता है, उसे बलप्राण कहा जाता है। इन बल प्राणों को धारण करके ही जीव प्राणी संज्ञा धारण करता है। पंचेन्द्रिय जीवों में से एकेन्द्रिय जीवों के 4 प्राण-1. स्पर्शनेंद्रिय 2. कायबल 3. श्वासोच्छवास 4. आयुष्य, बेइन्द्रियजीवों के 6. प्राण-अतिरिक्त घ्राणेन्द्रिय चौरिन्द्रिय जीवों के 8 प्राण- पूर्वोक्त 7 के अतिरिक्त आठवीं चक्षुरिन्द्रिय। पंचेन्द्रिय जीवों में असंज्ञी के 9 प्राण- पूर्वोक्त 8 + श्रोत्रेन्द्रियबलप्राण संज्ञी पंचेन्द्रिय के 10 प्राण-पूर्वोक्त 9 + मनोबल प्राण।

इन दस प्राणों के धारक जीवों का अतिपात अर्थात् वधादि न करना ही पहला प्राणातिपात महाव्रत है। साधु स्व-पर हिंसा से विरत होता है। स्वहिंसा से तात्पर्य है कि-काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दूषित मनोवृत्तियों के द्वारा आत्मगुणों का नाश करना। तो अपने अतिरिक्त अन्य प्राणियों को दु:खी करना, नाश करना, हानि पहुँचाना पर हिंसा है। साधु को इस प्रकार त्रस एवं स्थावर जगत के समस्त प्राणियों की हिंसा से विरति लेना होता है।

---

१. विनयपिटक महावग्ग १.५६

२. पैंतीस बोल-छठा बोल

आचार्य उमास्वाति[1] ने हिंसा का स्वरूप दर्शाया है-प्रमत्तयोग से होने वाला प्राणवध हिंसा है। यहाँ हिंसा की व्याख्या 2 अंशों में दी गई। प्रमत्तयोग अर्थात् रागद्वेषयुक्त अथवा असावधान प्रवृत्ति और दूसरा है प्राणवध। पहला अंश कारण रूप है और दूसरा कार्यरूप। इससे वही फलित होता है कि जो प्राणवध प्रमत्तयोग से हो, वह हिंसा है।

यहाँ हिंसा की व्याख्या में मात्रवध ही पर्याप्त नहीं, वरन् 'प्रमत्तयोग' भी इसमें महत्त्वपूर्ण है। किन्तु यदि प्रमत्तयोग के बिना प्राणवध हो तो वह हिंसा नहीं? तो इसका समाधान है कि केवल प्राणवध स्थूल होने से दृश्य-हिंसा तो है ही, जब कि प्रमत्तयोग सूत्र होने से अदृश्य है। उसी पर हिंसा की सदोषता या निर्दोषता निर्भर करती है। हिंसा की सदोषता हिंसा भावना पर अवलम्बित है। भावना स्वयं बुरी है, तभी प्राणवध दोष होगा। इस प्रकार प्रमत्तयोगरूप जो सूक्ष्म भावना है, वह स्वयं ही सदोष है।

आचाराङ्ग में आठ हेतु हिंसा के लिए उल्लिखित हैं कि मनुष्य[2] 1. अपने इस जीवन के लिए 2. प्रशंसा व यश के लिए 3. सन्मान की प्राप्ति के लिए 4. पूजा आदि पाने के लिए 5. जन्म-सन्तान आदि के जन्म पर अथवा स्वयं के जन्म निमित्त 6. मरण-मृत्यु संबंधी कारणों व प्रसंगों पर 7 मुक्ति की प्रेरणा या लालसा से 8. दुःख के प्रतिकार हेतु-रोग, आतंक, उपद्रव आदि मिटाने के लिए। साधु इन हिंसा के कारणों का त्याग करके स्थावर व त्रस षड्जीवनिकाय के जीवों की हिंसा न करें।

आचाराङ्ग के इस सन्दर्भ से ज्ञात होता है। कि मनुष्य किन कारणों से हिंसा-कार्य में प्रेरित होता है। मुनि के लिए इन हिंसा के हेतुओं को सर्वथा त्याज्य कहा गया है। सामान्य साधु को सर्वप्रथम स्व हिंसा और साथ ही पर हिंसा से विरति धारण करनी पड़ती है। काम, क्रोध, मोह, लोभ, राग, द्वेषादि दूषित मनोवृत्तियों के वशीभूत होकर आत्मा के ज्ञानादि स्वगुणों का विनाश करना स्वहिंसा है, तो अन्य प्राणियों को पीड़ा देना, दुःखी करना, हानि पहुँचना पर हिंसा है। साधु को परहिंसा से विरत तो होना ही है साथ ही स्वहिंसा से भी विरति ले लेना है। जगत् के सर्व प्राणियों (त्रस-स्थावर) की हिंसा का पूर्णरूपेण त्याग करना, यह साधु का प्रथम कर्त्तव्य है।

आचाराङ्ग में स्पष्टतः निर्दिष्ट है कि मुनि षड्निकाय के जीवों का हिंसादि समारंभ न करे, न करवाये, न करते हुए का अनुमोदन करे।[3]

---

१. तत्त्वार्थ सूत्र ७.८ पृ. १७२ २. आचार १ श्रु. १ अध्य. १-८ उद्देशक ३. आचा. १.१.७.६२

दशवैकालिक में इसे और पुष्ट किया है कि जानबूझ कर या अनजाने में भी इन त्रिविध प्रकारों से हिंसा न करे।[१] भिक्षु के लिए प्राण वध त्याज्य क्यों है? उससे आत्मगुणों का भी घात होता है।[२]

जगत् के सर्व प्राणियों को आयुष्य, जीवन प्रिय है। सभी सुख चाहते हैं। दुःख प्रतिकूल होता है। उनको वध (मृत्यु) अप्रिय है। वे जीवित रहना चाहते हैं।[३] अतः षट्जीव निकाय के जीवों की स्वयं हिंसा न करे, न अन्य से कराये और जो करता है उसका अनुमोदन भी न करे।[४]

श्रमण जीवन में अहिंसा का पालन किस प्रकार करे? उसकी परिपालना व रक्षा कैसे करनी चाहिए? उसका विस्तृत वर्णन आचाराङ्ग सूत्र, दशवैकालिक सूत्र आदि ग्रन्थों में किया गया है कि "समाधिवंत संयमी साधु तीन करण एवं तीन योग से पृथ्वी आदि सचित मिट्टी के ढेले आदि न तोड़े, न उनको पीसे। सजीव पृथ्वी पर न बैठे। सचित्त धूलि से भरे आसन पर भी न बैठे। इसी प्रकार सचित्त,जल, वर्षा, ओले, बर्फ, ओस के जल का न स्पर्श करे और न पीवे। वह मात्र अचित्त (प्रासुक या गर्म) जल का ही प्रयोग करे। अंगार, ज्वाला आदि किसी प्रकार की अग्नि का स्पर्श न करे और न ही उसे उत्तेजित करे, सुलगावे नहीं और बुझावे भी नहीं। साधु किसी प्रकार की दवा न करे, उष्णता को सहन करे। फूंक भी न दे। इसी प्रकार तृण, वृक्ष, फल, फूल, पत्ते का स्पर्श न करे, न तोड़े या हानि पहुँचावे। एकेन्द्रिय की भांति बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय आदि त्रस प्राणियों की भी मन-वचन-काया से हिंसा न करे।[५] अतः आचारांग में स्पष्टता उल्लिखित है कि "सब प्राणी, सब भूत, सब जीव और सब सत्त्वों को न मारना चाहिये, न अन्य व्यक्ति द्वारा मरवाना चाहिए, न उन पर प्राणापहार उपद्रव करना चाहिए-यह अहिंसा रूप धर्म ही शुद्ध है, शाश्वत है।[६] "

हिंसा तीन प्रकार की होती है-1. संरंभ 2. समारंभ 3. आरम्भ

व्यक्ति के अन्तर्मन में हिंसा की भावना उत्पन्न होना, हिंसा के सम्बन्ध में सोचना, मन में उसके लिए योजना संरभ है। यह एक प्रकार से वैचारिक और मानसिक हिंसा है।

---

१. दश. ६.१०
२. *प्रश्न व्याकरण संवर द्वार १*
३. आचा. १.२.३.७८
४. वही १.१.१-६२
५. आचा. १.१.१-७ उद्देशक, दश. ६.१०
६. आचा. १.४.१

समारम्भ-मन में जो हिंसक विचार उद्‌भूत हुए, उन विचारों को मूर्त रूप देने हेतु हिंसक शास्त्रास्त्रों का संग्रह करना, उनको व्यवस्थित रूप से रखना समारंभ है।

आरम्भ-मानसिक या वैचारिक जो योजना निर्मित की गई हो, उस योजना के अनुसार शास्त्रास्त्रों का उपयोग करना आरम्भ है।

यहाँ स्पष्ट झलकता है कि हिंसा का जन्म सर्वप्रथम मन में होता है, फिर वचन में आता है और उसके बाद शरीर द्वारा आचारण में।

आचार्य अमृतचन्द[१] ने इन तीन प्रकारों को अन्य रीति से प्रस्तुत किया है कि "जब मन में कषाय उद्‌भूत होते हैं, तो सर्वप्रथम शुद्धोपयोग रूप, भावप्राणों का घात होता है। यह प्रथम हिंसा है।"

उसके पश्चात् कषाय की तीव्रता से दीर्घ श्वासोच्छवास, हस्त-पाद आदि से अपने अंगोपांगो को कष्ट पहुँचता है, यह दूसरी हिंसा है। तत्पश्चात् मर्मभेदी कुवचनों से लक्ष्यपुरुष के अतरंग मानस को पीड़ा पहुँचाई जाती है। यह तीसरी हिंसा है।

फिर तीव्र कषाय व प्रमाद से उस व्यक्ति के द्रव्यप्राणों को नष्ट करता है-यह चतुर्थ हिंसा है।

हिंसा के चार विभाग

अन्य दृष्टिकोण से हिंसा के चार विभाग भी किये गये हैं-1. संकल्पी हिंसा, 2. आरम्भी हिंसा 3. उद्योगी हिंसा 4. विरोधी हिंसा। मारने की भावना से जानबूझ कर किसी प्राणी का वध करना, आघात पहुँचाना, परस्पर लड़ाना, बंधन में बांधना, नष्ट करना यह संकल्पी हिंसा है।

2. विभिन्न कार्यों के करते समय की जाने वाली हिंसा। यथा भोजन निर्माण करते समय, सफाई करते समय, वस्त्रादि का प्रक्षालन या अन्यान्य कार्य करते समय होने वाली हिंसा, आरम्भी हिंसा है।

3. व्यक्तियों के पालन पोषण हेतु, सामाजिक एवं राष्ट्रीय दायित्व को निभाने के लिये व्यापार, उद्योगों आदि में होने वाले हिंसा उद्योगी हिंसा है।

4. राष्ट्र पर शत्रु का आक्रमण होने पर या शील रक्षा हेतु, समाजविरोधी तत्त्वों की रक्षा हेतु जो युद्ध या संघर्ष होते हैं, उनमें होने वाली हिंसा विरोधी हिंसा है।

---

१. पुरुषार्थ सिद्धि. ४३

इन चारों प्रकार की हिंसा में से गृहस्थ केवल संकल्पी हिंसा का त्यागी होता है, जबकि साधु को चारों प्रकार की हिंसा त्याज्य है।

अहिंसा महाव्रत की भावना

प्रवृत्ति-निवृत्ति के तीन स्रोत हैं-मन, वचन और काया। ये स्रोत शुभ एवं अशुभ दोनों ओर गति करते हैं। शुभ और अशुभ में प्रवृत्त करने वाली भावना है। भावना के माध्यम से अशुभ प्रवृत्ति को शुभ में तथा शुभ को अशुभ में बदला जा सकता है। इस प्रकार भावना के परिष्कार हेतु सदैव सतर्क एवं सावधान रहना चाहिए। अहिंसा महाव्रत की पाँच भावनाएँ हैं, जो कि महाव्रत के परिपालन के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अहिंसा का पालन यह जीवन का व्रत-महाव्रत नहीं अपितु संस्कार है। जीवन के हर पहलू में इन संस्कारों की छाप होनी चाहिये। ये भावनाएँ इनको परिपुष्ट बनाने तथा सुरक्षा के लिए उपयोगी है। आचाराङ्ग सूत्र में एवं तत्त्वार्थ सूत्र में[1] अहिंसा महाव्रत के सम्यक् पालन के लिए पाँच भावनाओं का विधान है। उसी प्रकार प्रश्न व्याकरण सूत्र में ये पाँच भावनाएँ प्राणातिपात विरमण रूप में हैं।[2] महाव्रत की रक्षा हेतु भावना रूपी पाँच प्रहरी खड़े किये गये हैं। ये भावनाएँ निम्न हैं-

1. ईर्यासमिति भावना
2. मनःसमिति भावना
3. वचन समिति भावना
4. एषणासमिति भावना
5. आदान-निक्षेपण समिति भावना

1. ईर्या समिति भावना-यहाँ ईर्या का अर्थ है-चर्या। गमनागमन ही नहीं अपितु सोना, उठना, बैठना, जागना आदि सभी का समावेश इसमें किया गया है। साधु को प्रत्येक प्रवृत्ति सावधानी के साथ करनी चाहिये। ईर्या समिति की भावना से अहिंसा साकार होती है।

2. मनः समिति भावना-मनःसमिति से तात्पर्य है, मन को सम्यक् चर्या में लगाना। मन की कुशल प्रवृत्ति मनःसमिति है। मनःसमिति भावना हमारे मन

---

१. आचा. २.१५. १७९, तत्त्वार्थ सूत्र ७.३

२. प्रश्नव्याकरण संवरद्वार १.

मंदिर का द्वारपाल है, जो कि अशुभ विचारों को मन में प्रवेश करने से रोकता है।

3. वचन समिति भावना-हिंसक अथवा मन दुखाने वाले वचनों को बोलने का विवेक रखना। वचन समिति की भावना से साधक चिन्तन के द्वारा वचन को शुद्ध और मधुर बनाता है, फलस्वरूप अप्रिय एवं अहितकारी वचन प्रयुक्त नहीं होते।

4. एषणा समिति-भावना-कल्पनीय, निर्दोष आहार, वस्त्र, पात्र आदि आवश्यकीय वस्तुओं की प्राप्ति के लिए साधु अदीन होकर गवेषणा करता है। उसकी प्राप्ति के लिए प्रयास करता है।

5. आदान निक्षेपणा समिति-साधु जीवन में आवश्यकतानुसार रखे गये उपकरणों का उपयोग सावधानीपूर्वक किया जाता है। प्रतिलेखना और प्रमार्जना करके ही उनको ग्रहण करना तथा उनको उठाना यह निक्षेपणा समिति है।

इस प्रकार इन भावनाओं के चिन्तन-मनन एवं परिपालना से अहिंसा-महाव्रत परिपुष्ट होता है। समवायांग में[1] भी इन पाँच भावनाओं का प्रतिपादन किया गया है।

अहिंसा महाव्रत में अपवाद

आगमिक दृष्टिकोण से मूल आगम ग्रन्थों में विशेष रूप से अपवादों का उल्लेख नहीं किया गया। उसमें भी जो अपवाद है उनमें त्रस जीवों की हिंसा के लिए किंचित् मात्र भी अपवाद का निषेध है। परिस्थितिवशात् मात्र वनस्पति काय एवं जल का स्पर्श एवं आवागमन में अपवाद का उल्लेख है। यद्यपि निशीथचूर्णि आदि परवर्ती ग्रन्थों में मुनिसंघ या साध्वीसंघ के रक्षणार्थ सिंह आदि हिंसक प्राणियों एवं दुराचारियों की हिंसा संबंधी अपवादों का उल्लेख है।[2]

परवर्ती ग्रन्थों में जिन अधिक अपवादों का उल्लेख है उसके साथ संघ-रक्षा को प्रधानता दी गई है। इस आधार पर धर्म प्रभावना के निमित्त होने वाली जल, वनस्पति एवं पृथ्वी संबंधी हिंसा को स्वीकृति प्रदान की है।

जैन परम्परा की आधारशिला अहिंसा है। जीव दया, जीव रक्षा का संबंध अहिंसा भावना की परिपूर्णता पर ही निर्भर है। प्राणिमात्र के प्रति सद्भावना मैत्री

---

१. *समवायांग ५*

२. *निशीथ चूर्णि २८९*

का संदेश जिस परम्परा में हो, वहाँ उसके लिए अपवाद को स्थान भी कैसे हो सकता है? स्व रक्षा हेतु हिंसा का सहारा कदापि नहीं लिया जा सकता। मात्र संघ रक्षा हेतु ही अपवाद मार्ग का निर्देश किया गया है।

अहिंसा के दो प्रकार-विधेयात्मक और निषेधात्मक

अहिंसा के मुख्यतया दो रूप हैं-

1. निषेधात्मक 2. विधेयात्मक।

1. निषेधात्मक-निषेध से तात्पर्य है, किसी भी चीज को न होने देना। निषेधात्मक अहिंसा का अर्थ है किसी भी प्राणी के प्राणों का हनन न होना, उन्हें किसी प्रकार का कष्ट न पहुँचाना। आचारांग, सूत्रकृतांग, प्रश्नव्याकरण, दशवैकालिक, आवश्यक प्रभृति आगमों में षट्काय को तीन करण, तीन योग से हानि न पहुँचाने का जो सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, वह अहिंसा का निषेधात्मक रूप है।

2. विधेयात्मक-निषेधात्मक की तरह इसका विधेयात्मक रूप भी है। यदि अहिंसा के नकारात्मक पहलू से ही विचार किया जाये तो यह अहिंसा का अपूर्ण ज्ञान है। इसे पूर्ण रूप से समझने के लिए विधेयात्मक पहलू भी समझना होगा। प्रश्नव्याकरण[1] में अहिंसा के 60 नाम प्रतिपादित कियेगये हैं। जिनमें दया, रक्षा, अभय, समता आदि नाम विधेयात्मक पहलू पर प्रकाश डालते हैं।

अहिंसा का निषेधात्मक स्वरूप निवृत्तिमूलक है, तो विधेयात्मक स्वरूप प्रवृत्तिमूलक है। प्रवृत्ति और निवृत्ति दानों ही पहलुओं में अहिंसा समाहित है। यदि अहिंसा को निवृत्ति अथवा प्रवृत्ति मूलक मानकर इसके एक ही पहलू को स्वीकार किया जाये तो वह अहिंसा अधूरी है। एक दूसरे के अभाव में वह पूर्ण नहीं हो सकती। क्योंकि प्रवृत्ति रहित निवृत्ति भी निष्क्रिय है। असद् आचरण से निवृत्ति होकर सदाचरण में प्रवर्तन अहिंसा का वास्तविक स्वरूप है। प्रज्ञामूर्ति पं. सुखलालजी का कथन इसी समर्थन में है "अहिंसा केवल निवृत्ति में ही चरितार्थ नहीं होती उसका विचार निवृत्ति में से अवश्य हुआ है, किन्तु उसकी कृतार्थता प्रवृत्ति में ही हो सकती है।[2] इस प्रकार अहिंसा के निषेधात्मक अर्थात् निवृत्तिपरक तथा विधेयात्मक अर्थात् प्रवृत्तिपरक पहलू पर ही इसका सर्वांगीण स्वरूप निहित है।"

---

१. प्रश्नव्याकरण-आस्रवद्वार प्रथम अध्ययन.

२. अहिंसा के आचार और विचार का विकास-पं. सुखलाल पृ. ७-९

2. सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं (सत्य महाव्रत)

सर्वतः मृषावाद से विरत होना अर्थात् सम्पूर्णतः असत्य का परित्याग करना, यह साधु का दूसरा महाव्रत है। साधु को मन, वचन एवं काया द्वारा कृत, कारित एवं अनुमोदित इन नव कोटियों के साथ असत्य से विरत होना होता है और सत्य पर आरोहण करना होता है। दूसरी ओर मन, वचन और काय में एकत्व का अभाव होना मृषावाद है[१], तो इन तीनों योगों में एकीभाव होना सत्य महाव्रत की परिपालना है। सत्य महाव्रत के सन्दर्भ में वचन शुद्धि अर्थात् वचन की सत्यता पर विशेष बल दिया गया है। क्योंकि सत्य ऐसा सजग प्रहरी है कि उसकी सजगता में अन्य बुराईयाँ पास में फटक नहीं सकती।

असत्य का मूल स्रोत क्या है? किन आन्तरिक वृत्तियों के कारण असत्य जन्म लेता है। जैन दार्शनिकों ने असत्य का मूलकारण मिथ्यात्व कहा है। मुख्य रूप से असत्य चार कारणों से बोला जाता है-क्रोध से, लोभ से, भय से और हास्य से।[२] क्रोध के आवेश में, लोभ में मन लुभाया हो, भय का भूत मन पर सवार हुआ हो अथवा हास्यास्पद प्रसंग हो तो मानव मन सहज ही असत्य भाषण में प्रवृत्त हो जाता है। जब ये विकार मन को विकृत बना देते हैं, तब मानव विवेक की पराकाष्ठा चूक जाता है, उसका विवेक नष्ट हो जाता है। फलस्वरूप उसकी वाणी और व्यवहार में असत्य झलकने लगता है।

आचार्य अगस्त्यसिंह स्थविर[३], आचार्य जिनदासगणि महत्तर[४] और आचार्य हरिभद्रसूरि[५] ने इन चार कारणों का विश्लेषण करते हुए कहा है कि ये चारों कारण उपलक्षण मात्र है। क्रोध से मान को, लोभ से माया को भी ग्रहण किया है। भय और हास्य के कथन से राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान आदि कारणों का भी ग्रहण किया गया है। इस प्रकार अनेक वृत्तियों को असत्य का कारण बताया गया है। मूलतः चार कारण, क्रोध, लोभ, भय और हास्य के कारण असत्य बोलने का विधान किया गया है।

इन चूर्णियों[६] में मृषावाद के चार प्रकारों का भी कथन किया गया है-

1. सद्भाव प्रतिषेध-जो है, उसके विषय में यह नहीं है। यथा-जीव, पुण्य, पापादि के सम्बन्ध में कहना कि ये नहीं हैं।

---

१. निशीथचूर्णि ३९८८
२. दशवैकालिक सूत्र ४.१२
३. दश चूर्णि, प १४५
४. दश चूर्णि प. १४८
५. दशवै. हारिभद्रीय टीका पत्र. १४६
६. दश. चूर्णि अगस्त्यसिंह दश. चूर्णि जिनदासमहत्तर पृ. १४८

2. असद्भाव उद्भावना-जो नहीं है, उसके लिए कहना कि वह है। जैसे-आत्मा को श्यामक, तंदुल के समान कहना।

3. अर्थान्तर-एक वस्तु को अन्य बताना अर्थात् वस्तु है कुछ और उसे कुछ और बताना।

4. गर्हा-हिंसाकारी, पापकारी और अप्रिय वचन बोलना। जैसे काणे को काणा कहना, मारो, काटो आदि कहना। इस प्रकार के वचन बोलना जिससे सुनने वाले को पीड़ा हो।

इस प्रकार उपर्युक्त चारों प्रकार का असत्य संभाषण साधु के लिए सर्वथा त्याज्य एवं वर्जनीय कहा गया है।

दशवैकालिक सूत्र में साधु के लिए प्रयोज्य भाषा का वर्णन विस्तृत रूप से किया गया है। सप्तम सुवाक्य शुद्धि नामक अध्ययन इस विषय पर पूर्णतः प्रकाश डालता है। जैनागमों में चार प्रकार की भाषा वर्णित है-1. सत्य 2. असत्य 3. मिश्र और 4. व्यावहारिक।[1]

इन चारों भाषाओं में से श्रमण के लिए असत्य एवं मिश्र भाषा सर्वथा त्याज्य है। यही नहीं सत्य और व्यावहारिक भाषा भी पाप और हिंसा की संभावना को लिए हुए हो, तो साधु को उसका भी व्यवहार नहीं करना चाहिए। सत्य एवं व्यावहारिक भाषा का प्रयोग साधु को निर्दोषता एवं अहिंसा के साथ करना चाहिए। दशवैकालिक सूत्र में इसका स्पष्टतः उल्लेख है कि "प्रज्ञावान् भिक्षु अवक्तव्य (न बोलने योग्य) सत्य भाषा, किंचित् सत्य एवं किंचित् असत्य ऐसी मिश्र भाषा का प्रयोग वाक्यसंयमी साधु न करे। वह निश्चयकारी, भेदकारी, मर्मकारी, अपमानजनक, कटु, कर्ण-अप्रिय, दुःखकारी भाषा न बोले। साधु पारिवारिक संबंध सूचक भाषा जैसे कि है माता-पिता, सखी, मित्र आदि का व्यवहार न करे और मनोविनोद के लिए हास्यादि में भी झूंठ का प्रश्रय न ले।[2] स्वार्थ एवं परार्थ के लिए भी साधु को न स्वयं असत्य बोलना चाहिए, और न अन्य को प्रेरित करना चाहिए। असत्य वचन सदैव अविश्वास को उत्पन्न करता है। जैन परम्परा असत्य के साथ अप्रिय सत्य, सावद्यकारी सत्य का भी निषेध करती है।"

---

१. पुरुषार्थसिद्धयुपाय ९१

२. दशवैकालिक ७.१-४, ६-११, १४, १५

सत्य महाव्रत की भावनाएँ

गृहस्थ साधक आंशिक रूप से ही सत्य की प्रतिपालना कर पाता है, उसे स्वीकार करने पर भी। उसका सत्य अणुव्रत होता है। जबकि साधु सत्य को पूर्ण रूप से स्वीकार करता है, इसलिए उसका सत्य व्रत नहीं अपितु महाव्रत होता है।

क्रोध, लोभ हास्य, भय, प्रमाद आदि मोहनीय कर्म की प्रकृतियों के अस्तित्व में रहने पर भी मन, वचन और काया से तथा कृत, कारित और अनुमोदना से कभी भी झूंठ न बोल्कर हर क्षण सावधानीपूर्वक, हितकारी सार्थक और प्रियवचन बोलना सत्य महाव्रत है।[१] उनको निरर्थक और अहितकारी बोला गया सत्य वचन भी त्याज्य है। इसी तरह सत्य महाव्रती को असभ्य वचन भी नहीं बोलना चाहिए।[२] इसी प्रकार यह भोजन बहुत स्वादिष्ट है, अच्छा है, बहुत अच्छी तरह पकाया हुआ है, सुन्दर है, आकर्षक है, ऐसा सावद्यवचन भी उसे नहीं बोलना चाहिए।[३] मैं यह कार्य आज अवश्य ही कर लूंगा। इस प्रकार निश्चयात्मक भाषा साधु द्वारा प्रयुक्त नहीं होनी चाहिए। सावद्य भाषा में असत्य होने की गुंजाइश रहती है। इसीलिए साधु को सदैव हित, मित, प्रिय वचन बोलने का अभ्यासी होना चाहिए।

सत्य महाव्रत की सुदृढ़ता के लिए भी पाँच भावनाओं का प्रतिपादन किया गया है। इन पाँच भावनाओं के चिन्तन-मनन से संसार परिमित होता है।[४] भावनाओं के निदिध्यासन से व्रतों में स्थिरता आती है।[५] अतः भावनाओं का आगम साहित्य में विस्तार से विश्लेषण किया गयाहै। आचाराङ्ग[६] समवायांग[७] और प्रश्नव्याकरण[८] में भावनाएँ निरूपित है यहाँ प्रश्नव्याकरण[९] में उल्लिखित भावनाओं के आधार से विश्लेषण करते हैं-

1. अनुचिन्तय समिति भावना

अनुचिन्त्य अथवा अनुविचिन्त्य से तात्पर्य है सत्य के विभिन्न पहलुओं पर पुनः पुनः चिन्तन कर बोलना। सत्य के महत्त्व को समझकर साधु उसके बाधक

१. उत्तराध्ययन २५.२४, १९,२७
२. उत्तरा. २१.१४
३. वही १-२४-३६
४. वही ३१-१७
५. ततस्थैर्यार्थं भावना पंच पंच तत्त्वार्थ ७.३
६. आचारांग २ श्रुत. १५
७. समवाय २५ वां समवाय
८. प्रश्न संवरद्वार ७ अध्य
९. प्रश्नव्याकरण संवर द्वार ७

तत्त्वों का त्याग करता है। ये बाधक तत्त्व हैं-

1. अलीक वचन जो बात नहीं है उसे कहना, स्वयं की प्रशंसा करने के लिए और दूसरों को नीचा दिखाने के लिए झूंठ बोलना।

2. पिशुन वचन अथवा चुगली-नारद की भांति एक दूसरे को लड़ाना। चुगली करना आदि।

3-4. कठोर वचन तथा कटु वचन-ये दोनों भी सत्य के शत्रु हैं। हितकारी बात को भी कठोर-कटु शब्दों में नहीं कहना, बल्कि मधुर शब्दों का प्रयोग करना।

5. चपल वचन-बहुत की उतावल, जल्दी में बिना सोचे समझे बोलना। इस प्रकार साधु को इन बाधक तत्त्वों से बचना चाहिये। टीकाकारों ने अनुवीचि भाषण का अर्थ चिन्तनपूर्वक बोलना किया है। प्रस्तुत भाषण में भाषा व उसके गुण दोषों पर चिन्तन करके सत्य के प्रति मन में दृढ़ता रखी जाती है।

2. क्रोध निग्रह रूप क्षमा भावना

असत्य भाषा का प्रथम कारण क्रोध है। क्रोधावेश में विवेक नाश हो जाता है। उसे भान नहीं रहता है कि मैं किसके सामने क्या बोल रहा हूँ। इसलिए इस भावना में क्रोध से बचकर क्षमा धारण की जाती है। इस भावना का उद्देश्य ही यही है कि आत्मा को क्षमा गुण से भावित करना।

3. लोभ विजयरूप निर्लोभ भावना

क्रोध की भांति लोभ भी असत्य का संहार करने वाला है। लोभ के कारण भी मनुष्य असत्य संभाषण करता है। संसार में आसक्ति एवं ममत्व लोभ के ही परिणाम है। सत्य का अन्वेषक साधक निर्लोभ भावना के चिन्तन के आश्रय से लोभ वृत्ति को समाप्त करने का प्रयास करता है। साधु को लोभ का त्याग करके बोलना चाहिये क्योंकि लोभ के वशीभूत होकर भी असत्य बोला जाता है।

4. भयमुक्तियुक्त अभय भावना

जब भय का संचार होता है, तब व्यक्ति की बुद्धि कुंठित हो जाती है, उसमें करणीय अथवा अकरणीय का यथातथ्य निर्णय करने की क्षमता नहीं रहती। भयभीत व्यक्ति सत्य नहीं बोल पाता। साधु को भय के दुष्परिणामों का चिन्तन करके अभय बनने का प्रयास करना चाहिए। साधु भयमुक्ति के लिए अभय भावना से आत्मा को भावित कर सत्य के चिन्तन को सुदृढ़ करता है।

5. हास्य-मुक्ति वचन संयम रूप भावना

हास्य सत्य का शत्रु है। हंसी मजाक में दूसरों के मन को तो पीड़ा होती है साथ ही असत्य वाणी का भी प्रयोग हो जाता है। साधु को हास्य का त्याग करना चाहिये। हास्य प्रसंगों में असत्य भाषण की संभावनाएँ रहती है। अत: हंसी मजाक का परित्याग करके संयम के द्वारा ऐसे संस्कार जागृत करे कि उसकी वाणी पूर्ण संयत, निर्दोष एवं यथार्थ हो। वह हित, मित, प्रिय, तथ्य व सत्य से संपृक्त वचनों को अपनी साधना का अंग बनाये।

इस प्रकार साधु सत्य की इन पाँच भावनाओं का ध्यान रखकर तदनुसार प्रवृत्त होवे। जो इनके अनुसार व्यवहार करता है, उसने सत्य महाव्रत स्वीकार किया है, क्रियान्वित किया है। और जिनाज्ञा का पालन किया है।[१] ऐसा कहा जा सकता है। जैन परमपरा में भाषा-सम्बन्धी विवेक का गंभीरतम चिन्तन प्रस्तुत किया गया है।

इस प्रकार जैन परम्परा में असत्य एवं अप्रिय सत्य को त्याज्य कहा है। उक्त कथन से यह तात्पर्य निकलता है कि जैनाचार्यों की दृष्टि में भाषा संबंधी सत्य का स्थान अहिंसा के पश्चात्वर्ती इसीलिए है कि सत्य भी अहिंसा से परिपूर्ण हो एवं अहिंसा को पुष्ट करने वाला हो। अतएव सत्य को अहिंसक बनाने का प्रयास किया गया है। इस हेतु भाषा-व्यवहार में पूर्णतया सतर्कता रखने का उल्लेख किया गया है। यहाँ यह समझना भूल होगी कि जैन परम्परा में अहिंसा को विशेष महत्व दिया है, सत्य का कोई मूल्य नहीं।

जैन आचार्यों ने सत्य को महत्त्वपूर्ण स्थान ही नहीं दिया, उसे तो समग्र लोक में सारभूत कहा है।[२] उनकी दृष्टि में सत्य तो भगवान् है (तं सच्चं भगवं)। श्रमण भगवान् महावीर ने स्पष्टतया कथन किया है कि "सत्य में मन की स्थिरता करो, जो सत्य का वरण करता है वह बुद्धिमान समस्त पापकर्मों का क्षय कर देता है। सत्य की आज्ञा में विचरण करने वाला साधक इस संसार से पार हो जाताहै।[३]"

सत्य महाव्रत के अपवाद

सत्य महाव्रत के सन्दर्भ में आगम ग्रन्थों में कुछ अपवादों का भी उल्लेख किया गया है। यद्यपि इन अपवादों में सत्य के स्थान पर अहिंसा को पुष्ट करने का दृष्टिकोण परिलक्षित होता है। क्योंकि जिन परिस्थितियों में सत्य और

---

१. आचा. २.१५.१७९

२. (प्रश्नव्याकरण सूत्र २.२.)

३. (आचा. १.३.२, १.३.३.)

अहिंसा में विरोध उपस्थिति हो जाता हो और उनमें से किसी एक का ही पालन करना हो तो इस परिस्थिति में अहिंसा व्रत की रक्षा के लिए सत्य को अपवाद रूप में स्वीकार किया गया है। आचाराङ्ग सूत्र में कथन है कि "यदि भिक्षु मार्ग में जा रहा हो और सामने से कोई शिकारी व्यक्ति आकर उससे पूछे कि क्या तुमने किसी मनुष्य अथवा पशु आदि को इधर आते देखा है? ऐसी परिस्थिति में प्रथम तो साधु उसके प्रश्न की उपेक्षा करके मौन रहे। यदि मौन रहने जैसी स्थिति न हो अथवा मौन रहने का अर्थ स्वीकार करने की संभावना हो तो जानता हुआ भी यह कह दे कि मैं नहीं जानता।[१]" यहाँ स्पष्टतया सत्य व्रत में अपवाद मार्ग का सेवन किया गया है। ऐसा ही उल्लेख निशीथ चूर्णि में भी किया गया है।[२] बृहद्कल्पभाष्य[३] में भी नवदीक्षितों को संयम में स्थिर रखने के लिए गीतार्थ द्वारा कुछ अपवादों को स्वीकार किया गया है।

वस्तुतः यहाँ अपवाद मार्ग का स्वीकार अपनी कमजोरियों को छिपाने के लिए नहीं किया गया वरन् असत्य का आश्रय अहिंसा अथवा जीव दया को लक्ष्य में रखकर किया गया है। भगवान् महावीर ने भी अपने जीवन में कई उपसर्गों का सामना मौन धारण करके किया। आगमिक दृष्टिकोण में अहिंसा एवं सत्य की परिपालना पर जोर दिया गया है। अपवाद मार्ग की स्वीकृति सापेक्ष दृष्टिकोण को रखकर ही दी गई है। आचार्य शीलांक ने आचाराङ्ग व सूत्रकृताङ्ग दोनों ही वृत्तियों में अपवाद के सन्दर्भ में स्पष्ट रूप से कहा है कि "प्रवंचना की बुद्धि से रहित मात्र संयम की रक्षा के लिए एवं कल्याण भावना से बोला गया असत्य दोष रूप नहीं है।"

3. सव्वाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं (अस्तेय महाव्रत)

जैन परम्परा में अहिंसा एवं सत्य के समान ही "अस्तेय" पर भी गहराई से चिन्तन किया गया है। सामान्यतया अस्तेय का अर्थ चोरी नहीं करना किया गया है। जैन परम्परा में इसका विराट् स्वरूप ग्रहण किया गया है। इसके लिए प्रयुक्त किया है 'अदत्तादान' अर्थात् बिना दी हुई वस्तु को स्वयं की इच्छा से उठाना, स्वामी की अनुमति के बिना किसी भी वस्तु को ग्रहण करना व उसका उपभोग एवं उपयोग करना अदत्तादान है- इसका त्याग करना।

प्रश्नव्याकरण सूत्र[४] में स्तेय और अस्तेय की विस्तार से व्याख्या की गई है। उसमें स्तेय और अस्तेय के अनेक रूप बताये हैं। किसी की निन्दा करना, किसी

१. आचा. २.१३३.१२९

२. निशीथचूर्णि ३२२

३. बृहत्कल्प २.८२

४. प्रश्नव्याकरण आस्रवद्वार अध्य. ३, तथा संवर द्वार अध्ययन.३

के दोषों को देखवा, चुगली करना, दान आदि सत्कर्म में अन्तराय डालना, अन्य जीवों के प्राणों का अपहरण करना, दूसरे के अधिकार को छीनना, किसी की भावना को ठेस पहुँचाना, किसी के साथ अन्याय करना आदि सभी तस्कर कृत्य हैं। अस्तेय महाव्रत के साधक को तस्कर वृत्ति के इन सभी प्रकारों का त्याग करना चाहिए।

दशवैकालिक सूत्र में अस्तेय महाव्रत के लिए स्पष्ट कथन है कि "मुनि गाँव में, नगर में या अरण्य में थोड़ी या बहुत, छोटी या बड़ी, सजीव या निर्जीव किसी वस्तु को बिना दिये हुए न ले, स्वामी की आज्ञा के बिना न ले, न दूसरों को इस प्रकार अदत्त लेने की प्रेरणा दे और न अदत्त ग्रहण का अनुमोदन करें।[१]"

प्रश्नव्याकरण सूत्र[२] में स्तेय की विविध व्याख्याओं में स्तेय की दो परिभाषा हैं-1. अर्थहरण 2. अधिकार हरण

अस्तेय व्रत का संबंध अर्थ-पदार्थ से विशेष रूप से है। जीवित रहने के लिए प्राणी को अन्न , वस्त्र, आवास आदि पदार्थों की अनिवार्य आवश्यकता होती है। इनका उपयोग एवं उपभोग उसे करना पड़ता है। करने से पूर्व उसे अपनी सीमा, मर्यादा के बारे में सोचना पड़ता है। वह कितने और कौन से पदार्थ का अधिकारी है? किस विधि से उसे ग्रहण करना है? उसका उपयोग उचित है अथवा नहीं? उसके द्वारा दूसरों के अधिकारों का हनन न हो? अन्यों को जीवन जीने में कठिनाई न हो? ये सभी प्रश्न अस्तेय व्रत की महत्ता ज्ञापित करते हैं।

साधु के लिए सामान्य नियम यही है कि वह अपनी आवश्यकता की पूर्ति भिक्षा द्वारा ही करे। न केवल नगर में अथवा गाँव में वरन् अरण्य-वन में भी किसी वस्तु की आवश्यकता हो तो वह किसी के दिये जाने पर ही ग्रहण करे।[३] एक तिनका मात्र भी बिना दिये वह ग्रहण न करे।[४]

जैन परम्परा के अनुसार चौर्य कर्म भी एक प्रकार की हिंसा है। आचार्य अमृतचन्द्र का कथन है कि "अर्थ या सम्पत्ति प्राणियों का बाह्य प्राण है, क्योंकि इन पर उनका जीवन आधारित है इसलिए किसी भी वस्तु का हरण उसके प्राणों के हनन के समान है।[५] प्रश्नव्याकरण सूत्र में भी कहा गया है कि यह अदत्तादान (चोरी) संताप, मरण, एवं भयरूपी पातकों का जनक है, दूसरे के धन के प्रति लोभ उत्पन्न करता है।[६] "

---

१. (दशवै, ४.१३, ६.१३-१४) २. (प्रश्न. आस्रद्वार अध्य. ३) ३. (मूलाचार ५.२९०)
४. (दशवैका. ६.१४) ५. (पुरुषा ९२) ६. (प्रश्न व्या. आस्रवद्वार अध्य.३)

अस्तेय महाव्रत के भांगे

अचौर्य महाव्रत के चौपन (54) भंग विकल्प निर्दिष्ट है[1] (1) अल्प (थोडी वस्तु) (2) बहु (अधिक) (3) अणु (छोटी वस्तु) (4) स्थूल (बड़ी वस्तु) (5) सचित्त (शिष्यादि) (6) अचित्त (वस्त्र-पात्रआदि) इन छः प्रकार की वस्तुओं की न स्वयं मन से चोरी करे, करवाये और अनुमोदन करे इसी प्रकार के अट्ठारह भंग वचन और काया के भी १८ ×३ = ५४ भंग कुल होते है।

अचौर्य महाव्रती इन सभी भंगों का दृढ़ता से पालन करता है।

अचौर्य महाव्रत की भावना

आंचारांग सूत्र[2] में निम्न पाँच भावनाओं का उल्लेख है-

1. साधु प्रथम विचार करके परिमित अवग्रह की याचना करे। यदि इसके विपरीत जो बिना चिन्तन किये ही मितावग्रह की याचना करता है, वह अदत्त ग्रहण करता है। अतः परिमित अवग्रह की याचना करने की भावना करना।

2. याचित वस्तुएँ यथा आहारादि का उपभोग आचार्य अथवा गुरू की आज्ञा से करे। जो बिना अनुज्ञा लिए सेवन करता है, तो वह अदत्तादान ग्रहण करता है। यहाँ अनुज्ञा के चिन्तन संबंधी भावना है।

3. क्षेत्र और काल की मर्यादापूर्वक अवग्रह ग्रहण करना, जो सीमा अथवा परिमाण को स्पष्ट नहीं करता वह अदत्त ग्रहण करता है।

4. जो साधु अवग्रह की अनुज्ञा ग्रहण कर लेने पर भी पुनःपुनः अवग्रह की अनुज्ञा नहीं लेता, वह भी अदत्तादान-दोष से ग्रसित होता है। अतः पुनःपुनः अनुज्ञा ग्रहण संबंधी चिन्तन करना।

5. अपने साधर्मिक/सहवर्ती/सहयोगी साधुओं के लिए भी विचारपूर्वक परिमित परिमाण में वस्तुओं की याचना करना।

प्रश्नव्याकरण[3] में भी इन पाँच भावनाओं का उल्लेख है।

---

१. (पक्खीसूत्र आला. ३)

२. आचा. २.१५

३. प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार अध्य. ८

समवायांग[1], आचारांगचूर्णि[2], आवश्यक चूर्णि[3] में भी कुछ भिन्नता से साथ इन पाँच भावनाओं का उल्लेख किया गया है।

तत्त्वार्थसूत्र[4] में अन्य प्रकार से ये पाँच भावनाएँ उल्लेखित है-

1. शून्यागारवास-पर्वत की गुफा, वृक्ष आदि में रहना।
2. विमोचितावास-दूसरों के द्वारा छोड़े हुए मकान आदि में रहना।
3. परोपरोधाकरण-दूसरों को ठहरने से न रोकना।
4. भैक्ष शुद्धि-आचारशास्त्र में बताई विधि अनुसार भिक्षाग्रहण।
5. सधर्माविसंवाद-मेरा-तेरा करके साधर्मिक से विसंवाद न करना।

इन भावनाओं का निरूपण व्रतों की सुरक्षा के लिए किया गया है। 1 इन भावनाओं के अनुचिन्तन से साधु का हृदय सरल और निश्चित बनता है। उसके मन में अचौर्यभाव के संस्कार सुदृढ़ बनते हैं। वह भूल कर भी अज्ञातरूप में भी किसी की वस्तु का अपहरण नहीं करता, अधिकारों का हरण नहीं करता, उपकारी के उपकार को भूलता नहीं। उसका जीवन उत्तरोत्तर प्रशस्त होता जाता है।

सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं-(ब्रह्मचर्य महाव्रत)

यद्यपि महाव्रतों की परिगणना में क्रमानुसार इसका चतुर्थस्थान है, तथापि अपनी महिमा व गरिमा के कारण सभी व्रतों में प्रमुख स्थान रखता है। इसका कारण यह है कि इस महाव्रत का कोई अपवाद नहीं। साधु को इस महाव्रत का पालन अकाट्य रूप से करना होता है। किसी भी अपवाद मार्ग का सेवन नहीं किया जा सकता। प्रश्नव्याकरण सूत्र में इसकी यशागोथा का गुणगान करते हुए उल्लेख है कि "जैसे श्रमणों में तीर्थंकर श्रेष्ठ है वैसे ही व्रतों में ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है। जो इस ब्रह्मचर्य व्रत की आराधना कर लेता है, वह समस्त व्रत नियमों की आराधना कर लेता है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि जो इस दुष्कर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता है उसे देव, दानव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नरादि सभी नमस्कार करते हैं। सूत्रकृतांग में इसे सभी तपों में श्रेष्ठ स्वीकार किया गया है। इसकी श्रेष्ठता ज्ञापित करते हुए प्रश्न व्याकरण में कथन है कि यह तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व, विनय का मूल है, सभी को शक्ति प्रदान करता है।"

---

१. प्रश्न. संवर द्वार, अध्य. ४

२. सूत्र. १, ६, २३

३. *प्रश्न संवर द्वार अध्य. १*

४. प्रश्न. ९

पुनः कहा गया है कि इस व्रत के भंग होने पर सभी व्रत तत्काल भंग हो जाते है, चूर-चूर हो जाते हैं, खंडित हो जाते हैं, उनका विनाश हो जाता है।

जैन परम्परा में ब्रह्मचर्य

जैन परम्परा में ब्रह्मचर्य व्यापक अर्थ में चर्चित है। प्रथम व सर्वप्राचीन अंग-आचारांग का अपर नाम ही 'ब्रह्मचर्याध्ययन' है।[१] ब्रह्मचर्य अध्ययन में प्रवचन का सार है और मोक्ष का उपाय प्रतिपादित है। मोक्ष प्राप्ति के लिए जितने भी आवश्यक सद्गुण और आचरण करने योग्य बातें हैं, वे सभी ब्रह्मचर्य में विद्यमान है।[२] ब्रह्मचर्य में सारे मूलगुण और उत्तरगुणों का समावेश हो जाता है।[३] आचार्य भद्रबाहू[४] के मन्तव्यानुसार भाव ब्रह्म दो प्रकार है-एक साधु का "बस्ती संयम" और द्वितीय साधु का "सम्पूर्ण संयम"।

साधु जीवन ग्रहण करते समय मुमुक्षु साधक महाव्रतों को स्वीकार करता है। इसमें चतुर्थ ब्रह्मचर्य है।[५] वह देव संबंधी, मनुष्य संबंधी या तिर्यञ्च संबंधी[६] सभी प्रकार के मैथुन का परित्याग करता है। मन-वचन-काया से न स्वयं मैथुन का सेवन करता है, न दूसरों से करवाता है, न मैथुन सेवन करने वालों का अनुमोदन करता है।

आचार्य अकलंक[७] ने अपना स्वतंत्र चिन्तन तत्त्वार्थ वार्तिक में प्रस्तुत किया है-हस्त, पाद, पुद्गल, संघट्टनादि से एक व्यक्ति का अब्रह्म सेवन भी मैथुन है। क्योंकि यहाँ पर एक व्यक्ति भी मोहोदय से प्रकट कामरूपी पिशाच से दो हो जाता है। दो हो जाने से उनका कर्म मैथुन कहलाता है। उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया कि पुरुष-पुरुष का, स्त्री-स्त्री के बीच जो अनिष्ट चेष्टाएँ हैं, वे भी अब्रह्म हैं। अब्रह्मचर्य आसक्ति और मोह का कारण होने से आत्मा के पतन का महत्त्वपूर्ण कारण है, अतः आत्मविकास के लिए ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है। जैन श्रमण के लिए समस्त प्रकार का मैथुन त्रिकरण और त्रियोग से वर्जित है। इस व्रत की साधना के लिए साधु को कठोरतम सावधानी रखनी पड़ती है। आंतरिक वैचारिक सावधानी के साथ ही साथ उससे अधिक सावधानी बाह्य जीवन एवं संयोगो के प्रति रखनी होती है। उच्च कोटि की साधना करने वाला साधु भी

---

१. आचा. निर्युक्ति गा. ११
२. वही गा. ३०
३. वही गा ३० की वृत्ति
४. वही गा. २८
५. दशवैकालिक ४.४, आचा. २.१५
६. दश. ४४, सम. ५
७. तत्त्वार्थवार्तिक ७, १६.९

निमित्त मिलने पर सत्ता रूप में (बीजरूप) में रही हुई वासना के द्वारा पतनमार्ग पर अग्रसर हो सकता है। इन निमित्तों से दूर रहने के लिए साधु को अत्यन्त सावधानीपूर्वक जागृत रहना आवश्यक है। अत: ब्रह्मचर्य व्रत की सुरक्षा के लिए साधु को किस प्रकार सावधानी रखनी चाहिये, उसका उत्तराध्ययनसूत्र[1] में उल्लेख है कि साधु को-

1. स्त्री, पशु और नपुंसक जिस स्थान पर रहते हों, उसका त्याग करना चाहिये।

2. श्रृंगार-रसोत्पादक स्त्री/कथा नहीं करनी चाहिये।

3. साधु स्त्रियों के साथ एक साथ आसन पर नहीं बैठे (उनका स्पर्श भी न करे)।

4. स्त्रियों के अंगोपांग विषय-बुद्धि से न देखे।

5. निकटवर्ती स्त्रियों के कुंजन, गायन, हास्य क्रन्दित शब्द, रुदन और विरह के विलाप का साधु श्रवण न करे।

6. गृहस्थ जीवन में भोगे हुए भोगों (रति क्रीड़ाओं) का स्मरण भी न करे।

7. पुष्टिकारक (गरिष्ठ) आहार न करे।

8. मर्यादा से अधिक भोजन न करे, प्रमाणोपेत आहार करे।

9. शरीर की विभूषा (श्रृंगार) न करे।

10. इन्द्रियों के विषय में आसक्ति न रखे।

वास्तव में तो साधु को उस स्थान का तुरन्त ही परित्याग कर देना चाहिये, जहाँ उसे व्रत भंग की संभावना नजर आती हो।[2]

ब्रह्मचर्य की रक्षा के उपायों को आगम साहित्य में 'गुप्तियाँ' और समाधिस्थान भी कहा गया है। आगम साहित्य में इसके नौ प्रकारों का निर्देश किया गया है। उत्तराध्ययन सूत्र[3], समवायांग सूत्र[4], में इसका वर्णन उपलब्ध होता है-

---

१. उत्तरा. १६.१-१

२. उत्तराध्ययन १६.१४

३. *उत्तराध्ययन १६.१-१०*

४. समवायांग-९

1. विविक्त शय्यासन-ब्रह्मचारी का शयन व आसन स्त्री-पशु-नपुंसक से संसक्त न हो।

2. स्त्रीकथा परिहार-स्त्रियों के शृंगार, हाव-भाव, आदि कथाओं का परिहार करे अर्थात् त्याग करे।

3. निषद्यानुपवेशन-स्त्री के साथ एकासन पर न बैठे, यहाँ तक कि उसके उठ जाने पर भी एक मुहूर्त तक उस आसन पर न बैठे।

4. स्त्री-अंगोपांग अदर्शन-स्त्रियों के अंग-उपांग की ओर दृष्टि तक न डाले, यदि दृष्टि चली भी जाए तो वहाँ से तुरन्त हटा ले।

5. कुड्यान्तर शब्द श्रवणाविवर्जन-दीवार आदि की आड़ से भी स्त्रियों के शब्द, गीत, रूप आदि न सुने, न देखे।

6. पूर्वभोग स्मरण वर्जन-गृहस्थ जीवन में भोगे हुए भोगों का स्मरण न करे।

7. प्रणीत भोजन त्याग-विकारोत्पादक गरिष्ठ भोजन का त्याग करे।

8. अतिमात्र भोजन त्याग-रूक्ष भोजन भी प्रमाणोपेत किया जाये, अधिक मात्रा में न करे।

9. विभूषाविवर्जन-शरीर की विभूषा-सजावट का त्याग करें।

इन गुप्तियों को बाड़ भी कहा गया है। जिस प्रकार खेती की सुरक्षा के लिए खेत के चारों और बाड़ बांध दी जाती है, कि अन्य जीवों से खेती को नुकसान न हो। उसी भांति साधु जीवन की सुरक्षा हेतु इन नव बाड़ो का कथन किया गया है।[२]

इस प्रकार जैन परम्परा में ब्रह्मचर्य व्रत को श्रेष्ठतम व्रत के रूप में स्वीकारा है। अब बौद्ध एवं ब्राह्मण परम्परा में भी इसका स्वरूप दर्शन करें।

बौद्ध परम्परा में ब्रह्मचर्य

बौद्ध परम्परा में भी ब्रह्मचर्य की महिमा का गान एक स्वर से किया गया है। धम्मपद[१] में वर्णित है कि "अगरु और चन्दन की सुगंध अल्प है, पर शील की संगुध इतनी व्यापक है कि वह मानव लोक तो क्या देवलोक में भी व्याप्त है।" विसुद्धिमग्ग[२] में भी शील की सुगंध को अति व्यापक कहा है।

---

१. धम्मपद ४.१२

२. विसुद्धिमग्ग परि. १

साथ ही कहा है कि यदि किसी को स्वर्ग के उच्च स्थल पर पहुँचना हो तो ब्रह्मचर्य के समान उस स्थल पर पहुँचने के लिए अन्य कोई सीढ़ी नहीं।[१]

बौद्ध त्रिपिटक में ब्रह्मचर्य तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है-

1. दीघनिकाय में यह बुद्ध द्वारा प्रतिपादित 'धर्ममार्ग' के अर्थ में,[२]

2. इसी निकाय के पोट्ठपाद में उसका अर्थ 'बौद्ध धर्म में निवास'[३] है, जिससे निर्वाण की प्राप्ति होती है।

3. इसका तीसरा अर्थ 'मैथुन विरमण किया गया है।[४]

इस प्रकार बौद्ध परम्परा में भी ब्रह्मचर्य का महत्त्व कम नहीं है। 'शील-समाधि-प्रज्ञा' इस रूप में शील को प्रथम स्थान दिया गया है। इसे ही निर्वाण (मोक्ष) का द्वार रूप से स्वीकार किया गया है।

ब्राह्मण परम्परा में ब्रह्मचर्य

वैदिक परम्परा में आश्रम व्यवस्था स्वीकृत है। चार आश्रमों में प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम है। इस पर ही अन्य आश्रमों की नींव टिकी है। ऋग्वेद[५], अथर्ववेद[६], तैतिरीय, संहिता[७], शतपथ ब्राह्मण[८] में ब्रह्मचर्य और ब्रह्मचारी शब्दों का उल्लेख हुआ है। वैदिक काल आश्रम की धारणा स्पष्ट रूप से प्राप्त नहीं होती। जबकि छान्दोग्योपनिषद्[९] में पहले आश्रमों का वर्णन हुआ है। जाबालोपनिषद् में[१०] चारों ही आश्रमों का स्पष्टतः उल्लेख है। कालान्तर में धर्मसूत्रों[११] में आश्रम व्यवस्था पूर्णतः स्पष्ट हुई।

ब्रह्मचर्याश्रम में तो इसकी प्रधानता है ही, किन्तु अन्य गृहस्थाश्रम के अतिरिक्त दोनों वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम में भी इसकी परिपालना पूर्णरूप से की जाती है। गृहस्थाश्रम में भी इसकी मर्यादित छूट दी गई है।

यहाँ तक आचार्य वात्स्यायन ने कामशास्त्र में भी इसकी गरिमा को गौरवान्वित किया है। इस प्रकार वैदिक परम्परा में भी ब्रह्मचर्य को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।

---

१. विसुद्धिमग्ग परि. १
२. दीघनिकाय महापरिनिव्वाणसुत्त पृ. १३१
३. वही पोट्ठपाद पृ. ७५
४. विसुद्धिमग्ग प्रथम भाग पृ.य १९५
५. ऋग्वेद १०.१०९.५
६. अथर्ववेद ५.१७.५, ११.५.१.२६
७. तैतरीय संहिता ३.१०.५
८. शतपथ ब्राह्मण ९.५४.१२
९. छांदोग्य २.२३.१
१०. जाबाल उप. ४
11. गौतम धर्मसूत्र ३.१.३५, बोधायन धर्मसूत्र २.६.२९

वेदों के प्रशस्त भाष्यकार सायण[१] ने ब्रह्मचारी का अर्थ वेदात्मक ब्रह्म का अध्ययन करना जिसका स्वभाव है वह माना है। वेद ब्रह्म है।

सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं (अपरिग्रह महाव्रत)

यह साधु का पाँचवाँ महाव्रत है। परिग्रह का त्याग करना अपरिग्रह है। आचार्य उमास्वाति ने 'मूर्च्छा परिग्रहः'[२] अर्थात् मूर्च्छा भाव परिग्रह है, यह उल्लेख किया है। आचार्य शय्यंभव ने भी इसी तथ्य का समर्थन करते हुए किया है। 'मुच्छा परिग्गहो[३] वुत्तो' स्पष्ट है परिग्रह का मूल इच्छाएँ, आसक्ति, तृष्णा, वासना है। साधु को सभी प्रकार के परिग्रह से विरत होना चाहिये।

'परिग्रह' की व्याख्या प्रश्न व्याकरण सूत्र के टीकाकार करते हैं कि "जो सम्पूर्ण रूप से ग्रहण करता है, वह परिग्रह है।[४] " यहाँ सम्पूर्ण रूप से ग्रहण करने का अर्थ मूर्च्छा बुद्धि से ग्रहण करना ही है। इसीलिए साधु को इनसे विरत होने का उपदेश दिया गया है। दशवैकालिक सूत्र में उल्लिखित है कि श्रमण को सर्व परिग्रह का चाहे वह अल्प हो या अधिक हो, चाहे वह सजीव (जीवनयुक्त-शिष्य आदि पर ममत्व रखना अथवा माता-पिता की आज्ञा के बिना किसी को शिष्य बनाकर अपने पास रखना) हो अथवा निर्जीव वस्तुओं का हो, छोटी हो या बड़ी हो त्याग करना चाहिये। साधु मन, वचन और काया से न परिग्रह रखे, न रखवावे और न परिग्रह रखने का अनुमोदन करे।[५] परिग्रह रखने की वृत्ति आन्तरिक लोभ की ही द्योतक है। इसलिए जो श्रमण किसी भी प्रकार का संचय करता है, वह श्रमण न होकर गृहस्थ ही है।[६]

परिग्रह के भेद

जैन आगमों में परिग्रह दो प्रकार का कहा गया है। साथ ही भगवती सूत्र में परिग्रह के तीन प्रकार भी बताये गये हैं[७]-1. कर्म परिग्रह 2. शरीर परिग्रह 3. बाह्य भाण्डमात्र परिग्रह।

---

१. अर्थवेद ११.५.१; ११.५.१७(सायणभाष्य)
२. तत्त्वार्थ. ७.१७
३. दश. ६.२०-२१
४. प्रश्न. वृत्ति २१५
५. दश. ४.५
६. दश. ६.१९
७. भगवती १८.७

1. कर्म परिग्रह-राग द्वेष के वशीभूत होकर अष्ट प्रकार के कर्मों को ग्रहण करना।

2. शरीर परिग्रह-जीवों का शरीर धारण करना, शरीर परिग्रह है।

3. बाह्य भाण्डमात्र परिग्रह-बाह्य वस्तु और पदार्थ आदि।

वास्तव में अन्तरङ्ग और बाह्य परिग्रह में इन तीनों का ही समावेश हो जाता है।

अन्तरङ्ग परिग्रह

प्रश्नव्याकरण सूत्र में अन्तरंग परिग्रह के लिये कहा गया है कि "लालसा, तृष्णा, इच्छा, आशा और मूर्च्छा ये अन्तरंग परिग्रह हैं, जो कि बाह्य परिग्रह का कारण है।[१] अंतरंग परिग्रह के यहाँ पाँच कारण दर्शाये हैं-मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग।[२] बृहत्कल्प भाष्य में चौदह कारणों का कथन हैं- 1. क्रोध 2. मान 3. माया 4. लोभ 5. राग 6. द्वेष, 7. मिथ्यात्व 8. वेद 9. अरति 10. रति 11. हास्य 12. शोक 13. भय 14. जुगुप्सा[३]। कहीं पर राग और द्वेष को कषाय में सम्मिलित कर वेद के स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसक वेद इस प्रकार 14 भेद दिखाई देते हैं।[४]"

वस्तुतः मूल रूप से विषय, कषाय, राग, द्वेष, मिथ्यात्व आदि के कारण मूर्च्छावश होकर कर्मबंध करके जीव संसार में परिभ्रमण करता रहता है।

बाह्य परिग्रह

यद्यपि साधु के लिए अंतरंग और बाह्य सभी परिग्रह त्याज्य है, तथापि आवश्यकतानुसार साधु को आवश्यक कुछ वस्तुएँ रखने की छूट दी गई है। बाह्य परिग्रह की दृष्टि से दिगम्बर एवं श्वेताम्बर परम्परा में किंचित् मतभेद है।

दिगम्बर परम्परा में मुनि की आवश्यक वस्तुओं (उपधि) को तीन भागों में विभाजित किया गया है-

1. ज्ञानोपधि-शास्त्र, पुस्तक, कलम आदि

2. संयमोपधि-मोरपंख से निर्मित पिच्छि आदि

---

१. प्रश्न पृ. ७६१

२. प्रश्न वृत्ति पृ. ७६१

३. बृहत्वकल्प १.८३१, प्रतिक्रमणत्रयी पृ. १७५

४. वहीं. १.८३१ देखिए बोल संग्रह भाग-५ पृ. ३३

3. शौचोपधि-शरीर-शुद्धि के लिए जल ग्रहण करने का पात्र-कमण्डलु[1]। वस्त्रादि दिगम्बर मुनि के लिए निषेध है।

श्वेताम्बर परम्परा में आगमों में चार प्रकार की वस्तुएँ रखने का उल्लेख है-1. वस्त्र 2. पात्र 3, कम्बल 4. रजोहरण[2] प्रश्नव्याकरण सूत्र में साधु के लिए चौदह प्रकार के उपकरणों का विधान है[3]

1. पात्र-लकड़ी-मिट्टी या तुम्बे का, 2. पात्रबंध-पात्र बांधने का कपड़ा 3. पात्र स्थापना-पात्र रखने का कपडा, 4. पात्र केसरिका-पात्र पोंछने का कपड़ा, 5. पटल-पात्र ढंकने का कपड़ा 6, रजस्त्राण 7. गुच्छक 8-10 प्रच्छादक ओढ़ने की चादर (मुनि विभिन्न नापों की 3 चादरें रख सकता है। 11. रजोहरण 12. मुखवस्त्रिका 13. मात्रक 14. चोलपट्ट। इन चौदह वस्तुओं का परिग्रह मुनि कर सकता है।

वास्तव में इन आवश्यक सामग्रियों का विधान संयम-रक्षा हेतु किया गया है। अतः ये धर्मोपकरण कहे जाते हैं। संयमयात्रा के सुखपूर्वक निर्वहण हेतु मुनि इनको ग्रहण करे किन्तु इन पर ममत्व न रखे। अपवाद रूप में सेवाभाव के लिए, रोगनिवारण के लिए अन्य वस्तु को रखने का भी विधान किया गया है।

बाह्य परिग्रह के अन्तर्गत आचार्य हरिभद्र ने नौ भेदों का, तथा बृहत्कल्पभाष्य में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने दस भेदों का निरूपण किया है-1. क्षेत्र-खुली भूमि 2. वास्तु-भवनादि 3. हिरण्य-चांदी 4. स्वर्ण-सोना 5. धन-सम्पति 6. धान्य 7. द्विपद-दास-दासी 8. चतुष्पद-पशु आदि 9. कुप्य-गृह संबंधित सामान।[4] जिनभद्र ने दस प्रकार वर्णित किये है-क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, संचय (तृण-काष्ट आदि), मित्रज्ञातिसंयोग (परिवार), यान (वाहन), शयनासन (पलंग-पीठ आदि) दास-दासी, और कुप्य।[5]

साधु को इन सब परिग्रह से विरत होना चाहिए। अपरिग्रह महाव्रत की पांच भावनाएँ-1. श्रोतेन्द्रिय संवर भावा 2. चक्षुरिन्द्रिय संवर रूप भावना 3. घ्राणेन्द्रिय

---

१. मूलाचार १.१४

२. आचारांग १.२.५.९०

३. प्रश्न-१०, बोलसंग्रह भाग-५ पृ. २८-२९

४. श्रमणसूत्र पृ. ५०, आव. हारिभद्रीयावृत्ति अ. ५

५. बृहत्कल्प भा. ८२५

संवर भावना 4. रसनेन्द्रिय संवर भावना 5. स्पर्शनेन्द्रिय संवर भावना। ये पांचों ही भावनाएँ इंद्रियों के विषयों की आसक्ति का निषेध करती हैं। साधु के अन्तर्मानस में परिग्रह के प्रति आकर्षण को इन भावनाओं के सतत-चिन्तन से दूर किया जा सकता है। परिणामस्वरूप साधु अल्प या बहुत, छोटा या बड़ा, सजीव या निर्जीव पदार्थों पर ममत्व नहीं रखता।

सव्वाओ राईभोअणाओ वेरमणं (रात्रि भोजन परित्यागव्रत)

साधु के पंच महाव्रतों के पालन के साथ साथ छठाव्रत रात्रि भोजन परित्याग का है। उपर्युक्त पांच महाव्रत हैं और यह छठा व्रत है। पांचों विरमण के साथ सम्मिलित करके छठे व्रत के दशवैकालिक सूत्र में 'वयछक्कं'[१] छः व्रतों का उल्लेख किया गया है। एतदर्थ पंचमहाव्रतों को मूलगुण तथा रात्रि भोजनविरमण व्रत को उत्तरगुण गिना गया है।[२] दिगम्बर परंपरा में इसे मूलगुण रूप में मान्य किया गया है। इस प्रकार साधु सम्पूर्णतः रात्रि भोजन का परित्याग करता है। वास्तव में इस व्रत का पालन साधु अंहिसा महाव्रत एवं संयम की रक्षा हेतु करता है।

दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है कि मुनि सूर्यास्त हो जाने पर सभी प्रकार के आहार आदि भोगों की इच्छा मन से भी न करे। महापुरुषों ने इसे नित्य-तप का साधन कहा है जो रात्रिभोजन नहीं करते, क्योंकि रात्रि में आहार करने से अनेक सूक्ष्म जीवों की हिंसा की संभावना रहती है। पृथ्वी पर ऐसे सूक्ष्म, त्रस, स्थावर जीव व्याप्त रहते हैं, कि रात्रि भोजन में उनकी हिंसा से बचा नहीं जा सकता। इस व्रत में अंहिसा की विराट दृष्टि रही हुई है। इसी कारण साधु को रात्रिभोजन का निषेध किया गया है।[३]

आचार्य अमृतचंद्र ने इस व्रत विषयक दो आपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं-1. दिन की अपेक्षा रात्रि में भोजन के प्रति तीव्र आसक्ति रहती है और ब्रह्मचर्य महाव्रत का निर्विघ्न पालन भी नहीं हो सकता। 2. रात्रि भोजन से भोजन-पकाने अथवा प्रकाश के लिए अग्नि प्रदीप्त करने पर अनेक जंतु जल जाते हैं तथा भोजन में गिरते हैं, अतः रात्रि भोजन हिंसा से मुक्त नहीं है।[४]

---

१. दश. निर्युक्ति. २६८

२. उत्तराध्ययन १९

३. दश. ६.२३-२६

४. पुरुषार्थसिद्धयुपाय १३२

प्रश्न है कि आगम-ग्रंथों में पंच महाव्रतों का उल्लेख किया है, वहाँ छठा रात्रिभोजन का व्रत के रूप उल्लेख उपलब्ध नहीं होता, उसका क्या कारण है? उत्तराध्ययन सूत्र के पार्श्वापत्य केशी श्रमण और गणधर गौतम के संवाद में पार्श्वनाथ भगवान का चातुर्याम वाला धर्म तथा महावीर भगवान का पांच शिक्षा वाला धर्म कहा गया है।[१]

आचारांग सूत्र[२], प्रश्नव्याकरण[३] के संवरद्वार में भी पाँच महाव्रत का उल्लेख है। इन पांच महाव्रतों के साथ रात्रिभोजनविरमण का उल्लेख है। इससे यही फलित होता है कि रात्रिभोजन विरमण को याम, शिक्षा और व्रत के रूप में बाद में ग्रहण किया गया हो।

इसका समाधान आचार्य जिनदासगणि महत्तर[४] करते हैं कि "प्रथम और *चरम" तीर्थंकर के साधु ऋजुप्राज्ञ होने के कारण रात्रि भोजन को सरलता से त्याग* देते थे। आचार्य हरिभद्र[५] ने ऋजुजड़ एवं वक्रजड़ साधुओं की अपेक्षा से इसे मूलगुण मान्य किया है।

जैन परंपरा में तो रात्रिभोजन का निषेध किया ही है, किन्तु वैदिक परंपरा में भी इसे अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। मार्कण्डेय ऋषि ने रात्रिभोजन को मांसाहार के समान माना है।[६] महाभारत के शांतिपर्व में भी इसे वर्जनीय कहा गया है।[७] योगशास्त्र में कथन है कि जो रात्रिभोजन करता है वह निकृष्ट योनि में जन्म ग्रहण करता है।[८]

इस प्रकार साधु को पंच महाव्रत के साथ रात्रि भोजन विरमण व्रत का पालन भी अनिवार्य रूप से करना होता है। रात्रि भोजन धार्मिक दृष्टि से भी त्याज्य है ही किन्तु वैज्ञानिक व स्वास्थ्य की दृष्टि से भी हानिप्रद है।

बौद्ध परंपरा में दस भिक्षु शील मान्य किये गये हैं। उस दस शीलों में से छठी शील है विकालभोजन वर्जन।[८] यह विकाल भोजन वर्जन रात्रि में भोजन परित्याग रूपी छठे व्रत के सन्निकट है। इस प्रकार ब्राह्मण एवं श्रमण दोनों ही परम्परा में रात्रि भोजन करना हेय-त्याज्य माना गया है।

१. उत्तराध्ययन २३-१२
२. आचा. २.१५
३. प्रश्न. संवर द्वार
४. दश. जिनदासचूणि पृ. १५३
५. दश. हारिभद्रीया टीका. पृ १५०
६. महाभारत शांतिपर्व
७. वही
८. योगशास्त्र ३.६७
८. विनयपिटक महावग्ग १.५६

4. पंच महाव्रतों का तुलनात्मक अध्ययन-

जैन परंपरा साधु के लिए पंचमहाव्रत + रात्रिभोजन परित्याग स्वरूप छः व्रतों का विधान करती है। उसी तरह अन्य परंपरायें भी इन व्रतों को स्थान देती है या नहीं, उस पर भी हम दृष्टिपात करें। जैन परंपरा के समकालीन है बौद्ध परंपरा। क्या, बौद्ध परंपरा में भी पंच महाव्रत मान्य किये गये हैं? वह भी हम देखें-

(क) बौद्ध परंपरा-में दश प्रकार के शील का विधान किया गया है-1. प्राणातिपात विरमण 2. अदत्तादान विरमण 3. अब्रह्मचर्य या कामेसु मिच्छाचार विरमण 4. मूसावाद (मृषावाद) विरमण 5. सुरामेरयमद्य (मादक द्रव्य) विरमण 6. विकाल भोजन विरमण 7. नृत्यगीतवादित्रविरमण 8. माल्यधारण, गन्ध विलेपन विरमण 9. उच्चशय्या, महाशय्या विरमण 10. जातरूप रजतग्रहण (स्वर्ण-रजतग्रहण) विरमण।[१]

इन दश शीलों में से जैन परंपरा छः शील अर्थात् पांच महाव्रत और छठा रात्रिभोजन के रूप में स्वीकार्य ही है। यद्यपि शेष चार शील को महाव्रत के रूप में स्वीकार न करने पर भी साधु के लिए अवश्यमेय त्याज्य कहा है। मद्यपान, माल्यधारण, गंध विलेपन, नृत्यगीत वाजित्र एवं उच्चशय्या ये साधु के लिए अवश्यमेव वर्जनीय है। वास्तव में देखा जाय तो पंच महाव्रत एवं भिक्षुशील में बाह्य शाब्दिक समानता तो है ही, साथ ही दोनों की मूलभूत भावना प्रायः समान है। बौद्ध परंपरा में भी इनका खूब गहराई से चिन्तन किया है।

(ख) ब्राह्मण परंपरा में पंच यम (महाव्रत)

जिस प्रकार जैन परंपरा साधु के पंचमहाव्रत व रात्रिभोजन परित्याग व्रत का विधान करती है, उसी प्रकार ब्राह्मण (वैदिक) परंपरा पंच यम को स्वीकार करती है। पातंजल योग सूत्र में पंच यम मान्य किये हैं-1. अहिंसा 2. सत्य 3. अस्तेय 4. ब्रह्मचर्य और 5. अपरिग्रह।[२] इनको महाव्रत भी कहा गया है। जो जाति, देश, काल और सभय की सीमा से रहित है। तथा सभी अवस्थाओं में, निरपेक्ष रूप से पालन करने योग्य हैं, वे महाव्रत कहे गये हैं। महाभारत में वेदव्यास ने भी निष्कामयोगी के लिए इन पंच यमों का सेवन आवश्यक बताया है।[३]

अहिंसा महाव्रत-वैदिक परंपरा में संयासी को त्रस एवं स्थावर दोनों प्रकार की हिंसा निषिद्ध है।[४]

---

१. विनयपिटक महावग्ग १.५६ २. पांतजल योग सूत्र-साधनपा ३२
३. महाभारत शांतिपर्व ९.१९ ४. वही

सत्य महाव्रत-जैन परंपरा की भांति यहाँ असत्यभाषण तथा कटुभाषण भी वर्जित है।[१] इसी भांति अस्तेय व्रत का भी पालन करना बताया गया है।

ब्रह्मचर्य महाव्रत-संयासी को ब्रह्मचर्य महाव्रत का पूर्णरूप से पालन करना चाहिए।[२] वैदिक परंपरा में स्वीकृत मैथुन के आठों अंगों का सेवन उसके लिए वर्जित है।[३]

अपरिग्रह की दृष्टि से भिक्षु के लिए जलपात्र, पवित्र (जल छानने का वस्त्र), पादुका, आसन एवं कन्था आदि सीमित वस्तुएँ रखने की अनुमति दी गई है।[४] वायु पुराण में साधु संयासी के उपयोग में आने वाली वस्तुओं के नाम उल्लिखत है।[५] जैन परंपरा की भांति वैदिक परंपरा में भी संयासियों को धातु पात्र निषिद्ध बताया गया है। जिसका उल्लेख मनुस्मृति में है। वहाँ कथन है कि "संयासी का भिक्षापात्र एवं जलपात्र मिट्टी, लकड़ी, तुम्बी या बिना छिद्रवाले बांस का होना चाहिये।[६]"

जैन परंपरा की भांति वैदिक परंपरा में भी इन पांचों ही महाव्रतों को स्वीकार किया गया है। हिंसा के अन्तर्गत त्रस-स्थावर का निषेध स्वीकार किया है। वैदिक परंपरा में भी बौद्ध परंपरा की भांति पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु में जीव सत्ता मान्य नहीं की गई। इसलिए उनकी हिंसा का उल्लेख नहीं किया गया, जबकि स्थूल और सूक्ष्म त्रस प्राणियों की तथा वनस्पति आदि जंगम या स्थावर प्राणियों की हिंसा न करना, स्वीकार किया गया है। सत्य पर विशेष जोर दिया गया है। असत्य उच्चारण कब किया जाय? उसके लिए उल्लेख है कि 'जब सत्य और अहिंसा में विरोध होने पर भी बोलना आवश्यक होने की स्थिति हो तथा न बोलने पर संदेह उत्पन्न होता हो, तब असत्य का अवलम्बन ले सकता है।[७]' महाभारत का यह दृष्टिकोण आचारांग से साम्य लिए हुए है। मनु ने भी ऐसी स्थिति के लिए कहा है कि यदि हिंसक अन्याय से भी कोई पूछे तो उत्तर नहीं देना चाहिये अथवा पागल की भांति अस्पष्ट हां-हूं प्रलाप करना श्रेयस्कर है।[८] सत्य महाव्रत जैन परंपरा के अति निकट ही है, अत्यधिक साम्य लिए हुए है। मैथुन के आठ अंग जैन

---

१. मनुस्मति ६.४७-४८
२. महाभारतशांतिपर्व ९.१९
३. वही
४. धर्मशास्त्र का इतिहास भाग. १ पृ. ४१३
५. वही पृ. ४९३
६. मनुस्मृति ६.५३-५४
७. महाभारत शांतिपर्व ३२६.१३
८. वही-पातंजलयोग प्रदीप पृ. ३७७

परंपरागत ब्रह्मचर्य की नव वाड से साम्यलिए हुए है। इस प्रकार पंच महाव्रतों में साम्य तथा वैषम्य है।

6. महाव्रतों के संरक्षण की व्यवस्था स्वरूप : अष्ट प्रवचन माता-

जैन परंपरा में महाव्रतों की सुरक्षा, विशुद्धता एवं उनकी परिपुष्टता के लिए अष्ट प्रवचन माता का विधान किया गया है। प्रवचन माता किसे कहा जाय? उत्तराध्ययन सूत्र में 'समिति और गुप्ति' को 'प्रवचनमाता' शब्द से अभिहित किया गया है[१] इन प्रवचन माता में संपूर्ण द्वादशांगी समाविष्ट है।[२] द्वादशांगी में ज्ञान-दर्शन चारित्र का विस्तृत विवेचन है, इनको प्रवचन कहा गया है। माता अपने बालक का रक्षण-पोषण करती है, उसे संस्कारित करती है, उसी प्रकार प्रवचनमाता ज्ञान-दर्शन-चारित्र का रक्षण, पोषण करके चारित्र पालन में साधु को संस्कारित करती है। आत्मा के अनन्त गुणों को विकसित कराने वाली, उसका आधान करानेवाली यह प्रवचन माता है।

समिति : परिभाषा-

प्रतिक्रमण सूत्र के वृत्तिकार आचार्य नेमि ने समिति की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है कि "प्रशस्त एकाग्रतापूर्वक की जाने वाली आगमोक्त सम्यक् प्रवृत्ति समिति कहलाती है"।[३] इस प्रकार चारित्र की जो सम्यक् प्रवृत्ति है।[४] ये समितियाँ आचरण की प्रवृत्ति के लिए है[५] शरीरधारण करने के लिए अथवा संयम यात्रा का निर्वहण करने के लिए साधु जो क्रियाएँ संपादित करता है, वह समिति है।

समिति : प्रकार-

समितियाँ पांच है-1. ईर्या 2. भाषा 3. एषणा 4. आदानभण्ड निक्षेपणा 5. उच्चारादि प्रतिस्थापन।[६] इन पांचों समितियों के साथ तीन गुप्ति-1. मन 2. वचन और 3. काया को भी समिति से अभिप्रेत किया गया है। टीकाकार ने इसके रहस्य को उद्घाटित करते हुए कहा कि गुप्तियाँ केवल निवृत्यात्मक ही नहीं होती, प्रवृत्यात्मक भी होती है। इसी दृष्टि से इनको समिति भी कहा गया है। जो समिति होता है वह नियमत: गुप्त होता ही है और जो गुप्त होता है वह समित होता भी है और नहीं भी होता।[७] मूलाराधना में आचार्य शिवार्य का कथन है कि

---

१. उत्तराध्ययन २४.१
२. वही २४.३
३. प्रतिक्रमण सूत्र वृत्ति)
४. उत्तराध्ययन २४.२६
५. वही
६. उत्तराध्ययन २४.२
७. उत्तरा. बृहद्वृत्ति पृ. ५१४

"समितियों का समयक् प्रकार से पालन करनेवाल साधु जीवों से आकुलित इस विराट विश्व में रहते हुए भी पापों से लिप्त नहीं होता। जिसप्रकार एक योद्धा जिसने सुदृढ़ कवच धारण कर रखा है, उस पर भीषण बाणों की वर्षा भी उसे बींध नही सकती, उसी प्रकार समितियों का समयक् पालन करने वाला साधु जीवन के विविध कार्यों में प्रवृत्त होता हुआ भी पापों से निर्लिप्त रहता है।[१]

1. ईर्या समिति-

युग परिमाण अर्थात् चार हाथ आगे की भूमि को एकाग्र चित्त से देखते हुए यतनापूर्वक गमनागमन करना ईर्या समिति है।[२] ईर्या का अर्थगमन है। गमन विषयक सत्यप्रवृत्ति ईर्या है। उत्तराध्ययन में कथन है कि साधु को चलते समय पांचों ही इंद्रियों के विषयों तथा पांचों प्रकार के स्वाध्यायों को छोड़कर मात्र चलने की क्रिया में लक्ष रखकर चलना चाहिये।[३] आचाराङ्ग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध के तीसरे अध्ययन का नाम ही ईर्या है। इसमें ईर्या के विषय में विस्तृत चर्चा है। उसमें उल्लेख है कि-

1. ईर्या का अर्थ यहाँ केवल गमन करना नहीं है। अपने लिये भोजनादि की तलाश में तो प्रायः सभी गमन करते हैं, उसे यहाँ ईर्या नहीं कहा गया, यहाँ तो साधु के द्वारा किसी विशेष उद्देश्य से कल्प-नियमानुसार संयमभावपूर्वक यतना एवं विवेक से चर्या (गमनादि) करना ईर्ष्या है।[४]

2. इस दृष्टि से यहाँ 'नाम-ईर्या', 'स्थापना ईर्या' 'तथा' 'अचित्तमिश्रद्रव्य ईर्या' को छोड़कर साधु के द्वारा 'सचित द्रव्य ईर्या,' 'क्षेत्रईर्या, कालईर्या से सम्बद्ध भावईर्या विवक्षित है। चरण ईर्या और संयम ईर्या के भेद से भाव ईर्या दो प्रकार की होती है। अतः-स्थान, गमन, निषद्या और शयन इन चारों का समावेश ईर्या में होता है।[५]

3. इसी के अन्तर्गत किस द्रव्य के सहारे से, किस क्षेत्र में (कहाँ) और किस समय में (कब) कैसे एवं किस भाव गमन हो, इसका प्रतिपादन ईर्या में होता है।[६]

ईर्या समिति की विशुद्ध आराधना व साधना के लिए चार बातों का ध्यान रखना आवश्यक है-1. आलम्बन 2. काल 3. मार्ग 4. यतना।[७]

---

१. मूलाराधना ६.१२००-२ २. आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति)
३. उत्तरा २४.८
४. आचा. टीका. पत्र ३७४. आचा.: नि. गा. ६०५, ३०६
५. आचा. टीका पत्र ३७४, आचा. नि. ३०७ ६. आचा. टीका पत्र ३७४
७. आचा. टीका पत्र ३७४, उत्तराध्ययन २४.४-८

इस समिति का आलंबन ज्ञान, दर्शन व चारित्र है।[1] साधक स्वाध्याय व ध्यान के लिए[2], आहार-पानी-वस्त्रादि एषणीय पदार्थों की गवेषणा के लिए[3], शारीरिक मल-मूत्रादि विसर्जन के लिए और ग्रामान्तर जाने के लिए[4] गमनागमन करता है। यही प्रस्तुत समिति का आलंबन है।

2. काल-साधु ईर्यासमिति का पालन कालानुसार अर्थात् दिन में करे, रात्रि में नहीं।[5]

3. मार्ग-उत्पथवर्जित (सुमार्ग) मार्ग पर गमन करे। कुमार्ग में जाने से संयम की विराधना होने की संभावना है।[6]

4. यतना-यतना द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से चार प्रकार की कही गई है। द्रव्य से आंखों से जीवादि द्रव्यों को देखकर चले, क्षेत्र से युगप्रमाण (चार हाथ) भूमि आगे देख कर गमन करे, काल से जब तक दिन रहे और भाव से अपने उपयोग को पाँच इन्द्रियों के विषय, पाँच प्रकार स्वाध्याय को वर्जित करके चले।[7]

प्रस्तुत समिति की समग्र विवेचना में प्रमुख दृष्टि अहिंसा महाव्रत की रक्षा है। अहिंसा की परिपालना जीव रक्षा है। अहिंसा की परिपालना जीव रक्षा में निहित है, अत: जीवरक्षा करते हुए गमन करने का विधान है।

2. भाषा समिति

विवेकपूर्वक भाषा का प्रयोग करना भाषा समिति है। क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, वाचालता और विकथा इन आठ दोषों से रहित आवश्यकतानुसार भाषा में प्रवृत्ति करना। इनको त्याग कर बुद्धिमान साधु समय पर निरवद्य (पाप रहित) परिमित भाषा बोले।[8] मुनि अपेक्षा, प्रमाण, नय और निक्षेप से युक्त हित, मित, मधुर एवं सत्य भाषा बोले।[9] बर्क का कथन है कि संसार को दु:खमय बनाने वाली अधिकांश दुष्टताएँ शब्दों से उत्पन्न होती है।[10] इस प्रकार साधु को भाषा विवेक सावधानी के साथ करना चाहिये। समयानुकूल विवेकपूर्वक किया गया भाषा का प्रयोग सत्य महाव्रत के पालन में सहायक होता है।

---

१. उत्तरा २४.४ २. आचा. २.८.९०. २६३-६४
३. वही २.१.१४ ४. वही
५. उत्तराध्ययन २४.५ ६. वही
७. उत्तरा. २४.६, दशवैकालिक ५.१.९-१० ८. उत्तरा २४.९-१०
९. आचा. २.४.१३३-१४०, दशवै. अ. ७, आव. हारिभद्रीया वृत्ति.
१०. अमरवाणी प्र. १०७

3. एषणा समिति

एषणा अर्थात् आवश्यकता अथवा चाह। जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति साधु एवं श्रावक दोनों को ही करनी होती है। जिसमें आहार व स्थान प्रमुख है। साधु को याचना के द्वारा अपनी आवश्यकता की पूर्ति विवेक पूर्वक करना ही एषणा समिति है। एषणा को गवेषणा भी कहा जाता है। साधु आहार, वस्त्र, पात्र आदि पर ममत्व न रखकर, निर्दोष असन, वसन, पात्र को ग्रहण करें।[१] उत्तराध्ययन में कथन है कि "आहार, उपधि तथा शय्या की गवेषणैसणा, ग्रहणैषणा तथा परिभोगैषणा ये प्रत्येक की जो तीन-तीन एषणाएँ हैं, उनकी विशुद्धि को अर्थात् गवैषणा, ग्रहण और ग्रास (परिभोग) सम्बन्धी दोषों से अदूषित ग्रहण करना एषणा समिति है।[२] पुनः कथन है कि यतनावान साधु पहली गवेषणा में उद्गम के सोलह और उत्पादन के सोलह दोषों की, दूसरी ग्रहणैषणा में एषणा के शंकितादि दस दोषों की शुद्धि करे तथा परिभोगैषणा में संयोजन प्रमाण, अँगार, धूम और कारण इन चार दोषों की विशुद्धि करे।[३] तात्पर्य यह है कि आहार, शय्या, वस्त्र, पात्र आदि को उद्गमादि के दोष टाल कर याचना, ग्रहण और भोग करे।"

4. आदान भण्ड निक्षेपण समिति

साधु काम में आने वाली वस्तुओं को विवेकपूर्वक सावधानी से उठावे और उसे रखे। यह आदान निक्षेपणा समिति है। समितिवन्त साधु सदैव यातनापूर्वक आँखों से पडिलेहण (देखकर) और प्रमार्जन करके दोनों प्रकार की ओघ उपधि (जो सदैव पास में रहे) तथा औपग्रहिक (थोड़े समय के लिए ग्रहण की जाय) उपधि को ग्रहण करे और रखे।[४] मुनि को वस्तु के ग्रहण-निक्षेपण में प्राणी-हिंसा न हो जावे इस प्रकार सावधानी पूर्वक सजग रहना चाहिये।

5. उच्चारादि प्रतिस्थापन

परिस्थापनिका अर्थात् विसर्जन। उच्चार-वडीनीत (विष्ठा), प्रश्नवण-लघुनीत (मूत्र) खेल-श्लेक्ष्म (कफ), सिंघाण-नाक का मैल, जल्ल-शरीर का मैल,

---

१. उत्तराध्ययन २४.११

२. वही

३. उत्तराध्ययन २४.१२

४. उत्तरा २४.१३-१४

आहार-न खाने योग्य आहार, उपधि-जीर्णवस्त्रादि उपधि, देह-मृतदेह अथवा इसी प्रकार की अन्य वस्तुएँ आदि को यतनापूर्वक परठे-विसर्जन करे।[१] इन वस्तुओं को ऐसे स्थान पर डाले कि जिससे व्रत का भंग भी न हो और न ही लोगों को घृणा हो। इन शारीरिक मलों का किस स्थंडिल (स्थान) में परठे (डाले) उसके लिए चार भंगों का निर्देश किया गया है।[२]

1. अणावायमसंलोए-जहाँ कोई आता भी न हो और देखता भी न हो।

2. अणावाए होइ संलोए-जहाँ आता तो कोई नहीं किन्तु दूर खड़ा हुआ देखता हो।

3. आवासमसंलोए-जहाँ कोई आता तो है, परन्तु देखता नहीं।

4. आवाए संलोए-जहाँ कोई आता भी है और देखता भी है।

उपर्युक्त चार भंगों में से पहला भंग शुद्ध है शेष तीन भंग अशुद्ध हैं। इस प्रकार साधु यत्र-तत्र शारीरिक मलों को न डालकर जहाँ आवागमन न होता हो, ऐसे स्थान पर प्रतिस्थापन करे। इस प्रकार संक्षेप में पाँच समिति का कथन करके अब तीन गुप्तियों का विवेचन करेंगे।

तीन गुप्ति

'गोपन' से गुप्ति शब्द व्युत्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ होता है-दूर करना, खींच लेना। एक अन्य अर्थ भी इसका प्रचलित है, ढ़कनेवाला या रक्षा-कवच।[३] मन, वचन और काया के साथ जब गुप्ति का योग होता है, तब इसका अर्थ हो जाता है-मन-वचन-काया की अशुद्ध प्रवृत्तियों से रक्षा, आत्मा की अशुभ से रक्षा एवं कुशल प्रवृत्तियों में संयोजन। जब तक असम्यक् प्रवृत्ति से निवृत्ति नहीं होती, वहाँ तक कोई भी प्रवृत्ति सम्यक् नहीं हो सकती। प्रस्तुत दृष्टि से सम्यक् प्रवृत्ति में गुप्ति होना अनिवार्य है।[४] गुप्तियाँ तीन हैं[५] -

1. मनोगुप्ति
2. वचन गुप्ति
3. काय गुप्ति

---

१. वही २४.१५
२. वही २४.१६
३. उत्तराध्ययन २४.२१
४. स्थानांग वृत्ति पत्र १०५-१०६
५. उत्तराध्ययन २४.१-२

1. मनोगुप्ति

मन के विचारों का गोपन करना, कैसे विचार? अशुभ, कुत्सित, अप्रशस्त विचारों से मन को दूर करना मनोगुप्ति है। ये अशुभ विचार कौन से हैं? संरंभ, समारम्भ और आरंभ में प्रवृत्ति करते हुए मन को साधु यतनापूर्वक हटा लेंवे।[१] संरंभ अर्थात् मानसिक संकल्प, समारम्भ अर्थात् मानसिक ध्यान या विचार आरम्भ अर्थात् क्रिया के लिये प्रारम्भ करने का विचार करना आरम्भ है। इन तीनों अशुभ विकल्पों से मन को हटाना चाहिये।

मन के विचारों की यह प्रवृत्ति सत्य, असत्य मिश्र और अनुभव होती है।[२] (1) सत्य मनोगुप्ति-सद्भूत पदार्थ में प्रवर्तमान मन की प्रवृत्ति को रोकना, (2) असत्य मनोगुप्ति-मिथ्या पदार्थों में प्रवर्तमान मन की प्रवृत्ति को रोकना। (3) सत्यमृषा मनोगुप्ति-सत्य और असत्य से मिश्रित मन के विचारों को रोकना (4) असत्यमृषा मनोगुप्ति-सत्य, असत्य एवं सत्यासत्य से रहित मन के विचारों को रोकना। इस प्रकार साधु को दूषित वृत्तियों से मन को रोककर रखना, मनोगुप्ति है।

2. वचन गुप्ति

असत्य भाषा के साथ कर्कश, अहितकर, हिंसा युक्त वाणी को रोकना वचन गुप्ति है। वचन के संरंभ, समारम्भ एवं आरम्भ सम्बन्धित व्यापार को रोकना, साथ ही असत्य न बोलना, चुगली न करना, विकथा न करना, मौन रहना वचन गुप्ति है।[३] नियमसार में स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा, भोजनकथा आदि वचन की अशुभ प्रवृत्ति एवं असत्यवचन के परिहार को भी वचनगुप्ति कहा गया है।[४] तात्पर्य यही है कि साधु अशुभ प्रवृत्ति युक्त वचन का पूर्णतः निरोध करे। मनोगुप्ति की भांति ही वचन गुप्ति के भी 1. सत्यवाक् 2. मृषावाक् 3. सत्यमृषावाक् 4. असत्यमृषावाक् ये चार प्रकार है।[५]

---

१. उत्तरा. २४.२१
२. वही २४.२०
३. उत्तरा २४.२३
४. नियमसार ६७
५. उत्तरा. २४.२२

3. काय गुप्ति

शारीरिक क्रिया संबंधी संरंभ, समारम्भ तथा आरम्भ में प्रवृत्ति न करना, उठते-बैठते, हिलने-चलने, सोने में संयम रखना। अशुभ कायिक व्यापारों का त्याग करना सत्प्रवृत्ति यतनापूर्वक करना कायगुप्ति है। साथ ही पाँचों इन्द्रियों की प्रवृत्ति में शरीर की क्रियाओं का नियमन करना काय गुप्ति है।[१] नियमसार में बंधन, छेदन, मारण, आकुंचन तथा प्रसारण आदि शारीरिक क्रियाओं से निवृत्ति कायगुप्ति है।[२]

उत्तराध्ययन सूत्र में उपर्युक्त पाँचों समिति चारित्र की प्रवृत्ति के लिए और तीनों गुप्ति अशुभ कार्य से सर्वथा निवृत्ति के लिए कही गई है। इस प्रकार समिति प्रवृत्तिरूप और गुप्ति निवृत्ति रूप है।[३] नियमसार में इसे रागद्वेष आदि से निवृत्ति मनोगुप्ति, असत्यवचन से निवृत्ति एवं मौन वचन गुप्ति और शारीरिक क्रियाओं से निवृत्ति तथा कायोत्सर्ग को काय गुप्ति कहा गया है।[४]

जो मुनि इन आठ प्रवचन माताओं का सम्यक् प्रकार से आचरण करता है, वह पंडित साधु संसार के समस्त बंधनों से शीघ्र छूट कर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।[५]

उपर्युक्त विवेचन से पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि अष्टप्रवचन माता साधुजीवन का आधार है। श्रमण जीवन का सम्यक् पालन इनके माध्यम से सुचारू होता है। जो इनके पालन में पूर्ण जागृत है, उसका आचार भी विशुद्ध होता है।

बौद्ध परम्परा में समिति एवं गुप्ति

बौद्ध परम्परा में यद्यपि समिति एवं उसके पाँच प्रकार के वर्गीकरण का उल्लेख नाम मात्र से, शब्दतः नहीं हुआ। तथापि जैन परम्परा में उल्लिखित पाँचों ही समितियों का विधान अवश्य वहाँ किया गया है। अर्थरूप से समिति का आशय बौद्ध ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

---

१. वही २४.२४-२५
२. नियमसार ६७
३. उत्तरा. २४.२६
४. नियमसार ६७-७०
५. उत्तरा २४.२७

ईर्यासमिति के सदृश विनयपिटक में निर्देश है कि "मुनि सावधानी पूर्वक मन्थर गति से गमन करे। गमन करते समय वरिष्ठ भिक्षुओं के आगे न चले।[१]" भाषासमिति की भांति धम्मपद में कथन है कि "जो भिक्षु वाणी में संयत है, मितभाषी है, विनीत है, वही धर्म और अर्थ को प्रकाशित करता है। उसका भाषण मधुर होता है।"[२] एषणा समिति के समान कहा गया है कि "रात्रि व्यतीत होने पर मुनि ग्राम में प्रवेश करे, वहाँ न तो किसी का निमन्त्रण स्वीकार करे और गाँव से कोई भोजन लाकर दे, उसे स्वीकार करे। सहसा एवं चुपचाप विचरण करे। भिक्षा के लिए संकेत न करे। यदि भिक्षा मिले या न मिले, अल्प मिले या बहुत मिले वह अवहेलना या तिरस्कार न करके मौन भाव से दाता से ग्रहण करके अविचलित रहकर वन में लौटे।[३] " न असमय विचरण करे, असमय विचरण से आसक्ति उत्पन्न हो सकती है। ज्ञानी पुरुष असमय में विचरण नहीं करते।[४]

संयुक्तनिकाय में बुद्ध का कथन है कि "भिक्षुओं भिक्षु आने-जाने में सचेत रहता है, देखने-भालने में सचेत रहता है, पसारने-समेटने में सचेत रहता है, संघाटी, पात्र चीर को धारण करने में सचेत रहता है। पखाना-पेशाब करने में सचेत रहता है। जाते, खड़े होते, बैठते, सोते, जागते, कहते, चुप रहते सचेत रहता है। भिक्षुओं इस प्रकार भिक्षु सम्प्रज्ञ होता है।[५]"

इस उद्धरण में उपलक्षण से पाँचों ही समितियों का बयान किया गया है। समिति शब्द व्यवहृत न होने पर भी पाँचों समिति की विवेचन यहाँ दृष्टिगत होता है। इससे, उपर्युक्त कथन से यह कहा जा सकता है कि बुद्ध का ये दृष्टिकोण जैन परम्परा के सन्निकट है।

बौद्ध परम्परा में गुप्ति

समिति के समान गुप्ति को भी महत्त्वपूर्ण स्थान जैन परम्परा की भांति बौद्ध परम्परा भी मान्य करती है। गुप्ति शब्द बुद्ध परम्परा में भी अभिप्रेत है।[६] सुत्तनिपात में वहाँ गुप्ति शब्द ही प्रयुक्त हुआ है। जिस प्रकार त्रिदण्ड का उल्लेख जैन परम्परा में हुआ है[७], उसी प्रकार यहाँ तीन कर्म मान्य किये गये हैं। अंगुत्तर निकाय में इसे शुचिता शब्द से सम्बोधित किया गया है।[८]

---

१. विनयपिटक ८.४.४
२. धम्मपद ३६३
३. सुत्तनिपात्त ३७.३२-३५
४. वही २३.११
५. संयुक्तनिकाय ३४.५.१.७
६. सुत्त निपात ४.३
७. स्थानांग ३.१२६
८. अंगुत्तरनिकाय ३.११८

बुद्ध ने कहा ''भिक्षुओं तीन शुचि भाव है, वह शरीर (काया) की शुचिता है। जो झूंठ बोलने, चुगली खाने, व्यर्थ बोलने से विरत रहता है, वह वाणी की शुचिता है। जो निर्लोभी, अक्रोधी एवं सम्यगदृष्टि होता है, वह मन की शुचिता है। इस प्रकार बुद्ध ने यहाँ पर मन-वचन-काया की अप्रशस्त प्रवृत्ति को रोकने का निर्देश किया है।[१] ''

वैदिक पररम्परा में समिति और गुप्ति

जैन परम्परा में जिस प्रकार गमनागमन आदि में विवेक हेतु पंच समिति का विधान है, उसी भांति वैदिक परम्परा में भी इनका अर्थतः उल्लेख प्राप्त होता है। गमनागमन की क्रिया में सावधान करते हुए कहते हैं कि ''संन्यासी को जीवों को कष्ट दिये बिना चलना चाहिये।''[२] महाभारत के शान्तिपर्व में ''त्रस-स्थावर दोनों प्रकार की हिंसा से रहित गमनागमन क्रिया करने का निर्देश दिया गया है।[३]'' भाषा समिति के सदृश मनु निर्देश करते हैं कि ''मुनि को सदैव सत्य बोलना चाहिये।[४]

वाणी के विवेक का विवेचन महाभारत के शांतिपर्व में विस्तृत रूप से उपलब्ध होता है।[५]'' भिक्षावृत्ति के लिए भी पाँच प्रकार का विधान है[६] 1. मधुकर मधुमक्खी या भौंरे के समान पाँच-सात घर से भिक्षा प्राप्ति 2. प्राक्प्रणीत-शयन स्थान से उठने से पूर्व प्रार्थित भोजन 3. अयाचित-भिक्षाटन से पूर्व निमन्त्रित भोजन 4. तात्कालिक-पहुँचने पर ब्राह्मण भोजन करने की सूचना दे। 5. उपपन्नआश्रम या मठ में पका भोजना लाना। इसी के साथ यह भी उल्लेख है कि संन्यासी को भिक्षाटन के लिए गाँव में मात्र एकबार, वह भी तब, जब रसोईघर से धुँआ निकलना बन्द हो जाय, अग्नि बुझ जाये और बर्तन आदि अलग रख दिये जाये तब जाना चाहिये।[७]

यह सावधानी पूर्वक विवेक जैन परम्परा से अतिनिकट है। समिति नाम से शब्द साम्य न होने पर भी अर्थ साम्य स्पष्टः झलकता है। मधुकरी-भिक्षावृत्ति आदि में तो शब्द समानता भी स्थापित है। निक्षेपण व प्रतिस्थापन समिति की वैदिक परम्परा में चर्चा नहीं है तो विरोध भी दृष्टिगत नहीं होता। इस प्रकार यह परम्परा भी समिति विचार को जैन परम्परा के सदृश स्थान देती ही है।

---

१. वही ३.११८
२. मनुस्मृति ६.४० देखिए धर्मशास्त्र का इतिहास भाग-1
३. महाभारतशांतिपर्व ९.११
४. मनु स्मृत्ति ६.४६
५. महा शा. १०९. १५-१९
६. देखिए धर्मशास्त्र का इतिहास भाग-१ पृ. ४९२
७. महा. शा. ९.२१-२४

वैदिक परम्परा में गुप्ति

वैदिक परम्परा में संन्यासी के लिए त्रिदण्डी शब्द भी व्यवहृत हुआ है। दत्त का इसके लिए कथन है कि "त्रिदण्ड धारण करने मात्र से संयासी त्रिदण्डी नहीं हो जाता। वास्तव में जो आध्यात्मिक दण्ड धारण करता है, वही त्रिदण्डी है।[१]" आध्यात्मिक दण्ड से मन-वचन-काया का नियन्त्रण ही अभिप्रेत है।

जैन परम्परा में जहां त्रिदण्ड, प्रयुक्त हुआ है उसी अर्थ व शब्द साम्य को वैदिक परम्परा ने भी धारण किया है।

तुलनात्मक दृष्टिकोण से देखने पर जैन-बौद्ध एवं वैदिक तीनों ही परम्पराओं में समिति एवं गुप्ति का समानरूप से व्यवहार हुआ है। सामान्य भिन्नता को छोड़कर अर्थतः साम्य दृष्टिगोचर होता ही है।

(7) अन्य दर्शनों में साधु एवं साधुत्व

बौद्ध परम्परागत साधु की अवधारणा

महात्मा बुद्ध प्ररूपित बौद्ध परम्परा में साधु पद के लिए भिक्षु समानार्थक शब्द प्रचिलित हुआ है। बौद्ध साधु को बौद्ध भिक्षु साधना से ही निर्वाण या आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति हो सकती है। निर्वाण प्राप्ति के लिए भिक्षुत्व अनिवार्य है। उपासक की साधना मात्र सुगति ही प्रदान कर सकती है, आत्यंतिक दुःखनिवृत्ति नहीं। भगवान बुद्ध ने स्पष्ट रूप से कहा है कि ऐसा कोई मनुष्य मेरे ख्याल में नहीं, जिसने गृहस्थ जीवन से आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति प्राप्त की हो।[२] गृहस्थ जीवन पूर्णसाधना के लिए अयोग्य है। इसीलिए उन्होंने अनेकानेक व्यक्तियों को प्रव्रज्या हेतु उत्साहित किया।

बुद्ध के समय में विविध श्रमण और ब्राह्मण परिव्राजकगण थे। इन परिव्राजकगणों में अनेक अध्यात्मगवेषी कुलपुत्र घरबार का परित्याग करके, प्रव्रजित होकर कोई शास्त्र अथवा आचार्य के अनुशासन में ब्रह्मचर्यवास करते थे। परिव्राजकगणों में व्यापक नियम और प्रथाएँ समान थीं। विशुद्धि के प्रयत्न में सभी परिव्राजक संसारत्याग पूर्वक ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन करते थे और प्रायः सभी संगठनों में उपोसथ, वर्षावास आदि प्रथाएँ प्रचलित थी। परन्तु आहार-विहार, वेशभूषा आदि के नियमों का विस्तार भिन्न-भिन्न था।

---

१. दक्षस्मृत्ति ७.२७.३१, धर्मशास्त्र का इति. पृ. ४९४

२. तेविज्जवच्छगोतसुत्त, मज्झिम निकाय

बुद्ध के शासन में गुरु का रूप कल्याणमित्र का है और उसका कार्य है-पथ प्रदर्शन। शाक्यमुनि के शिष्यों को अपने बल पर ही चलना होता था, अपने बल पर ही निर्भर रहता था अर्थात् उनको आत्मदीप या आत्मशरण बनने का उपदेश दिया गया। इस साधनायात्रा में धर्म ही उनका सहायक और नियामक होता है। इसलिए धर्म को यान या मार्ग कहा गया है। धर्म ही बुद्ध की वास्तविक काया है।

भिक्षुओं के अत्याज्य धर्मों में महत्त्वूपर्ण था आरण्यक शयनासन। यह धर्म एकान्तवास का माहात्म्य दर्शाता है। किन्तु बाद में क्रमशः सहवास का प्राधान्य बढ़ता गया। अनेक प्राचीन ग्रन्थों में भिक्षु के खड्गविषाण सम (गेंडा जैसे) एकाकी जीवन की प्रशंसा की गई है।[१] परन्तु यह भी निर्विवाद है कि बाद में एकाकिता का स्थान आवासिक्ता ने ले लिया।

पौषध में भिक्षुओं के लिए नियतरूप से एकत्रित होना आवश्यक था और वर्षावास में इनका चारिका (एक गाँव से दूसरे गाँव जाना) का भी निषेध था। चुल्लवग्ग में बुद्ध अनाथपिंडिक को कहते हैं कि "विहारदान यह सर्व में श्रेष्ठ दान है, क्योंकि इसके कारण भिक्षु की समाधि में वर्षा, धूप, हिंसक पशु आदि अन्तरायें नहीं आती। जिससे सुज्ञ उपासकों को यथाशक्ति विहार बनवाकर विद्वान भिक्षुओं को आवास की सुविधाएँ देना चाहिए और उनको यथाशक्ति अन्नदान भी देना चाहिए।" इसका परिणाम यह आया कि भिक्षुओं में संगठित आवासिक जीवन का विकास हुआ।

भिक्षुओं की संख्यावृद्धि और विहारों की समृद्धि से भिक्षुसंघ के संगठन में परिवर्तन आता गया। इससे बुद्धि ने भिन्न-भिन्न प्रसंगों में भिक्षुओं के अनुशासन हेतु नियम बनाए। ये नियमवाक्य शिक्षापद कहलाये। इन शिक्षापदों का संग्रह धर्मविनय या विनय कहलाता है। विनय का अर्थ है 'अनुशासन हेतु शिक्षा'।

(8) साधुत्व की उपयोगिता

किन्ही लोगों का मन्तव्य है कि जैन दर्शन व्यक्तिवादी है, स्वार्थपरक है। वहाँ मात्र स्वार्थ को ही केन्द्रभूत रखा गया है, परमार्थ को नहीं। वस्तुतः जैन दर्शन अध्यात्म के क्षेत्र में व्यक्ति के व्यक्तिवादी होने का समर्थन करता है, किन्तु व्यावहारिक क्षेत्र में समष्टिवाद की मर्यादाओं का निषेध नहीं करता। जैन परम्परा में दो धाराएँ हमेशा से प्रवाहित रही है-गृहस्थ और साधु। गृहस्थ जीवन के दो पक्ष हैं। जहाँ गृहस्थ एक ओर अपने लौकिक पक्ष को सुदृढ़ और सुन्दर बनाने का

---

१. खग्गविसाणसुत्त, सुत्तनिपात

प्रयास करता है, वहाँ वह दूसरी ओर अपनी अनुकूलता और दृष्टिकोण से लोकोत्तर पक्ष को भी सजाने-संवारने में लगा रहता है। जबकि साधु का कर्त्तव्य मात्र लोकोत्तर पक्ष को सुदृढ़ करना होता है।

लोकोत्तर पक्ष को सुन्दर बनाने में लगा साधु अपना कर्त्तव्य करता हुआ क्या वह राष्ट्र, समाज में उपयोगी हो सकता है? हमें इस पर विचार करना है। इस विचार को कई भागों में विभाजित किया जा सकता है-

1. सामाजिक क्षेत्र में साधु की भूमिका
2. आर्थिक क्षेत्र में साधु का योगदान
3. नैतिक मूल्यों की स्थापना में साधु का सहयोग
4. साहित्यिक साधना
5. शिक्षा प्रसार

1. सामाजिक क्षेत्र में जैन साधु की भूमिका

अर्हत् ऋषभदेव ने पहले समाज की रचना की और फिर वे आत्मसाधना में लगे। भारतीय जीवन के विकासक्रम में उनकी यह देन प्रारंभिक एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ग्राम-नगर आदि की संयोजना एवं सुव्यवस्था इनके समय में हुई, तो लौकिक शास्त्र और लोक व्यवहार की शिक्षा भी तभी प्रचलित हुई। आधुनिक समाजव्यवस्था में उनकी बहुत बड़ी देन है।

सामाजिक जीवन का सुसंचालन व्यक्तियों के सहयोग पर निर्भर है। यह सहयोग सहिष्णु गुण पर आधारित है। ज्ञान मूलक सहिष्णुता की अधिकता प्रेम को उत्पन्न करती है। जिस समाज में जितनी सहिष्णुता या सहनशीलता होगी, उसके अंगों में प्रेम का सम्पादन भी उतना ही अधिक होगा। प्रेम या स्नेह-सौहार्द्ध संगठन या एकता का आधारसूत्र है। साधु समाज में सहिष्णुता-समता गुण के विकास के लिए सतत प्रत्यनशील रहता है। वह स्वयं तो शत्रु-मित्र अर्थात् प्राणीमात्र पर क्षमाभाव रखता है और समाज के व्यक्तियों को अक्रोधभाव, क्षमा रखने का उपदेश देता है। समाज की इससे अधिक और क्या सेवा हो सकती है?

जातिवाद-सम्प्रदायवाद का घुन समाज को खोखला किये जा रही है। जन्म से उच्चकुल की धारणा रखने वाले लोगों ने अपनी अहमन्यता में निम्नहीन कुलवाले लोगों पर अत्याचार किये हैं। इस क्षेत्र में साधु समाज ने क्रांतिकारी कदम उठाये हैं। इस रूढ़िवादिता को समूल नष्ट करने का प्रयास किया है।

उनका कथन है कि "क्षत्रिय, ब्राह्मण, शूद्र आदि जन्म से नहीं, कर्मानुसार होते हैं जिसका चयन मानवजाति करती हैं। साधु चर्या से समाज में ऊँच-नीच की असमानता खुद-ब-खुद मिट जाती है। उनके उपदेश में इस भावना को मिटाने का विशेष जोर दिया जाता है। वे उपदेश के माध्यम से भी मिटाने का प्रयास करते हैं, यहाँ तक कि उनके उपदेश में ऊँच-नीच, निर्धन-धनवान, नर-नारी, छोटे-बड़े आदि का अन्तर नहीं रहता। सभी उनके उपदेश से लाभान्वित हो सकते हैं। इस प्रकार साधु जनजीवन में से जातिवाद की जड़े खोखली करता है तथा जन-जन में से असमानता के विष को समाप्त कर समानता की भावना जागृत करता है। यहाँ तक व्यक्ति के साथ समष्टि में भी आमूलचूल परिवर्तन लाने का होता है। वे स्वयं के जीवन में, आन्तरिक वृत्तियों में परिवर्तन करने में रत रहते हैं, तथा अन्यों में भी इस परिवर्तन को क्रियान्वित करने का भरसक प्रयास करते हैं।"

इस तथ्य को सभी मान्य करते हैं कि आध्यात्मिक चेतना जागृत करके नागरिकों को विषय और कषाय से विमुख करने में साधु का बहुत बड़ा योगदान रहा है। जिन लोगों ने उनके उपदेश के अनुसार अल्पारम्भी और अल्पपरिग्रही जीवन जीया, उनका जीवन सुखी व सफल हो गया। राष्ट्र का उद्देश्य नागरिकों को सुख-शांति प्रदान करना है। साधु उस राष्ट्रीय कार्य में, शांति यज्ञ में महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान करता है।

इसके विपरीत कई साधु संकुचित और सम्प्रदायवादी दृष्टिकोण से विरत नहीं हो पाते, उनमें सुधार की बहुत आवश्यकता है। क्योंकि इससे वह समाज का अहित और अकल्याण कर रहा है। लोगों को गुमराह कर रहा है। समाज-राष्ट्र और व्यक्तिगत सुख शांति को भंग कर रहा है। फलतः सद्गति से उन्हें दूर धकेल रहा है।

आर्थिक क्षेत्र में जैन साधु का योगदान

मनुष्य अपना पुरुषार्थ अर्थ, काम, धर्म, मोक्ष, इन चारों की प्राप्ति में लगा रहा है। इन चारों को हम दो भागों में विभाजित कर सकते है- एक सामाजिक, दूसरा आध्यात्मिक। अर्थ और काम सामाजिक पुरुथार्थ है, जिसमें अर्थ साधन है तथा साध्य है काम। धर्म और मोक्ष आध्यात्मिकता से जुड़े हैं, जिसमें धर्म साधन हैं और मोक्ष साध्य। जैन दर्शन वास्तव में मोक्ष दर्शन है, क्योंकि उसका पुरुषार्थ मोक्ष-मार्ग पर अवलम्बित है। धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ में समाज को प्रेरित करता है। शेष दो पुरुषार्थों को तो मात्र स्पर्श करता है। वे समाज दर्शन के विषय हैं।

लेकिन सामाजिक कुरुतियाँ, या कर्त्तव्य, या अर्थ और काम पर नियन्त्रण का कार्य मोक्ष दर्शन की परिधि में हैं। अत: आर्थिक क्षेत्र में विशुद्धिकरण का कार्य साधु ने अपने हाथ में लिया है। उनका उपदेश सदैव प्रामाणिक जीवन यापन करने का रहा है। वर्तमान समय में दिन-प्रतिदिन समाज में प्रामाणिकता का अभाव हो रहा है, जिसका उन्नयन साधुओं के द्वारा हो सकता है।

यह सत्य है कि साधु राष्ट्र को आर्थिक रूप से सुसम्पन्न करने के लिए कुछ भी नहीं करता, क्योंकि वह स्वयं अर्थ और काम से परे है। वह पूर्ण रूप से श्रावक-गृहस्थों पर अवलम्बित है। उनके आहार-विहार, आवास आदि की व्यवस्था संघ करता है। तो क्या साधु समाज पर भार है? जो साधु आगमानुसार प्रवृत्ति व आचरण करते हैं, वे भार स्वरूप नहीं। क्योंकि उनके आहार संबंधी नियमों के अवलोकन से स्पष्टत: ज्ञात होता है कि मधुकरी वृत्ति से जीवन यापन करने वाला कैसे भार रूप हो सकता है? वह समाज को आर्थिक रूप से हानि नहीं पहुँचता। साधु को भी यह स्मरण रखना चाहिये कि वह समाज से जितना ले, उससे अधिक देने का प्रयास करे।

दूसरी दृष्टि से भी इस पर विचार करें। साधु राष्ट्र की कोई सम्पत्ति अपने पास नहीं रखता, न ही उस पर मोह करता है। यहाँ तक कि वह तो समाज को भी आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति नहीं रखने का उपदेश देता है। वह अपरिग्रही है और अपरिग्रहवाद का उपदेश देने का भी अधिकारी है। ऐसे सैंकडों उदाहरण शास्त्रों में तथा आधुनिक काल में मिलते हैं कि उनके उपदेश से श्रावकों ने परिग्रह-परिमाण व्रत लिया। उनके उपदेश से शिक्षालय, औषधालय स्थापित किये गये हैं। त्याग की भावना जागृत करने में तथा धनिक वर्ग में दान की प्रेरणा देकर समाज में कल्याणकारी कार्य करवाने का श्रेय साधुओं को ही है।

नैतिक मूल्यों की स्थापना में साधु का सहयोग

किसी भी राष्ट्र की उन्नति उस देश के निवासियों पर अवलम्बित होती है। नागरिकों के पारस्परिक सहयोग, संगठन तथा त्याग की भावना से देश में अपूर्व बल पैदा होता है। साधु हमेशा समाज के सम्पर्क में आता है, उसे उपदेश देता है। आध्यात्मिक चेतना जागृत करने के सिवाय वह समाज में उन गुणों के विकास के लिए अप्रत्यक्ष रूप से कार्य करता है, जिनसे एक नागरिक दूसरे के प्रति स्नेहभाव रखता है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के लिए, समाज, धर्म और देश के लिए महान से महान त्याग करने के लिए तैयार हो जाता है। दूसरे की सेवा करने में अपने का

साफल्य देखता है। सह अस्तित्व का मूल्यांकन कराने में जैन साधुओं का बहुत बड़ा हाथ है। अहिंसा, सत्य, प्रेम, सहनशीलता आदि महान् गुणों के विकास में साधु समाज महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहा है।

विशाल दृष्टिकोण लेकर साधुओं ने सद्गुणों के प्रसार के लिएप्रचार किए हैं, और उनको सफलता भी प्राप्त हुई है। अनेकानेक साधुओं ने जैन और जैनेतर समाज में अपना सम्माननीय स्थान बना लिया है। लोग बिना जातीय भावना से उनका उपदेश श्रवण कर अपना जीवन नैतिक बनाने का प्रयास करते हैं।

यहाँ एक प्रश्न विचारणीय है कि "जैन साधु अहिंसा महाव्रती होता है। उनका उपदेश भी अहिंसा के प्रचार व प्रसार के लिए होता है। यदि देश के संकट के समय अहिंसात्मक उपदेश दे तो देश निर्बल हो जावेगा। और न ही साधु शत्रु का सामना करने के लिए हिंसात्मक कदम उठाने को कहेगा, ऐसी संकटकालीन परिस्थिति में उनका उपदेश कामयाब नहीं हो सकेगा।"

वास्तव में साधु के लिए शत्रु और मित्र दोनों समान है। वह न किसी पर राग करता है, और न किसी पर द्वेष। तो शत्रु का मुकाबला करने का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता? ऐसे ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं, जहाँ साधु के आत्मबल के सामने शत्रु भी नतमस्तक हुए है। श्रमण परम्परा में दो पक्ष हैं-श्रावक और श्रमण। श्रावक अहिंसाणुव्रती होता है। वह संकल्पी हिंसा का त्यागी होता है, विरोधी हिंसा का नहीं। इससे स्पष्ट है कि श्रावक के कर्त्तव्यों के विवेचन के समय साधु इस तथ्य को विस्मरण तो नहीं करेगा।

जैन साधु समता के सिद्धान्त का प्रचार ही नहीं करता वरन् यह भी उपदेश देता है कि सबकी आत्मा एक समान है। सब प्राणियों के शरीर में अन्तर हो सकता है, किन्तु आत्मा सबकी समान है। वनस्पति से लेकर मनुष्य तक जितने भी प्राणवान् जीव हैं, सभी में समान आत्मा है। इस प्रकार साम्यदर्शन को जानकर व्यक्ति सभी पर समभाव रखकर मित्रता स्थापित करता है। ऊँच-नीच, हीनता-तिरस्कार के भाव हृदय में से पलायन कर जाते हैं। अतः प्राणिमात्र के प्रति आत्मतुल्य दृष्टि से और किसी की कष्ट न देने की वृत्ति आध्यात्मिक संवेदनशीलता और सौहार्द्र का सूचन करता है। जो कि विश्वमैत्री की बंसी बजाकर प्रेम-स्नेह की सरिता को बहाता है। फलतः क्लेश-वैमनस्यभाव का जहर उसके हृदय में से निकल जाता है, स्नेहामृत का प्रसाद जन-जन में वितरित करता है।

घोर हिंसा के प्रतीक कत्लखाने बूचड़खाने आदि बन्द कराने का अधिकांश

श्रेय जैन साधु को जाता है। राष्ट्र, समाज में व्याप्त हिंसा का निषेध ही वे नहीं करते वरन् उसके विरोध में आत्म समर्पण करने से भी वे नहीं चूकते। इस प्रकार साधु की यह अभयदान की साधना प्राणीरक्षा में अत्यन्त हितावह है।

जैन साधुओं की साहित्यसाधना

संस्कृति की सबसे बड़ी निधि उसका साहित्य है, जो सारे विश्व में उसके विचारों का प्रतिनिधित्व करता है और उसके गौरव को अक्षुण्ण बनाये रखता है। जैन विद्वानों की अधिकांश रचनाएँ अध्यात्म पर रचित है, सामाजिक व्यवस्था पर नहीं। इसका कारण यह है कि श्रमण परम्परा का विकास आत्मलक्षी दृष्टिकोण के आधार पर हुआ है। शाश्वत सत्य मोक्ष प्राप्ति की व्याख्या में उन्होंने साहित्य सर्जन किया। वे समाज व्यवस्था को धर्म के साथ जोड़ना नहीं चाहते थे। धर्म को परिवर्तनशील समाज व्यवस्था के साथ संयुक्त करने से उनका ध्रुव रूप विकृत हो जाता।

यद्यपि साधुओं ने आध्यात्मिक साहित्य का निर्माण किया है तथापि प्रायः उसके प्रत्येक अंग पर भी अवश्य रचनाएँ की है। उदाहरण स्वरूप ज्योतिष, आयुर्वेद, राजनीति, समाजशास्त्र आदि महत्त्वपूर्ण अंगों पर भी उनकी समर्थ लेखनी चली है। नीतिवाक्यामृत-आचार्य सोमदेव की रचना में राजनीति के समस्त अंगों का चित्रण प्रस्तुत करता है, जो कि विद्वद्समाज के लिए आदर्श रूप है। इसी प्रकार महापुराण, धर्मशर्माभ्युदय आदि ग्रन्थों में भी राजनीति का सुन्दर विवेचन है। इस प्रकार राजनीतिपरक ग्रन्थों को रचकर उनके द्वारा आत्महित साधने की कड़ी को उसके साथ जोड़ा है।

साधुओं का समग्र जीवन ज्ञानाराधना मय होता है। इसमें स्वहित के साथ समाज हित भी समाया है। प्राचीन काल में साधु समाज ने श्रुत रचना करके समाज की अभूतपूर्व सेवा की है। उनकी रचनाएँ हजारों वर्ष उपरान्त प्रकाश पुंज बनी हुई है, जिससे जगत् को अद्यापि प्रकाश मिल रहा है। उन मनीषियों द्वारा प्रतिपादित जड़-चेतन संबंधी तथ्य आज भी वैज्ञानिकों के अन्वेषण के विषय बने हुए हैं। इस प्रकार साहित्य-सर्जन करके साधु वर्ग में जनकल्याण के लिए अनमोल खजाना भरकर भव वन में भटकते प्राणियों का मार्ग प्रशस्त किया है।

शिक्षा प्रसार में साधुओं का महत्त्वपूर्ण योगदान

साहित्य सर्जन तक ही उनका कार्य सीमित न रहा, बल्कि शिक्षा प्रसार में भी उन्होंने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

इस क्षेत्र में पाँच प्रकार से प्रसार करता है-

1. साधु प्रतिदिन धर्मोपदेश के लिए प्रवचन सभा में जाता है। इन सभाओं में मुमुक्षु एवं जिज्ञासुओं के साथ ज्ञान-विज्ञान की चर्चा करता है।

2. प्रवचन सभा के अतिरिक्त संगोष्ठी भी आयोजित करते हैं, जिनमें साधुओं के साथ-साथ विद्वान् वर्ग भी सम्मिलित होते हैं। चर्चा के साथ विचारों का आदान-प्रदान, शंका-समाधान एवं गूढ़ तत्त्वों पर मंथन होता है। इस प्रकार इन संगोष्ठियों के माध्यम से ज्ञान-शिक्षा के प्रसार का महत्त्वपूर्ण कार्य करता है।

3. बालक, पुरुष, स्त्रियाँ आदि के लिए शिक्षण शिबिर का आयोजन कराने में साधुओं का प्रमुख हाथ है। इसका श्रेय साधु को जितना दें, उतना कम है।

4. कई शिक्षालय, विद्यालय, महाविद्यालय और यहाँ तक विश्वविद्यालय की स्थापना सद्गुरुओं के उपदेश का प्रतिफल है। प्राचीन आश्रम व्यवस्था की भांति आज भी गुरुकुलों की स्थापना करके समाज में साक्षरता के कदम प्राचीन पद्धति के अनुसार बढ़ाये जा रहे हैं। इनका संचालन-निर्देशन में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

5. विद्यालयों के साथ-साथ पुस्तकालय, वाचनालय आदि की स्थापना भी साधुओं के वरद् हस्तों से हुई है। जिसके द्वारा, भी समाज में ज्ञानार्जन का मार्ग प्रशस्त हुआ है।

वस्तुतः साधु अपने त्याग एवं वैराग्य पूर्ण जीवन, आचरण के द्वारा लोगों को अपनी ओर आकर्षित करता है। इस आकर्षण के माध्यम से वह लोक कल्याणकारी कार्य करता है। वह स्वयं तो निष्परिग्रही जीवन जीता है एवं उसी निस्पृहता के माध्यम से समाजसेवा एवं ज्ञान प्रसार के लिए संस्थाओं की स्थापना करता है। अपने अनुभव के माध्यम से गतिप्रदान करता है।

इस प्रकार जैन साधु अपने आत्मकल्याण के साथ ही साथ परमार्थ का भी कार्य करता है। इससे स्पष्टतः ज्ञान हो जाता है कि साधु का राष्ट्रीय क्षेत्र में योगदान सदैव प्रशंसनीय रहा है। साधुत्व की उपयोगिता आज समाज के लिए कितनी महत्त्वपूर्ण है, इसकी जानकारी हमें मिली। राष्ट्र निर्माण के क़ार्य में साधु का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्राप्त सहयोग इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा। जो कि युग-युग में सुप्त-चेतना को जागृत करने में पूर्णरूप से सहयोग देता रहेगा।

अध्याय-8

1. प्रणव: ऊँकार में पंच परमेष्ठी
2. पंच परमेष्ठी : वर्ण विज्ञान

- ऐतिहासिकता
- रंग की वैज्ञानिकता
- इन्द्रयों द्वारा रंगों की अनुभूति
- प्राथमिक और पूरक रंग
- पंच पद और वर्ण विज्ञान
- पंच पदों के वर्णों का विशेष विवेचन
- रंगों की विशिष्टता; विलक्षणता
- साधना-ध्यान सिद्धि में सहायक : रंग

1. प्रणव : ऊँकार में पंच परमेष्ठी

विश्व साहित्य में जिनती श्रद्धा और प्रतिष्ठा ऊँको प्राप्त हुई है, संभवतः उसके समकक्ष अन्य किसी पद को नहीं। इसका कारण क्या? इस एकाक्षरी पद में जो गूढ़ और विराट् तत्त्व समाया है, वह अन्य पद में नहीं। यह आध्यात्मिक विद्या का स्रोत है और योगविद्या का केन्द्र है। यही कारण है कि भारत की ही नहीं, विश्व की प्रायः सर्व धर्म परम्पराओं में समवेत स्वर से इसका ध्यान व गुणगान किया गया है। यह वेद का पहला और पवित्र उच्चार है, परब्रह्म, परमात्मा, पुरुषोत्तम, क्षराक्षर से परे है। ऊँकार, प्रणव, सर्वव्यापी, अनन्त, तार शुक्ल, वैद्युत् हंस, तुर्य, परब्रह्म इसकी पर्यायें-नाम हैं। प्रत्येक वेद मंत्र के पूर्व एवं पश्चात् इसका उच्चार करने की रूढ़ि है। वेद, उपनिषद्, गीता आदि वैदिक परम्परा में इसकी महिमा का अत्यधिक गुणगान किया गया है। वस्तुतः यह शब्द मुख्यतः सामवेद का है, जो कि साम का गान करते समय बोला जाता है। सर्व वेदों का सार उपनिषद् है, उपनिषदों का सार गायत्री है, गायत्री का सार व्याहृति है और व्याहृति का सार ऊँकार है। यह ही ब्रह्म है। आदिकाल में तप से सिद्ध बने ब्रह्मा के मुख से यह प्रकट हुआ है, ऐसा स्वीकारा जाता है। वैदिक परम्परा के समान श्रमण परम्परा में भी यह एकमत से स्वीकारा गया है। इसके अतिरिक्त ईसाई, सिख, मुस्लिम, पारसी आदि मतों के साहित्य में इसे इतना ही आदर दिया गया है। मुस्लिम मत में अलिफ, लाभ और मीम अक्षरों के संयोग से अल्लाह का ऐसा गुह्य नाम होता है कि जिसका वास्तविक और पूर्ण अर्थ मात्र फिरश्ते ही जान सकते हैं। इस अलिफ, लाभ और मीम के मध्य का 'लाभ' अरबी भाषा में अनुच्चरित और इससे अल्लाह का गेबी नाम ओम् शब्द को धारण करता है। इसके अतिरिक्त भी इस्लामी शास्त्र में इसकी अद्‌भुत महिमा का वर्णन किया गया है।[१]

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में कथन है कि-

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म, व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजद्देहं, स याति परमां गतिम्।।[२]

---

१. कुराने शरीफ, सुरते बकर :- उद्धृत भगवद्‌गोमण्डल पृ. १८१७
२. गीता ८.५

अर्थात् जो साधक एकाक्षर ब्रह्मस्वरूप ॐ का उच्चारण करता हुआ देहोत्सर्ग करता है, वह परम गति को प्राप्त करता है।

यजुर्वेद[१] में इसे 'ओउम् खम्ब्रह्म', छान्दोग्य उपनिषद्[२] में 'ओउम् इति ऐतदन्तर उद्गीतमुपासीत्' एवं 'ओंकार एवेदं सर्वम्', कठोपनिषद्[३] में 'ओमित्येतत्', मैत्र्युपनिषद्[४], में 'ओमित्यात्मानं युञ्जीत, तैत्तिरीय उपनिषद्[५]' में 'ओमिति ब्रह्म' इस प्रकार उल्लिखित किया गयाहै। इन सभी उद्धरणों से यही ध्वनित होताहै कि ओम् ही ब्रह्म है।

वैदिक परम्परा के समान बौद्धों का भी यह प्रधान मंत्र है-'ओउम् मणिपद्मे हुम्'

सिक्ख सम्प्रदाय में तो 'एक ओंकार सद्गुरु प्रसाद' कहकर इसके महत्त्व को शिरोधार्य किया है।

भाषाविदों के अनुसार फारसी भाषा में 'अलिम्' का रूप धारण करके ॐ ने स्थान प्राप्त किया है।

अंग्रेजी भाषा में यह OMEN के रूप में आसीन है।

इसी भांति जैन परम्परा में भी इसे सर्वोच्च स्थान प्राप्त हुआ है। आचार्य हेमचन्द्र ने इसे समस्त मंत्रों में मंत्र कहा है-

ओंकारमिव मंत्राणामाद्यं संगीत कर्मणाम्[६]...

श्री रत्नमंदिरगणि ने भी इसकी महिमा का गुणगान इस प्रकार किया है-

ओंकार कल्पतरु से भी अधिक अभीष्ट प्रदान करने वाला है, शब्द ब्रह्मरूपी अद्वितीय रत्नाकर का विकास करने के लिए चन्द्रमा के समान है, मंगलों का कारण है, असीम महिमा का महार्णव है, सभी परमेष्ठिओं का वाचक है और बुद्धिमानों के लिए आराधनीय है, ऐसा ओंकार तुम सभी को शुद्ध बुद्धि प्रदान करे।[७]

---

१. यजु. अ. ४० मंत्र १७/
२. छान्दोग्य उप. २.२३
३. तैत्तीरीय उप. १.८.१
४. मैत्री उप. ६.३
५. तैत्तीरिय उप. १.८.१
६. त्रिषष्ठि शलाकार पुरुषचरित, १.६.७०७
७. भोजप्रबन्ध मंगलस्मरण

'पंचवस्तुक' में इसके गौरव को वृद्धि करते हुए कथन है कि-

'ओमिति परमेष्ठिपंचकमाह:- कथमिति चेदुच्यते-'अ' इति अर्हत् आद्याक्षरम्' 'अ' इत्यशरीरस्य सिद्ध वाचकस्याद्याक्षरम् 'आ' इत्याचार्यस्याद्यक्षरम्, 'उ' इत्युपाध्यायस्याद्याक्षरम् 'म' इति मुनीत्यस्याद्याक्षरम्-अ अ आ उ म् इति, तत: सन्धिवशात्, ओमिति पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् एवमुक्ति:।"[१]

यहाँ इसके हार्द को ग्रन्थकार ने खोलते हुए कहा है कि जैन परम्परा में इसकी निष्पत्ति अर्हत्, अशरीर (सिद्ध), आचार्य, उपाध्याय, मुनि के आद्य अक्षर से अर्थात् अ आ आ उ म् ओंम इस प्रकार हुई है। ग्रन्थकार ने साथ ही इसे सर्व विद्याओं का आद्यबीज, सकल आगमों का उपनिषदरूप, समस्त विघ्नों का विघातक और मनोरथों की पूर्ति करने वाला कल्पपादप के सदृश स्वीकार किया है।"[२]

आचार्य शुभचन्द्र ने इसी प्रकार इसकी गौरव गरिमा का गुणगान करते हुए कहा है कि "ओंकार से ही निर्मल शब्दात्मक ज्योति प्रकट हुई है और इसी के द्वारा परमेष्ठी का वाच्य-वाचकभाव है, अर्थात् पाँच परमेष्ठी वाच्य हैं और ओंकार उनका वाचक है।"[३] जैन दर्शन में वाच्य और वाचक का कथंचित् भेदाभेद संबंध स्वीकार किया गया है। इस प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार ओंकार की आराधना पंचपरमेष्ठी की आराधना है। उपर्युक्त अवतरणों से यह भलीभांति विदित हो जाता है कि ओंकार किसी सम्प्रदाय विशेष का नहीं वरन् सभी परम्पराओं की अमूल्य निधि है। इसी कारण इसकी निष्पत्ति भी अनेक प्रकार से की गई है।

जैन परम्परा में इसकी निष्पत्ति पंच परमेष्ठी (अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु) के आद्याक्षर के रूप में स्वीकार गई है। जैन मान्यता परम-पद में स्थित देव और गुरुओं को पाँच प्रकार से स्वीकार करती है। इनके आद्य अक्षर की सन्धि करने पर (अ + अ + आ + उ + म्) ओम् शब्द निष्पन्न होता है।[४] इस प्रकार पंचपरमेष्ठी का अन्तर्भाव ॐ में हो जाता है।

---

१. पंचवस्तुक, नवकारसारथवणं गा. ८-मानतुंगसूरि उद्धृत नमस्कार स्वाध्याय भाग-१ (प्राकृत) पृ. २६३)

२. वही

३. ज्ञानार्णव २८, ३१-३२

४. महानिशीथ पत्र २, वहद् द्रव्य संग्रह टीका पृ. १८२

वैदिक परम्परा ओम् की निष्पत्ति ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूप स्वीकार करती हैं, ये देव ही सृष्टि के पालक और प्रलय कर्त्ता है। 'आ' शब्द ब्रह्मा का, 'अ' विष्णु का और 'उ'[१] महादेव का वाचक है। आ अ उ मिलकर ओ रूप बनता है। उसकी नान्यतर जाति का सूचक 'म्' प्रत्यय लगाने से ओम् पद निष्पन्न होता है।

अन्यत्र 'अ' ब्रह्मा, 'उ' विष्णु और 'म्' महेश्वर से निष्पन्न मानते हैं। किसी स्थल पर वासुदेव (विष्णु) वाचक 'अ', महेश्वर वाचक 'उ' और प्रजापति (ब्रह्मा) वाचक 'म' के संयोग से ऊँ की निष्पत्ति स्वीकार की गई है। वस्तुतः ये निष्पत्तियाँ समान अर्थ ही प्रकट करती है। वैदिक सम्प्रदाय के तीनों ही मूर्धन्य देवों का समावेश इसमें किया गया है।

तुलनात्मक दृष्टि से अवलोकन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण एवं श्रमण दोनों ही परम्पराओं में अपने-अपने परमपद में स्थित देवों से ओंकार का उद्‌गम मान्य करते हैं। जैन परम्परा पंच परमेष्ठि के आद्य अक्षर से निष्पन्न मान्य करती है तो वैदिक परम्परा भी त्रिदेव से इसकी निष्पत्ति मानती हैं। इस प्रकार ओम् के जाप, ध्यान, आराधना से सर्व भारतीय परम्परागत देवों की आराधना-साधना हो जाती है। अर्थात् सब देवों को नमस्कार पहुँच जाता है।

2. पंच परमेष्ठी : वर्णविज्ञान

नमस्कार महामंत्र के साथ रंगों का गहरा और व्यापक संबंध है। इससे लाभान्वित होने के लिए, उसके गूढ़तम रहस्यों का उद्‌घाटन करना आवश्यक है। मंत्रविद् आचार्यों ने नमस्कार महामंत्र के साथ रंगों का समायोजन किया है। मंत्र के गूढ़तम रहस्यों को जानने वाले आचार्यों ने उन रहस्यों के आधार पर, एक-एक के लिए एक-एक रंग की समायोजना की।

ऐतिहासिकता

पंच परमेष्ठी पदों के साथ रंगों की कल्पना किस समय विकसित हुई है? सर्व प्रथम हम इस पर विचारणा करेंगे। जैनागमों में इन परमेष्ठी पदों का उल्लेख भगवती सूत्र, महानिशीथ सूत्र में उपलब्ध होताहै। तत्पश्चात् टीका, निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि व आगमेतर साहित्य में उसका विश्लेषण किया गया। यद्यपि भगवती सूत्र वृत्ति, आवश्यक निर्युक्ति, विशेषावश्यकभाष्य,

---

१. विश्वलोचन कोश

चैत्यवंदनमहाभाष्य आदि ग्रन्थों में जहाँ इन पंच पदों पर समुचित प्रकाश डाला है, तथापि वहाँ रंगों की परिकल्पना से ये शास्त्र भी सर्वथा मौन है। तब प्रश्न उठता है कि पंच पदों के साथ रंगों का समावेश कब हुआ? किन परिस्थितियों में हुआ? जैन परम्परा में जिस प्रकार पंच परमेष्ठी पद, में नवपद में रंगों का उद्‌भव हुआ, अन्य परम्परा में अर्थात् बौद्ध एवं ब्राह्मण परम्परा में इसको समाहित किया गया है अथवा नहीं?

जैन परम्परा में इन पंच-पदों को जितना महत्त्व दिया गया है, संभवत: अन्य किसी भी परम्परा में नहीं। ब्राह्मण परम्परा में ब्रह्म अथवा प्रजापित ब्रह्मा, विष्णु, अग्नि को आराध्य मानकर आराधना की गई तो बौद्ध परम्परा में अर्हत् एवं बोधिसत्त्व अथवा बुद्ध को साध्य मान कर साधना की गई। किन्तु पंच पदों को समान स्तर पर आराध्य मान कर जैन परम्परा में मंत्र रूप से निबद्ध किया गया। साथ ही वर्ण (रंगों) के साथ आराधना करने का सामञ्जस्य स्थापित किया गया। मात्र अवतार, बुद्ध अथवा बोधिसत्त्व ब्राह्मण परम्परा एवं बौद्ध परम्परा में उपास्य अथवा परम पद के रूप में स्थापित हैं। मुक्त आत्मा, साधक आत्माओं की उपासना को तो उसमें कोई स्थान नहीं, तो वर्ण के अस्तित्त्व का तो प्रश्न ही नहीं उठता। तात्पर्य यह है कि जैन परम्परा में उपास्य अर्हत् एवं सिद्ध है तथा आचार्य, उपाध्याय और साधु उपासक है। उपास्य के साथ उपासकों को भी साधना का माध्यम बनाया गया है और उनके ध्यान के लिए निश्चित वर्णों (रंगों) का भी विन्यास किया गया है। जबकि अन्य परम्परा में इस प्रकार के तथ्य दृष्टिगोचर नहीं होते। इन पंच पदों के साथ पंच वर्णों का उल्लेख सर्वप्रथम हमें महान् प्रभावक भक्तामर स्तोत्र के कर्त्ता श्री मानतुंगसूरि विरचित (वि. सं. 8 वीं शती) 'नवकार सार थवण'[१] में उपलब्ध होता है। इस ग्रन्थ में इन पाँचों पदों के साथ वर्णों का समायोजन अद्‌भुत व विस्तृत रूप से किया है। प्रश्न उठता है कि जब मानतुंगसूरि ने इस 'नवकार सार थवण' में विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की है तो इससे पूर्व भी स्थूल नहीं तो सूक्ष्म रूप से इसके अंकुर विद्यमान होने चाहिए। अवश्य ही किसी मंत्रविद् आचार्य भगवन्त के द्वारा इसका बीज वपन किया जाना चाहिए। किन्तु अब तक कोई उल्लेख हमारे दृष्टिपथ में नहीं आया। आठवीं शताब्दी के पूर्ववर्ती ग्रन्थों में इसका उल्लेख प्राप्त नहीं होता। हाँ। इससे पश्चात्वर्ती ग्रन्थों में अवश्य वर्णन मिलता है।

---

१. नवकार सार थवण उद्धृत-नमस्कार स्वाध्याय (प्राकृत) पृ. २६१-२६७

रंग की वैज्ञानिकता

वस्तुतः रंग क्या है? इस विषय पर वैज्ञानिकों तथा दार्शनिकों की जिज्ञासा बहुत समय से रही है, परन्तु इसका व्यवस्थित अध्ययन सर्वप्रथम 'न्यूटन' ने किया। यह बहुत काल से ज्ञात था कि सफेद प्रकाश कांच के प्रिज्म से देखने पर रंगीन दिखाई देता है। न्यूटन ने इस पर तत्कालीन वैज्ञानिक यथार्थता के साथ प्रयोग किया। एक अंधेरे कमरे में छोटे से छेद द्वारा सूर्य का प्रकाश आता था। यह प्रकाश एक प्रिज्म कांच द्वारा अपवर्तित (Refract) होकर सफेद पर्दे पर पड़ता था। पर्दे पर सफेद प्रकाश के स्थान पर इन्द्रधनुष के सात रंग दिखाई दिए। ये रंग क्रमशः लाल, नारंगी, पीला, हरा, आसमानी, नीला तथा बैंगनी थे। जब न्यूटन ने प्रकाश के मार्ग में एक और प्रिज्म पहले वाले प्रिज्म से उल्टा रखा, तो इन सातों रंगों का प्रकाश मिलकर पुनः सफेद रंग का प्रकाश बन गया[1]

इस प्रयोग से न्यूटन ने यह निष्कर्ष निकाला कि सफेद रंग प्रिज्म द्वारा सात रंगों में विभाजित हो जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो प्रकाश हमें सफेद रंग का दिखाई देता है, वह वास्तव में सात रंगों के प्रकाश से मिलकर बना है। न्यूटन ने एक गोल चकती को इन्द्रधनुष के सात 'रंगों' से उसी अनुपात में रंग दिया जिस अनुपात में वे इन्द्रधनुष में थे। इस चकती को तेजी से घुमाने पर यह सफेद दिखाई देती थी। इससे भी सिद्ध होता है कि सफेद प्रकाश सात रंगों से मिलकर बना है।[2]

प्रकाश का रंग

रंग वास्तव में एक मानसिक अनुभूति है, जैसे स्वाद या सुगंध। बाह्य जगत् में इसका अस्तित्व रंग के रूप में नहीं, बल्कि विद्युच्चुंबकीय तरंगों के रूप में होता है। प्रकाश 'तरंग' के रूप में होता है और प्रकाश का रंग उसके तरंग दैर्ध्य (wave-length) पर आधारित होता है। तरंग-दैर्ध्य और कम्पन की आवृत्ति (frequency) परस्पर में व्यस्त प्रमाण (inverse proportion) से संबंधित है। अर्थात् तरंगदैर्ध्य के बढ़ने के साथ कम्पन की आवृत्ति कम होती है और घटने के साथ बढ़ती है। विभिन्न रंग के प्रकाश का तरंगदैर्ध्य भिन्न होता है। लाल रंग के

---

१. णमोकार और रंग विज्ञान-१, उद्धृत तीर्थंकर, अंक ९-१९७१, पृ. ८२ प्रेक्षाध्यानः लेश्या ध्यान पृ. २९-३०

२. हिन्दी विश्वकोश खण्ड १० पृ. १-२ 'रंग' शब्द

प्रकाश का तरंगदैर्ध्य (६.५ × १०-५ से.मी.) सबसे अधिक और बैंगनी रंग के प्रकाश का तरंगदैर्ध्य (४.५ × १० -५से.मी.) सबसे कम होता है। अन्य रंगों के लिए तरंगदैर्ध्य इसके बीच में होता है। विभिन्न तरंगदैर्ध्य की विद्युच्चुम्बकीय तरंगों के आँखों पर पड़ने से रंगों की अनुभूति होती है।[1]

इंद्रिय द्वारा रंगों की अनुभूति

जब किसी प्रकाशस्रोत से निकलने वाला प्रकाश किसी पदार्थ पर पड़ता है और उससे परावर्तित होकर (या पार जाकर) आँखों पर पड़ता है, तब हमें वह वस्तु दिखाई देती है।

सूर्य से प्रसारित होने वाले प्रकाश-तरंग जब पदार्थ में होकर गुजरते हैं, तब उस पदार्थ को स्वयं की विशिष्टता के कारण एक विशेष तरंगदैर्ध्य को छोड़कर शेष सभी उस पदार्थ द्वारा शोषित हो जाते हैं। इस प्रकार जब दूब में से प्रकाश की तरंगे गुजरती है, तब दूब की विशिष्टता के कारण ही हरे रंग को सूचित करने वाली तरंगदैर्ध्य को छोड़डकर शेष तरंगदैर्ध्य वाली सभी तरंगे दूब के द्वारा शोषित (absorbed) हो जाती है। हमारी आँख तक केवल वे ही तरंगे पहुँचती हैं, जिनका तरंग दैर्ध्य हरे रंग को सूचित करता है और इसीलिए हमें दूब हरी दिखाई देती है।[2]

यही प्रकाश यदि बिना किसी रूपान्तरण (modification) के हमारी आँखों तक पहुँचे, तो हमें वह वस्तु सफेद दिखाई देती है। उदाहरण के लिए लाल रंग के प्रकाश में देखने पर लाल वस्तु भी सफेद दिखाई देती है। वहीं वस्तु सफेद प्रकाश में लाल और नीले प्रकाश में काली दिखाई देती है।[3]

सुप्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक और नोबल-पुरस्कार विजेता प्रो. सी. वी. रामन ने रंग की प्रक्रिया गहन शोध-कार्य किया है। उन्होने भी इस कथन की पुष्टि की है। किसी भी पदार्थ का रंग तीन बातों पर निर्भर होता है-1. आपतित प्रकाश की प्रकृति 2. पदार्थ द्वारा शोषित प्रकाश 3. विभिन्न रंगों की अनवशोषित प्रकाश किरणें। इन तीनों ही के कारण से आँख पर उत्पन्न अनुभूति ही पदार्थ का रंग है।[4]

प्राथमिक और पूरक रंग

प्रकृति में पाए जाने वाले समस्त रंग तीन प्राथमिक रंगों लाल, पीला और नीले से मिलकर बनते हैं।[5] सामान्यतया ये तीनों रंग प्राथमिक स्वीकार गए हैं।

---

१. प्रेक्षा-ध्यान : लेश्या ध्यान पृ. १३
२. प्रेक्षा-ध्यान : लेश्या ध्यान पृ. १४
३. वही
४. प्रेक्षा-ध्यान : लेश्या ध्यान पृ. १४
५. प्रेक्षा-ध्यान : लेश्या ध्यान पृ. १५

किन्तु जैन परम्परा में वर्ण (रंग) के पाँच प्रकार स्वीकार किये गये हैं-कृष्ण, नील, रक्त, पीत और शुक्ल अर्थात् काला, नीला, लाल, पीला और सफेद। जो कि रंग चक्षु इन्द्रिय के विषय के रूप में मान्य किये गये हैं। इन रंगों को उचित अनुपात में मिलाने पर दूसरे अन्य रंगों की प्राप्ति होती है। क्योंकि प्रकृति में हमें अनेकशः रंग दृष्टिगत होते हैं, जो कि इन रंगों का ही मिश्रण होता है। किन्तु जो प्राथमिक रंग हैं उनको रंगों के मिश्रण से बनाया नहीं जा सकता है। जब दो रंगों के मिश्रण से तीसरा रंग प्राप्त होता है, तब उन दो रंगों को एक-दूसरे का "पूरक" रंग कहते हैं। उदाहरण स्वरूप जब लाल और हरा मिलाया जाता है तब पीले रंग का निर्माण हो जाता है अतः पीले रंग को नीले रंग का पूरक कहा जाता है।

अब हम इन श्वेत, रक्त, पील, नील, कृष्ण वर्ण की विशेष विवेचना करेंगे। इन पंच पदों के साथ पंच वर्णों का चुनाव बहुत महत्त्वपूर्ण, गूढ़ और रहस्यमय है। यह जगत् पौद्गलिक है, भौतिक है। हमारा यह शरीर भी पुद्गलों से निर्मित है। अर्थात् यह भी पौद्गलिक है। पुद्गल के वर्ण, गंध, रस और स्पर्श ये चार लक्षण हैं। समग्र भू-वलय, समग्र मूर्त संसार इन पौद्गलिक लक्षणों के प्रकंपनों से प्रकंपित है। शरीर से ये वर्ण सन्निकट है। हमारे शरीर से वर्ण का बहुत निकट का संबंध है। ये वर्ण (रंग) शरीर से नहीं अपितु इनका हमारे मन से, आवेगों से, कषायों से भी बहुत बड़ा संबंध है। शारीरिक स्वास्थ्य और अस्वास्थ्य, मन का स्वास्थ्य और अस्वास्थ्य, आवेगों की कमी और वृद्धि- ये सब इन रहस्यों पर निर्भर है कि किस प्रकार के रंगों के समायोजन, अलगाव या संश्लेष हम करते है।

रंग हमारे चारों ओर हैं। सारा वातावरण ही रंगीन है। रंगों का अपना जगत्, अपनी भाषा और अपना वर्ण्य भी है। रंगों की दुनिया अद्भुत, विचित्र, विलक्षण तो है ही, साथ ही वह युक्तियुक्त और अर्थगर्भित भी है। 'रंग ही जीवन है' यह कथन आत्यन्तिक होने पर भी टाला नहीं जा सकता। आज तो रंगों को लेकर काफी खोजें और विशेष अध्ययन हुए हैं। पश्चिम में तो रंगचिकित्सा एक स्वतंत्र चिकित्सापद्धति रुप में विकसित हुई है। हमारे शरीर का प्रत्येक अंग, प्रत्यंग ही नहीं शरीर का कण-कंण रंगों की ही निर्मिति है।

नमस्कार महामंत्र में निहित रंगों को उनकी विशिष्टता और विलक्षणता को समझने का प्रयास करेंगे। रंगों का और नमस्कार मंत्र का जो घनिष्ठ संबंध है, उसे आचार्यों ने वैज्ञानिक आधार पर संयोजित किया है, उसका शोधन करके उनको

ध्यान, समाधि के अनुसंधान में महत्त्वपूर्ण दिशा प्रस्तुत की है। जो कि मौलिक होने के साथ-साथ प्रेरक है और हमें रंगों पर आधारित एक सम्यक् भूमिका उपलब्ध हुई है।

पंच परमेष्ठी पद और वर्ण (रंग) विज्ञान-

पंच परमेष्ठी पदों के साथ वर्णों का समायोजन किया है, जो अद्भुत एवं पूर्णतः वैज्ञानिक है। 'नवकार सार थवण' में इन पंच पदों के पंच वर्ण निम्न प्रकार से मान्य किये हैं[१]

1. अर्हत्पद-धवल (श्वेत) वर्ण
2. सिद्धपद-रक्त (लाल) वर्ण
3. आचार्यपद-पीत (पीला) वर्ण
4. उपाध्याय पद-मरकतमणि सदृश (हरित अथवा नील) वर्ण
5. साधु पद-श्याम (काला) वर्ण

1. अर्हत् पद-

अर्हत् पद का वर्ण यहाँ धवल स्वीकार किया है। वह धवल भी कैसा है? उसके लिए कथन है कि "ससिधवला" अर्थात् 'चंद्रवदुज्जवल' चंद्र के समान उज्ज्वल देदीप्यमान है। स्फटिक से उपमित यह ज्ञान का केन्द्र है एवं पारदर्शन/पवित्रता का द्योतक है।

2. सिद्ध पद-

सिद्ध का वर्ण रक्त अर्थात् लाल है। जिसे अग्नि या 'अरूणाभा'-प्रातः कालीन लाल-सूर्य की प्रभा की उपमा दी गई है। सद्यः उदित (बाल) सूर्य से उपमित यह दर्शन का केन्द्र है, जो कि तेजोमयता, दाहकता का प्रतीक है।

3. आचार्य पद-

आचार्य का वर्ण पीत अर्थात् पीला है जिसे 'कणया' अर्थात् कनक-सुवर्ण के सदृश स्वीकार किया है। कहीं हरिद्रा-हल्दी के सदृश भी कहा है। दीपशिखा से उपमित यह विशुद्धि का केन्द्र है, जो उर्ध्वगामिता, उच्चता का द्योतक है।

---

१. नवकार सार थवण पृ. २६१-२६७

4. उपाध्याय पद-

उपाध्याय का वर्ण हरा अथवा नीला (हरित-नील) है। कहीं इसे मरकतमणि के सदृश[1] हरा, प्रियंगु के सदृश[2] तो हरित-हरा/नीला कहा गया है। यहाँ हरा और नीला दोनों ही वर्ण उपाध्याय के मान्य किये गये है। नभ से उपमित यह पद आनन्द का केन्द्र है, जो कि व्यापकता को सूचित करता है।

5. साधुपद-

साधु का वर्ण काला (श्याम-कृष्ण) माना है। जिसे अंजनमणि[3] की उपमा दी गई है। कस्तूरी से उपमित यह शक्ति का केन्द्र है, जो कि एकाग्रता, अवशोषक का प्रतीक है।

पंचपदों के वर्णों का विशेष विवेचनः-

अर्हत् पद-श्वेतवर्ण-

अर्हत् पद का ध्यान ज्ञानकेन्द्र (मस्तिष्क) पर श्वेत वर्ण के साथ करते हैं। श्वेत वर्ण हमारी आंतरिक शक्तियों को जागृत करता है। हमारे मस्तिष्क में ग्रे रंग, धूसर रंग का एक द्रव पदार्थ है। जो कि समूचे ज्ञान का संवाहक होता है। पृष्ठरज्जु में भी वह पदार्थ है। मस्तिष्क में अर्हत् का धूसर रंग के साथ श्वेतवर्ण से ध्यान करते हैं। इससे ज्ञान की सोयी हुई शक्तियाँ जागृत होती है। चेतना का जागरण होता है। इसीलिए इस पद की आराधना के साथ ज्ञानकेन्द्र और श्वेतवर्ण की समायोजना की गई है। मंत्रशास्त्र का भी यही अभिमत है कि स्वास्थ्य के लिए श्वेत वर्ण का ध्यान करना चाहिये। श्वेत वर्ण स्वास्थ्यप्रद होता है, स्वास्थ्य का प्रतीक होता है। रोग निवारण में श्वेतवर्ण पूर्णतः सहयोगी होता है। इस वर्ण की कमी से अस्वास्थ्य बढ़ता है। हमारे शरीर के रक्त कणों में श्वेत व लाल रक्त कण हैं। श्वेत रक्त कणों को डबल्यु. बी. सी. (White Blood Cars Ckals) कहा जाता है। यदि श्वेत कण कम हो जाएँ तो हम निश्चित रूप से अस्वस्थ हो जाते हैं।[4]

यदि भावविभोर होकर श्वेतवर्ण के साथ अर्हत् पद के ध्यान में निमग्न हो जाते हैं, तो ज्ञानकेन्द्र सक्रिय होने लगता है और ऊर्जाशक्ति का निर्माण होता है। क्रोध, आवेश, आवेग, उत्तेजनाएँ आदि विकारों की शांति होती है। फलस्वरूप व्यक्ति परमशांति का अनुभव करता है। ज्ञानकेन्द्र की सक्रियता से ज्ञाता भाव

---

१. तीर्थंकर १ पृ. ४५ २. वही ३. वही ४. प्रेक्षा-ध्यान : लेश्या ध्यान पृ. ६१

जागृत होता है। परिणामस्वरूप सर्वज्ञता, केवलज्ञान का अधिकारी बनाने में श्वेत वर्ण सहायक होता है।

सत्त्वगुण और शुक्ल लेश्या का वर्ण भी श्वेत है। पूर्णिमा के चंद्र जैसा प्रकाशमान धवल रंग। शुक्ल लेश्या संयुक्त श्वेत वर्ण आत्म-जागृत्ति में अत्यन्त सहयोगी होता है। परम-पद प्राप्ति में प्रकाशमान श्वेत रंग किस प्रकार प्रगति करता है? वह भी हम अवलोकन करें-

शुक्ल लेश्या[1] (प्रेक्षा-ध्यान : लेश्या ध्यान पृ. 61)-

व्यवहार में श्वेतरंग को स्वच्छता, शुद्धता, पवित्रता का प्रतीक माना गया है। शुक्ल लेश्या का रंग भी पूर्णिमा के चंद्र जैसा श्वेत है। यह शांति, शुद्धि और निर्वाण का द्योतक है। पद्मलेश्या की गर्मी को शुक्ल-लेश्या उपशांत कर देती है और निर्वाण घटित हो जाता है। शुक्ललेश्या उत्तेजना, आवेग, आवेश, चिन्ता, तनाव, वासना, कषाय-क्रोध आदि को शांत कर पूर्ण शांति का अनुभव कराती है।

आत्म साक्षात्कार[2]-

उपशांत हुई चेतना, इंद्रिय चेतना, मन:स्थ चेतना और चित्त की चेतना से परे एक ऐसे तत्त्व का साक्षात्कार कराती है, जो परम इष्ट है। वह तत्त्व है-आत्म साक्षात्कार। आत्म साक्षात्कार ही लेश्या ध्यान का परम लक्ष्य है, जो कि शुक्ल लेश्या से प्राप्त होता है। इस केन्द्रबिंदु से ही हमें भौतिक और आध्यात्मिक जगत के अन्तर का ज्ञान होता है।

अव्यथ चेतना[3]

आत्म साक्षात्कार की महत्त्वपूर्ण प्रकिया है-निर्विकल्प चेनता का निर्माण। जब निर्विकल्प चेतना जागृत होती है, तब सारी असमाधियाँ दूर हो जाती है। इससे सबसे पहला सुफल होता है-अव्यथ चेतना की जागृति। निर्विकल्प चेतना में जीनेवाला व्यक्ति निर्व्यथ जीवन जीता है। उसकी चेतना में व्यथा नहीं होती। उसके सामने कितना ही प्रतिकूल वातावरण उपस्थित हो, भयंकर परिस्थितियाँ और समस्याएँ हो, वह कभी व्यथित नहीं होता। वह घटना को जान लेता है, भोगता नहीं। वह केवल ज्ञाता हो जाता है। भोक्ता भाव समाप्त हो जाता है।

---

१. प्रेक्षा-ध्यान : लेश्या ध्यान पृ. ७०

२. वही

अमूढचेतना[1]

जब चेतना असम्मोह की स्थिति में चली जीत है, तब उसमें मूढ़ता पैदा नहीं होती। निर्विकल्प चेतना के उपलब्ध होने पर चित्त मूढ नहीं बनता, सम्मोहन समाप्त हो जाते हैं।

विवेक चेतना[2]

सम्मोहन समाप्त होने पर विवेक चेतना जागृत हो जाती है। फलस्वरूप जड़-चेतन में पार्थक्यशक्ति विकसित हो जाती है। आत्मा और पुद्गल के स्पष्ट भेद का उसे साक्षात् हो जाता है। उसे विवेक चेतना की उपलब्धि होती है।

व्युतसर्गचेतना[3]

जब विवेक चेतना पुष्ट होती है, तब व्युत्सर्ग की क्षमता बढ़ती है। त्याग और विसर्जन की शक्ति का विकास होता है। मैं चैतन्यमय, सच्चिदानंदघन हूँ, यही मेरा अस्तित्त्व है। शनैः शनैः अभ्यास द्वारा चेतना का वह अनन्त सागर एक दिन निस्तरंग और उर्मिविहीन बन जाएगा। उस स्थिति में उसे परम सत्य का साक्षात्कार हो जाएगा।

शुक्ल लेश्या संयुक्त, शुक्लध्यान में आरोहित चेतना-कैवल्य का वरण करेगा ही। कर्म कालिमा का समूलोच्छेद हो जावेगा। अज्ञान जन्य चारों घाति कर्म भस्मीभूत होकर केवलज्ञान रूपी सूर्य का प्राक्ट्य हो जावेगा। अर्हत् पद प्राप्ति में इस श्वेत रंग का महत्त्वपूर्ण योगदान इस प्रकार स्वतः सिद्ध हो जाता है।

सिद्ध पद-लालवर्ण-

दर्शनकेन्द्र में (मस्तक) रक्त (लाल) वर्ण के साथ सिद्ध पद का ध्यान किया जाता है।[4] बाल सूर्य जैसा लाल वर्ण। यह लाल वर्ण आन्तरिक दृष्टि को जागृत करता है। आत्म साक्षात्कार अन्तर्दृष्टि का विकास, अतीन्द्रिय चेतना का विकास दर्शन केन्द्र के जागरण से होता है। मंत्र, लालवर्ण और दर्शनकेन्द्र-इन तीनों का समायोजन आंतरिक दृष्टि को जागृत करने का अनुपम साधन है। अन्तर्दृष्टि का अर्थ है प्रियता-अप्रियता की अनुभूति से मुक्ति। मुक्त होने पर ही सत्य उपलब्ध होता है। शास्त्रों का रटन या तत्त्वों के पारायण से इसकी उपलब्धि नहीं होती।

---

१. प्रेक्षा-ध्यान लेश्या ध्यान पृ. ७१
२. वही
३. वही
४. प्रेक्षाध्यान : लेश्याध्यान पृ. ५४-५५

शारीरिक स्वास्थ्य के लिए भी इस लाल वर्ण का महत्त्वपूर्ण योगदान है। तृतीय नेत्र, पिच्यूटरी ग्रंथि और उसके स्त्रावों को नियंत्रित करने के लिए लाल रंग बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। लाल रंग इस ग्रंथि को तो सक्रिय बनाता ही है, वह नाड़ी मंडल और रक्त को भी सक्रिय बनाता है। पांचों इंद्रियों की क्रियाशीलता इसी रंग पर निर्भर करती है। यह सरेब्रो-स्पाइनल द्रव पदार्थ को प्रेरित करता है। लाल किरणें ताप पैदा करती है, और शरीर में शक्ति का संचार करती है। यह किरणें लीवर और मांसपेशियों के लिए लाभप्रद होती है। लाल रंग मस्तिष्क के दांए भाग को सक्रिय रखता है। लालकिरणें शरीर के क्षार द्रव्यों को तोड़कर आयोनाइजेशन करती है। ये आयोन्स विद्युत चुम्बकीय शक्ति के वाहक होते हैं।[१]

मनोविज्ञान की दृष्टि से लालवर्ण स्वास्थ्य प्रद माना जाता है। यह प्रतिरोधात्मक होता है। सक्रियता पैदा करना यह इस रंग की विशेषता है। फलस्वरूप सुस्ती, आलस्य या जड़ता का नाश करके स्फूर्ति का संचार करता है, ताजगी का एहसास कराता है।

गुणों में रजोगुण का रंग भी लाल ही है, तथा 6 लेश्या में तेजो लेश्या का वर्ण भी लाल प्ररूपित किया गया है। तेजो लेश्या का बाल सूर्य जैसा ही लाल रंग है। लाल रंग का तत्त्व है-अग्नि। लाल रंग अर्थात् तेजस्विता, दीप्ति, प्रवृत्ति और सक्रियता का स्रोत। वस्तुतः यह रंग हमारा स्वास्थ्य है। चिकित्सक आरोग्य हेतु सर्वप्रथम रक्त में निहित श्वेतकणों एवं रक्त (लाल) कणों का निरीक्षण करता है। लाल कणों की कमी अस्वास्थ्य का द्योतक है।

परिवर्तन का प्रारंभ[२]

लाल रंग में यह क्षमता है कि वह बाह्य जगत् से अन्तर्जगत् में ले जा सकता है। जब तक कृष्ण-नील-और कापोत ये अप्रशस्त लेश्या काम करती है, तब तक व्यक्ति अन्तर्मुखी नहीं हो सकता, आध्यामित्क नहीं हो सकता, अन्तर्जगत् की यात्रा नहीं कर सकता। लाल रंग के अनुभव से, तेजस् लेश्या के स्पंदनों की अनुभूति से अन्तर्जगत् की यात्रा प्रारंभ होती है। आदतों में, विचारों में, व्यवहार में, आचरण में परिवर्तन आना प्रारंभ हो जाता है। कृष्ण, नील, कापोत-लेश्या के प्रभाव से असत्विचार, आदतें तेजस् लेश्या के प्रकाशमय लाल रंग से समाप्त होने लगती है। फलतः स्वभाव में भी परिवर्तन आने लगता है।

---

१. प्रेक्षा-ध्यान : लेश्या ध्यान पृ. २९-३०

२. वही पृ. ६५

अनिर्वचनीय एवं अपूर्व आनंद[1]

जब तैजस् लेश्या के स्पंदन स्फुरायमान होते है, जागृत होते हैं, तब व्यक्ति को अनिर्वचनीय आनन्दानुभूति होती है। वह उस आनंद का प्रत्यक्ष अनुभव करता है। साक्षात्कार करता है। क्योंकि सत् और असत् व सत्य व असत्य उसे प्रत्यक्ष प्रतिभासित होते हैं। अन्तर्मुखता के परिणाम स्वरूप अन्तर्दृष्टि खिल उठती है। उसकी भ्रांतियाँ टूट जाती है, धारणाएं बदल जाती है।

पदार्थों में सुख नहीं, इस वास्तविकता का ज्ञान हो जाता है। वस्तुतः हमारे भीतर एक विद्युत् धारा है, वह सुख का निमित्त बनती है। वैज्ञानिक प्रयोगों से यह सिद्ध हो चुका है कि विद्युत के प्रकंपनों के बिना कोई सुख का संवदेन नहीं हो सकता। जो सुख, इन्द्रिय-विषयों के उपभोग से उपलब्ध किया जाता है, वही सुख इन्द्रय-विषयों के बिना भी, कल्पना से भी किया जा सकता है। और वही सुख केवल विद्युत् के प्रकंपन पैदा करके भी किया जा सकता है। जैन परंपरा यह मान्य करती है कि 'देवनिकाय में वैमानिक देवों में ईशान कल्प तक के देव कायप्रवीचार होते हैं, अर्थात् शरीर से विषयसुख भोगते हैं। शेष देव दो-दो कल्पों में क्रमशः स्पर्श, रूप, शब्द और संकल्प द्वारा विषय सुख भोगते हैं।'[2] वैज्ञानिक प्रयोगों से तो अब यह सिद्ध हुआ। किन्तु जैन सैद्धान्तिक ग्रंथों में दिव्य सुखों के लिए कल्पना, संकल्प जन्य सुखों का वर्णन किया गया है। इस प्रकार यह तथ्य प्रमाणित हो गया कि सुख का संवेदन विद्युत-प्रकंपन-सापेक्ष है।

तैजस् लेश्या के जागृत होने पर विद्युत-प्रकंपन तीव्रतम हो जाते हैं तब अत्यधिक सुख का अनुभव होता है, तो व्यक्ति उसे छोड़ना नहीं चाहता। उसके परिणाम अत्यन्त सुखद होते हैं। प्रारम्भिक अवस्था आंशिक है। पूर्णता की ओर चरण बढ़ते-बढ़ते अव्याबाध सुख का स्वामी सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो जाता है। सिद्ध पद का लाल वर्ण इस सापेक्षता से पूर्णतः संगत प्रतीत होता है। सिद्ध परमेष्ठी अनन्त अव्याबाध सुख के स्वामी होते हैं।

मानसिक दुर्बलता का अंत[3]

लाल वर्ण, तेजोलेश्या के स्पन्दन जब जागृत होते हैं, तब मन की दुर्बलता समाप्त हो जाती है। मन की कठिनाईयाँ, जिससे व्यक्ति आक्रान्त होता है, सब

१. वही पृ. ६५-६६

२. तत्त्वार्थ सूत्र ४.८.९

३. प्रेक्षा ध्यान पृ. ६७

समूल नष्ट हो जाती है। अनन्त वीर्य अनन्त बल स्फुरायमान हो जाता है। सिद्धावस्था के इस गुण के प्राकट्य में यह वर्ण सहयोगी होता है।

इस प्रकार यह लाल वर्ण मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त करने में सक्षम सिद्ध होता है। अन्तर्दृष्टि अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन गुण को प्रगट करती है। सर्वज्ञता और द्रष्टाभाव सहभावी है। असद् आचरण से निवृत्ति, अनन्त चारित्र का प्रवर्त्तन करती है। जब भ्रान्तियाँ टूटती है तब वह सम्यग्दृष्टि होता है। वस्तुतः अन्तर्दृष्टि, सम्यग्दृष्टि, सम्यक्त्व, सत्य सब एक ही है। फलतः क्षायिक सम्यक्त्व का अधिष्ठान करता है। दुर्बलताओं के अंत में अनंतवीर्य स्फुरायमान होता है। अनन्त अव्याबाध सुख का स्वामी होता है।

गतपृष्ठों में हमने ज्ञात किया कि जब लाल रंग को लाल प्रकाश में देखा जाये तो वहाँ लाल वर्ण समाप्त हो जाता है और मात्र प्रकाशमान सफेद रंग का प्रागट्य होता है। सफेद रंग को वैज्ञानिकों ने वर्ण नहीं माना। निर्वर्ण होने से सिद्ध परमेष्ठी का अरूपी गुण विकसित हो जाता है। जब वर्ण, गंध, रस, स्पर्श नहीं होते हैं तो गुरुत्व-लघुत्व नाम शेष हो जाते हैं। अतः अगुरुलघुत्व गुण को विकसित करने में लालवर्ण सक्षम होता है।

इस प्रकार सिद्ध पद का लालवर्ण आठ ही गुणों के प्राकट्य में किस प्रकार सहयोगी हो सकता है? इस पर हमने विचारणा की।

3. आचार्यपद पीत (पीला वर्ण)

आचार्य पद का ध्यान विशुद्धि केन्द्र (कंठ) पर पीले वर्ण के साथ करते हैं।[१] यह पीला रंग हमारे को सक्रिय बनाता है। यह चैतन्यकेन्द्र भावनाओं का नियामक है, मन का नियामक है। जब तैजस् केन्द्र वृत्तियों को उभारता है, तब विशुद्धिकेन्द्र उन पर नियन्त्रण करता है। इससे आवेग भी नियन्त्रित होते हैं।

शरीर शास्त्री मानते हैं कि थाइराइड ग्लैण्ड वृत्तियों पर नियन्त्रण करने वाली ग्रन्थि है। इस ग्रन्थि का स्थान भी कंठ है। पीले रंग के साथ इस केन्द्र पर आचार्य का ध्यान करने से हमारी वृत्तियाँ शांत होती है, वे पवित्रता की दिशा में सक्रिय बनती हैं।

पीला रंग नाडियों को सक्रिय और मांसपेशियों को शक्तिशाली बनाता है।

---

१. प्रेक्षा-ध्यान : लेश्या ध्यान पृ. ५५

यह मृत कोषिकाओं को सजीव करता है, साथ ही उनको सक्रिय बनाता है। इस रंग में घन चुम्बकीय विद्युत् होती है। यह विद्युत् नाड़ी-मण्डल को शक्तिशाली और मस्तिक को सक्रिय करती है।[1]

पीला रंग बुद्धि और दर्शन का रंग है, तर्क का नहीं। इससे मानसिक कमजोरी, उदासीनता आदि दूर होते हैं। यह प्रसन्नता और आनन्द का सूचक है।

लेश्याओं में प्रशस्त तीन लेश्या में पद्मलेश्या का वर्ण भी पीला है। यह रंग बहुत शक्तिशाली माना गया है, जो कि गर्मी पैदा करता है। लाल रंग भी गर्मी पैदा करता है। वस्तुतः उत्क्रमण की सारी प्रक्रिया गर्मी बढ़ाने की प्रक्रिया है।

मस्तिष्क और नाड़ी-तंत्र को बल-[2]

शारीरिक दृष्टि से पीला रंग मस्तिष्क और नाड़ी संस्थान को बल देता है। जिसकी बुद्धि, मस्तिष्क और स्मृति-शक्ति कमजोर हो, यदि पीले रंग के कमरे में रखा जाए तो उसमें परिवर्तन आना शुरु हो जाएगा। यदि मस्तिष्क में पीले रंग का ध्यान किया जाय तो बुद्धिबल शक्तिशाली होता जाता है।

अनिर्वचनीय निर्मलता[3]

पीले रंग का नियमित और विधिवत् ध्यान करने से व्यक्ति को अनिर्वचनीय निर्मलता प्राप्त होती है। उसमें प्रज्ञा की निर्मलता, बुद्धि की निर्मलता और ज्ञानतंतुओं की निर्मलता इतनी तीव्र होती है कि वह हजारों ग्रन्थों के अध्ययन से भी उपलब्ध नहीं होती। गहराई में जाने की ऐसी दृष्टि मिल जाती है कि कोई भी समस्या को तत्काल सुलझाने में सक्षम हो जाता है। आचार्य प्रवर इसी मेधा शक्ति के कारण संघ को नेतृत्त्व के माध्यम से दिशा प्रदान करते हैं।

चित्त की प्रसन्नता[4]

पीले रंग का जो मनोवैज्ञानिक प्रभाव है, वह है-चित्त की प्रसन्नता। रंग का मनोविज्ञान कहता है कि पीला रंग मन की प्रसन्नता का प्रतीक है। इससे मन की दुर्बलता मिटती है, आनन्द बढ़ता है। आगम कहते हैं-पीत लेश्या से चित प्रशांत होता है, शांति बढ़ती है और आनन्द में वृद्धि होती है। दर्शन की शक्ति पीले रंग से विकसित होती है। दर्शन का अर्थ है-साक्षात्कार, अनुभव। इससे तर्क-शक्ति नहीं, वरन् साक्षात्कार व अनुभव शक्ति का विकास होता है।

---

१. (वही पृ-३०-३१
२. प्रेक्षा-ध्यान पृ ६८
३. वही पृ ६८
४. वही

जितेन्द्रियता[1]

जब चमकते हुए पीले रंग के परमाणुओं को आकर्षित किया जाता है, तो जितेन्द्रिय होने की स्थिति निर्मित हो जाती है। पद्मलेश्या का अभ्यास करने वाला व्यक्ति जितेन्द्रिय हो जाता है।

इस प्रकार पीले रंग की क्षमता है-मन को प्रसन्न करना, बुद्धि का विकास करना, दर्शन की शक्ति बढ़ाना, मस्तिष्क और नाड़ी संस्थान को सुदृढ़ करना सक्रिय बनाना। मस्तिष्क तथा चाक्षुषकेन्द्र पर पीले रंग का ध्यान ज्ञान-तंतु विकसित करने में सहायक होता है।

आचार्य भगवन्त संघ का नेतृत्व करते हैं। संघ में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य इन पंचाचारों का पालन करवाते हैं। पीले रंग की प्रभावकता से ज्ञान दर्शन के आचार पालन में बल मिलता है। फलतः वीर्य स्फुरायमान होता है। आध्यात्मिक जागरण होने पर दर्शन की विशुद्धि होने पर चारित्र और तपःपूत जीवन का स्वतः निर्माण होने लगता है। आनंद की अभिवृद्धि व चित्त की प्रसन्नता 'सच्चिदानंदमयी स्थिति' में परम सहायक होते हैं।

उपाध्याय-नीलावर्ण-(अथवा हरा वर्ण)

उपाध्याय पद का ध्यान आनन्द केन्द्र (हृदय) पर नील वर्ण के साथ किया जाता है।[2] नीला रंग शांति देने वाला होता है। यह रंग समाधि, एकाग्रता पैदा करता है और कषायों को शांत करता है। यह नील रंग आत्मसाक्षात्कार में भी सहायक होता है।

यह नीला रंग वासनाओं पर अनुशासन करता है। अन्य मतानुसार हरा वर्ण भी उपाध्याय का माना गया है। हरा रंग भावों की निर्मलता का प्रदाता है।

शरीर में नीलवर्ण की कमी से क्रोध बढ़ता जाता है। उपाध्याय प्रवर का नील वर्ण के साथ ध्यान किया जाय तो क्रोधादि कषायें तिरोहित हो जाती है। कषायों का उपशमन होना, परिणामस्वरूप क्षमा, शांति आदि गुणों का आत्मसात् होना।[3]

आँखों का आपरेशन करने वाला डॉक्टर हरी-नीली पट्टी बांध देता है। शांति प्रदायक होने से। उष्णता के आक्रमण से बचने के लिए। क्रोधादि कषायों की आक्रमकता से बचने के लिए नील वर्ण संयुक्त उपाध्याय का ध्यान शांति का जीवन में आधान करता है।[4]

---

१. वही पृ ६९
२. प्रेक्षा-ध्यान : लेश्या ध्यान पृ. ५४-५५
३. वही पृ. ३१-३२
४. तीर्थंकर, पृ. ७६, ५७, ५४

साधुपद-श्यामवर्ण-

साधु पद का ध्यान श्याम अर्थात् काले रंग से करना चाहिये। इसका स्थान है 'शक्तिकेन्द्र'।[१] शक्ति केन्द्र का स्थान या पैरों के स्थान पर काले वर्ण के साथ इस मंत्रपद की आराधना की जाती है। काला वर्ण अवशोषक होता है। काला छाता क्यों रखा जाता है? सर्दी में वकील और न्यायाधीश काला कोट क्यों पहनते हैं? यह इसलिये कि यह काला रंग अवशोषक होता है। यह बाहर के प्रभाव को भीतर नहीं जाने देता। यह काला वर्ण महत्त्वपूर्ण वर्ण है।

काले रंग की यह विशेषता है कि वह अन्य वर्णों की उदात्तता को भी ग्रहण नही करता, अपितु उसका यही प्रयास रहता है कि वह दूसरे वर्णों को भी स्वयं में मिला ले। उन्हें भी अपने रूप, गुण के अनुरूप बना ले।

यहाँ साधु पद का वर्ण भी श्याम मान्य किया गया है।[२] जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया गया है कि यह रंग अवशोषक होता है, जिस पर अन्य किसी रंग का प्रभाव नहीं पड़ सकता। उसी प्रकार साधु पद साधनामार्ग का प्रथम चरण, प्रथम सोपान है। त्याग-वैराग्य के मूर्तिमन्त्र रूप हैं। उमें गुणों को अवशोषित करने की क्षमता निहित है। अन्य वर्णों का प्रभाव काले रंग पर नहीं पड़ता, उसी प्रकार भौतिकता का प्रभाव भी साधु पर रंग नहीं जमा सकता। अन्य वर्णों जैसे लाल, पीले, आदि के आकर्षण से उनको उन्मुक्त होना चाहिये।

वस्तुत: श्याम रंग से मन में एक अजीव वितृष्णा-सी पैदा होती है और उसके संपर्क में विषण्ण बनने लगता है। इसी कारण मूर्धन्य आचार्यों ने इसे शोक, विषाद, मृत्यु का भी सूचक बताया है। काले झंडे, काले बिल्ले आदि विरोध के प्रदर्शक है।

महाकाल और महाकाली की प्रतिमाएँ सदैव काले रंगों में रंगी होती है। वास्तव में काल शब्द मृत्यु का संदेशवाहक है। अत: उन्हें देखकर सदैव स्मरण रखना है कि यह नैसर्गिक है। उसकी अनिवार्यता को नकारा नहीं जा सकता बल्कि सदैव उसका स्मरण रखकर असत्कार्यों से बचा जा सकता है। इस प्रकार यह काला रंग जागरण का प्रथम सोपान बन जाता है।

---

१. प्रेक्षाध्यान : लेश्याध्यान पृ. ५४-५५

२. तीर्थंकर-२ पृ. ५३, ७६

साधु का रंग काला भी इसीलिये किया गया है, क्योंकि साधना का प्रथम सोपान साधु है। साधुत्व का प्रारम्भ श्याम वर्ण से है। चूंकि काला वर्ण अवशोषकता का प्रतीक है, तो साधु को भी सोखने वाला बनना चाहिये। उसे क्रोध आदि कषायों को सोखने वाला बनना चाहिये, यदि कोई उससे वैर करे, तो भी उसे सोखना चाहिये। साधु वह जो जितनी भी बुराईयाँ हो, उस सबको समुद्र की तरह सोख ले। उसे इस तरह का अवशोषक बन जाना चाहिये कि वह जो भी अनुकूल प्रतिकूल हो, उसे आत्मसात् कर ले। साधु अर्थात् उत्तम, अच्छा। वहाँ दोष, बुराई का नामो निशान न रहे।[१]

काले रंग में उष्णता और अग्नि दोनों ही है। काले रंग में उष्णता का परिणाम ज्यादा होता है। अग्नि उसके लिए अत्यावश्यक है। साधु को भी अग्नि बहुत जरुरी है, क्योंकि उसको निर्जरा करनी है। उसको अग्नि का शोषण करना ही चाहिये। सोखना यानि सहन करना। काले रंग पर अन्य रंग नहीं चढ़ पाता, वरन् वह अन्य रंगों को अपने समान बना लेता है। इसी प्रकार साधु पर क्षमादि गुणों का रंग लग जाता है, तब उस पर क्रोधादि का, भौतिकवाद का रंग नहीं, चढ़ पाता। वह प्रतिकूलताओं को भी अपने अनुकूल बना लेता है। सहन शक्ति के माध्यम से सब सोख लेता है। अन्यों को प्रतिबोध देकर, त्याग वैराग्य का पाठ पढ़ा कर उसका रंग चढ़ाने का प्रयास करता है।

प्रसिद्ध कवि रहीमदासजी ने भी कहा है-रहिमन काली कमरिया, चढे न दूजो रंग। इस प्रकार साधु का काला वर्ण अपेक्षा से संगत प्रतीत होता है।

रंगों की विशिष्टता: विलक्षणता

यदि इन पांचों पदों में निहित रंगों का, उनकी विशिष्टता तथा विलक्षणता को देखें तो यह ज्ञात होगा कि रंगों का और इन पंच पदों का जो घनिष्ट संबंध है, उसे आचार्यों ने वैज्ञानिक आधार पर संयोजित किया है, उसका शोधन किया है और निर्देश किया है। ध्यान, समाधि के माध्यम से विशिष्ट पद में निहित रंग का अनुसंधान किया है, जो मौलिक होने के साथ प्रेरक भी है।

रंगों की भाषा को बदलने पर ध्यान, जाप के समय शब्द को रंग में बदलना चाहिये। शब्द से रंग की ओर बढ़ने पर एकाग्रता होने लगेगी, एकाग्रता से ध्यान सधेगा। फिर ध्यान तप बन जाएगा और यह तप हमें आत्मोपलब्धि तक ले

---

१. वही पृ. ६७

जाएगा। जब रंगों में बदलते बदलते भाषा से भी आगे जाकर श्वांस की लेखनी से लिखकर आगे बढ़े तभी इसकी सार्थकता है। रंगों पर ध्यान जाना ही विशेष महत्त्वपूर्ण है। मंत्र के माध्यम से, रंगों की भूमिका साधते हुए भी शब्द से आगे, अशब्द होना है, शब्दातीत होना है, भाषा से भी परे होना है।

पंच पदों से संबंधित वर्णों के साथ उपासना करते समय रंग की विशिष्टता चारों ओर बाहर-भीतर, बहिर्जगत्, और अन्तर्जगत् में क्रान्तिकारी प्रभाव हो सकेगा। तभी यह अद्‌भुत शक्ति बनकर आत्मजागरण, आत्मिकशक्ति को उजागर करने वाला साधन बन सकता है। इससे बनी साधनामूलक भूमिका पर आरूढ़ होकर विशिष्ट रंगों के माध्यम से सिद्धि की ओर आगे बढ़ना है। वास्तव में ये रंग भी साधन मात्र ही है। साधक को साधन का अवलम्बन लेकर साध्य सिद्ध करना है। साध्य स्वरूप पंचपरमेष्ठी पदों को साधना है।

यह एक अद्‌भुत बात है कि ब्रह्माण्ड में रंग व्याप्त है, वहाँ ध्वनि भी व्यास है। रंग और ध्वनियाँ परस्पर संबंधित है। हमारे जीवन में इनकी व्याप्ति है। वस्तुतः ध्वनियों के रंग होते हैं। टेलिविजन में कलर ट्रान्समिट करते हैं, उनको कलर में बदला जाता है। ध्वनियों के समान रंगों को भी तरंगों के माध्यम से भेजा जाता है।

परमेष्ठी पदों के भी अपने अपने वर्ण (रंग) हैं। आचार्यों ने इनमें निहित वर्णों को दर्शाया है। रंगों का अपना बहुत बड़ा महत्त्व है। आज तो रंग चिकित्सा (कलर थेरेपी) चिकित्सा पद्धति में अपना अनूठा स्थान रखती है। रोगों का निवारण रंगों के माध्यम से किया जा रहा है। शरीर पर कपडों का रंग, कमरे की दीवारें उसमें अमुख रंग का वल्ब, रंग का सेक देकर रोगों का निदान किया जाता है।

ज्योतिष शास्त्र में भी रंगों का महत्त्व कम नहीं। प्रत्येक ग्रह, नक्षत्रों के भी अपने रंग होते है। उग्र ग्रहों के शमन के लिए अथवा ग्रहों को उत्तेजित करने के लिए विशेष रंग का नग धारण करना, माला, वस्त्र आदि विशेष रंग का धारण करके जाप आदि अनुष्ठान करने की प्रक्रिया भी प्रचलित है।

इन मन्त्र के संदर्भ में रंग-विज्ञान को लेकर सूक्ष्म व गहराई से चिन्तन अपेक्षित है। क्योंकि यह मंत्र रंगों के माध्यम से प्रकृति से तो जुड़ा है साथ ही आध्यात्मिकता से भी जुड़ा हुआ है, रंगों के समान ही इसकी व्याप्ति है। रंगों का यह आयाम आधुनिक रंग-विज्ञान के संदर्भ में इस मंत्र की प्रकृति से संबद्ध पक्ष के रहस्य को उद्‌घाटित करने में सहायक सिद्ध हुआ है।

साधना-ध्यान सिद्धि में सहायक : रंग

साधु का रंग काला है, काले रंग में उष्णता व अग्नि दोनों है। उपाध्याय का नीला रंग है। नीला रंग भी अग्नि का है। यदि कि 'फ्लैम्स' को देखें तो वह नीली होती है। कोयला काला है, तो उसमें भी अग्नि है। नीले रंग में तो और भी तेज लौ होती है। इसका मतलब यह है कि कोयले से यानि काले रंग से साधु तेज बनता है, तो नीले रंग की तरह उपाध्याय में पहुँच जाता है। पीला रंग भी अग्नि से संबंधित है। इस प्रकार आचार्य तक को काला, नीला और पीला होना होता है। क्या धूप में कम गरमी है? यहाँ भी अग्नि होती है।

सिद्धों का रंग लाल है। क्या लाल रंग में अग्नि नहीं होती? इसमें भी अग्नि भरपूर होती है, किन्तु वह सौम्य रूप में रहती है। इसका मतलब यह है कि सारा ही ध्यान निर्जरा पर केन्द्रित है। येन केन प्रकारेण कर्मों से मुक्त हो जाएं। श्वेत रंग अर्हत् का है। लाल रंग को यदि लाल प्रकाश में देखें तो वह लाल नहीं दिखाई देता, उसमें वह श्वेत रंग ही दिखता है। तात्पर्य यह है कि श्वेत रंग लाल रंग में निहित है। वस्तुतः श्वेत में सभी रंग निहित है। इसका अर्थ यह हुआ कि अर्हत् में साधु भी मौजूद है। साधुत्व, उपाध्यायत्व और आचार्यत्व भी विद्यमान है। वास्तव में श्वेत एक स्पेक्ट्रस है। कुल मिलाकर यदि हम देखें, तो रंगों को रंग-विज्ञान को इसमें काफी सोच समझकर गंभीरता और दूरदर्शितापूर्वक चिन्तन-मनन के साथ जोड़ा गया है या ये वर्ण पंचपरमेष्ठी में जुड़ गये हैं। उनकी अपनी विशिष्ट भूमिका है। पंच परमेष्ठी के ये पंच वर्ण (रंग) शक्ति के प्रतीक बनकर हमें आत्मोपलब्धि की दिशा में प्रवृत्त कर सकते हैं।[१]

हमारे शरीर में भी सभी रंगों की उपस्थिति है। रंगों का संतुलन और संयोजन हमारे शरीर में भी हैं। यदि इनमें से एक भी रंग की कमी या अधिकता हो जाए, अनुपात या संतुलन बिगड़ने लगे तो शरीर में अशान्ति/घबराहट पैदा हो जाती है। शरीर रुग्ण भी हो सकता है। शरीर में संबंधित रंग की कमी को पूरा करने के लिए विटामिन्स लेने पड़ते हैं। रंग चिकित्सा भी इसका निदान करती है। इन संबंधित रंगों की पूर्ति पंच पदों के संबंधित रंगों से भी हो सकती है। इन रंगों की पूर्ति इन पदों के अभीक्ष्ण ध्यान से हो सकती है। इससे रंगों की पूर्ति ही नहीं होगी, बल्कि रंगों से निर्विकारता, सात्विकता भी आयेगी। हमारे शरीर में इन पदों

---

१. तीर्थंकर पृ. ६८-७७

की आराधना से रंगों का संतुलन होने के साथ निर्मलीकरण भी होता है। उनमें रहने वाली विकृतियाँ दूर होती है। इस प्रकार रंगों की शुद्धि होने से शान्ति का अनुभव होता है।

इन परमेष्ठी पदों का रंगों के माध्यम से, इनका आलंबन लेकर ध्यान एवं उपासना की जा सकती है। इन पदों को रंगों में साकार, मूर्तिमन्त किया जा सकता है। वृत्ताकार भी इनको प्रस्तुत किया जाता है। यदि ताबाल में एक छोटा सा कंकर फेंका जाये तो उसमें वृत्ताकार तरंगें उठती है, जो कि लगातार एक के बाद एक वृत्त बनाकर तट तक पहुँचती हैं। इस महामंत्र में अर्हत् पद से लगातार वृत्त पैदा होकर साधु पद तक पहुँचते हैं। ये वृत्त विराम नहीं लेते लगातार बनते चले जाते हैं। फलस्वरूप मनोयोगपूर्वक, निष्ठापूर्वक, की गई उपासना से एक शक्ति पैदा होती है। उत्पन्न हुई यह ऊर्जा मनोविकारों का, कषायों का, अशुभ वृत्तियों का शमन करती है। कर्मों की निर्जरा करती है। अशुभ कृत्यों का शुभ कृत्यों में प्रवर्तन करती है। असत् का सत् में रूपान्तरण करके व्यक्तित्व को निखारती हुई पंच पद मय स्वरूप निर्माण में परम सहायक होती है।

पंच परमेष्ठी के इन रंगों की विशेष चर्चा 'तीर्थंकर' मासिक के णमोकार मंत्र विशेषांक भाग 1-2, एवं प्रेक्षाध्यान : लेश्या ध्यान में की गई है।

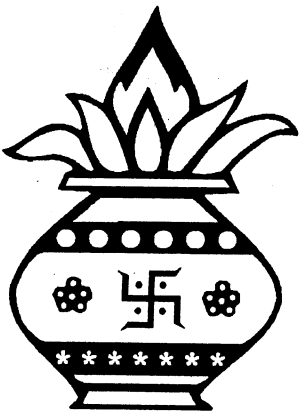

अध्याय-9

1. पंच परमेष्ठी की मंत्र रूप में प्रतिष्ठा : नमस्कार महामंत्र

- नमस्कार मंत्र की संरचना (शब्द देह)
- मंत्र की उपादेयता
- मंत्र स्वरूप में स्थापना
- मंत्र शब्द का व्युत्पत्ति परक अर्थ
- मंत्र शिरोमणि नवकार
- मंत्र की गहराई
- नवकारमंत्र का महमंत्रत्व

2. पंच परमेष्ठी की सर्वदृष्टिता

- सर्वोत्कृष्टता
- त्रिदोषशामक : त्रिगुणवर्धक : त्रिपद मंत्र
- मोक्ष और विनय का बीज
- ज्ञान-क्रिया उभय स्वरूप
- कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग का त्रिवेणी संगम
- संसार नाशक : पंच परमेष्ठी
- तत्त्वरुचि, तत्त्वबोध, तत्त्वपरिणति रूप : पंच परमेष्ठी
- प्राप्त, व्याप्त और समाप्त : पंचपरमेष्ठी

पंच परमेष्ठी की मंत्र रूप में प्रतिष्ठा-नमस्कार मंत्र

जैन परम्परा में इन पंच पदों को नमस्कार स्वरूप मंत्र रूप में इसे प्रतिष्ठित किया है। जिसे नमस्कार महामंत्र अभिधान से सन्मानित किया है। आध्यात्मिक विकास हेतु साधना के विविध आयामों में मंत्र का स्थान सर्वोपरि है। सभी मजहबों में मंत्र रूप से किसी न किसी मंत्र की प्रतिष्ठा अवश्य हुई है। चाहे हिन्दु हो या जैन अथवा बौद्ध, सभी परम्पराओं में मंत्र-पदों की स्थापना अवश्यमेव हुई है। इस प्रकार आत्मा की चैतसिक अवस्था प्राप्त करने में मंत्र को प्रथम सोपान कहा गया है। वास्तव में मंत्र वह बिन्दु है, जहाँ से आध्यात्मिक यात्रा का प्रारम्भ होता है और अंत में मंत्र स्वरूप साधक स्वयं मूर्तिमन्त हो जाता है। अर्थात् आत्म-प्रवास का प्रारम्भ या अन्त मंत्रमय होता है। हिन्दु परम्परा में जो स्थान 'गायत्री मंत्र' का है, बौद्ध परम्परा में 'त्रिशरण मंत्र' का है, जैन परम्परा में वही स्थान 'नमस्कार महामंत्र' का है।

वेद-वाक्य बारम्बार मनन करने योग्य होने से, ऋषि मुनियों के स्मरण करने से, विराट् विश्व के स्वरूप का उनको आभास हुआ। परम तत्त्व का प्रकाश मिला, अतः मंत्र कहलाये। बौद्धों की त्रिशरण पद रचना भी इस दृष्टि से मंत्र रूप में प्रतिष्ठित हुई। इसी प्रकार जैन धर्म में भी नमस्कार मंत्र को भी ख्याति प्राप्ति हुई है।

'नमस्कार महामंत्र' जो कि जैन धर्म का मंत्र शिरोमणि है, और वह नवकार मंत्र, नोकारमंत्र, पंच परमेष्ठी मंत्र, णमोक्कार मंत्र आदि अनेक अभिधानों से आख्यात है। वह प्राचीन परम्परा में था या नहीं? यदि था तो किस रूप में था? उसका स्वरूप क्या था? क्योंकि मंत्रों में जितना प्रचलन जैन परम्परा में इस मंत्र का है, उतना अन्य किसी का नहीं। यहाँ तक कि अन्य मंत्रों का आद्य भी इसी से होता है तथा प्रादुर्भाव भी प्रायः इन्हीं मंत्राक्षरों से हुआ है। अतः यह तो सर्वमान्य है कि इन मंत्राक्षरों का स्थान सर्वोपरि है।

जहाँ तक प्राचीनता का सवाल है, वहाँ परम्परागत प्रचलन तो यही है कि यह अनादि निधन एवं शाश्वत है। किन्तु इस परम्परागत मान्यता को विद्वद्गण द्वारा प्रमाणभूत स्वीकार नहीं किया गया। आगमिक दृष्टिकोण से जैनागमों में एकादश अंगों को प्राचीनतम मान्य किया गया है। उसमें 'पंचम व्याख्याप्रज्ञप्ति' (भगवती) सूत्र में[1] (वि.पू. ३-४ श.) इन पंच पदों का उल्लेख अवश्य किया गया है, किन्तु भगवती जी में इसे परमेष्ठी अभिधान से अभिहित नहीं किया गया। महानिशीथ सूत्र[2] (वि.श. ८-९) में सर्वप्रथम इसे 'पञ्चमङ्गलमहाश्रुतस्कंध' यह लाक्षणिक संज्ञा प्राप्त

---

१. भगवती सूत्र-शतक १. उद्देशक १.
२. महानिशीथ सूत्र-अध्यय. ३ सू. १३-संपा. विजयजिनेन्द्र सूरि

हुई। 'महानिशीथ' सूत्र में कथन है कि "वज्रस्वामी ने व्युच्छिन्न पञ्चमङ्गल की निर्युक्ति आदि का उद्धार करके इसे मूल सूत्र में स्थान दिया तथा उसके पश्चात् आचार्य हरिभद्र ने इसकी खंडित प्रति के आधार से इसका उद्धार किया।[१]"

इसे 'पञ्चमङ्गलमहाश्रुतस्कंध' कहने का क्या तात्पर्य है? सामान्यतया जैनागमों को श्रुत शब्द से अभिप्रेत किया जाता है। क्योंकि उसमें जो ज्ञान संग्रहित है, वह कर्णपथ के द्वारा श्रवण करके संचित किया गया है। उस श्रुत के समुदाय को 'स्कंध' कहा गया है। स्कंध से तात्पर्य समूह अथवा खण्ड भी है, तो कहीं-कही 'श्रुतस्कंध' का अर्थ द्वादशाङ्ग भी किया है। समस्त आगम ग्रन्थों को श्रुतस्कंध कहा जाने पर भी इस छोटे से सूत्र या मंत्र को 'महा' विशेषण लगाकर इसे 'महाश्रुतस्कंध' कहा गया। इसी से यह समस्त आगमों का सार है। शास्त्रों में एवं संघ में इसका असाधारण स्थान है, यह कहा जा सकता है।

इस 'नमस्कार मंत्र' में किसका निरूपण किया गया है? पंच-मंगल अर्थात् पंच पद जो कि मंगल स्वरूप है। ये पंच पद हैं-

नमो अरिहंताणं।
नमो सिद्धाणं।
नमो आयरियाणं।
नमो उवज्झायाणं।
नमो लोए सव्व साहूणं।

ये पंच पद हैं, जिनको इस सूत्र में नमस्कार किया है। चार पद चूलिका के हैं

- एसो पंच नमुक्कारो, सव्व पावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिंह, पढमं हवइ मंगलं।।

नमस्कार मंत्र की संरचना (शब्द-देह)

इन नव पदों में अर्हत् , सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पंच परमेष्ठी पदों को नमस्कार किया है। ये पाँचों परमेष्ठी ही उत्तम पुरुष हैं तथा इनके अतिरिक्त अन्य कोई उत्तम पुरुष न होने से इनको किया गया नमस्कार मंगलकारी माना गया है। यह नमस्कार समस्त पापों का प्रकृष्ट रूप से नाश करता है। अत: प्रथम अर्थात् प्रमुख मंगल है। इसमें नवपद, आठ सम्पदा तथा 68 अक्षर हैं। इसमें न किसी व्यक्ति

---

१. महानिशीथ सूत्र-अध्य. ३ सू. १४-श्री हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थ माला लाखाबावल-शान्तिपुरी (सौराष्ट्र)

विशेष को नमस्कार है और न ही किसी जाति विशेष को। वरन् यह नमस्कार गुणों पर आधारित है। यह सम्प्रदायातीत है। इस प्रकार यह देश, काल, व्यक्ति, जाति के घेरे से आबद्ध न होकर सार्वभौमिक, सार्वत्रिक एवं सार्वजनीन है। और इसीलिए इसे पंचमंगल कहने का कारण यह भी है कि जिस प्रकार तिल में तैल, कमल में मकरंद, दूध में घी, पुष्प में सुवास, तथा काष्ठ में अग्नि सर्वांशों में व्याप्त है, उसी प्रकार यह नमस्कार-सूत्र तथा उसका भाव शास्त्रों में आद्य उच्चारण किया हो अथवा न किया हो, तब भी यह समस्त शास्त्रों में व्याप्त है।[1] इस प्रकार यह 'नमस्कार मंत्र' एक आगमशास्त्रोक्त, आद्य, महत्त्वपूर्ण एवं सार्थक नामकरण है, ऐसा कहा जा सकता है।

मंत्री की उपादेयता

इस नमस्कार सूत्र को मंत्र स्वरूप कैसे प्राप्त हुआ? इस पर विचार करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि जैन धर्मदर्शन में मंत्र-तंत्र को क्या स्थान प्राप्त है? इस पर भी लक्ष दिया जाय। जैन धर्म 'आत्म सापेक्ष' धर्म है। जिसका केन्द्र बिन्दु आत्म अनुलक्षी है। आध्यात्मिक उत्क्रान्ति ही इसका परम एवं चरमलक्ष्य है। तब क्या मंत्र तंत्र को इसमें स्थान दिया गया है? जैनागमों में तंत्र शब्द का तो उल्लेख मात्र भी दृष्टिगत नहीं होता। मंत्र शब्द प्रयुक्ति दृष्टिगत तो होती है, किन्तु उसका दृष्टिकोण उपादेय तो क्या ज्ञेय भी नहीं है। मात्र हेय रूप से ही उसका मूल्यांकन किया गया है। आचाराङ्ग[2] (ई. पू. 3 शती), सूत्रकृताङ्ग[3] ((ई. पू. 3 शती), ठाणाङ्ग[4] (6 शती वि.सं.), समवायाङ्ग[5] (वि.सं. 12 शती), ज्ञाताधर्मकथाङ्ग[6] (वि. 6. शती), प्रश्न व्याकरण[7] (वि. 6 शती.) आदि अंग आगमों में, दशवैकालिक[8] (ई.पू.4 शती.) उत्तराध्ययन[9] (ई. पू. 4 शती), धवला टी[10] (8 वीं शती. शक.), रयणसार[11] (३-४ शताब्दी) , ज्ञानार्णव[12] (13 वीं. श.) आदि आगम सूत्रों में मंत्र-तंत्र को

---

१. महा नि. अ. ३ सू. १५
२. आचा. सू. २ श्रू. १ अ. २ उ. ३ सू., श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राज.)
३. सूत्रकृत. सू. १-१४. १.८.४ सू., श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राज.)
४. ठाणं. ५.३, ५.१९४, ९.२७.१ सू., श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राज.)
५. समवाय. २९.१ सू., श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राज.)
६. ज्ञाता. १.५.५५ सू., श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राज.)
७. प्रश्न व्या. २.१२, ७.१०-११ सू., श्री आगम प्रकांशन समिति, ब्यावर (राज.)
८. दश.-८.५० सू., श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राज.)
९. उत्तर. १५.८, ३६.२६४ जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर)
१०. धवला टी.-१३.५, ५, ८२.३४९.८ जैन साहित्योद्धार फंड कार्यालय, अमरावती (बरार)
११. रयणसार १०९. गुज. दि. जैन, सि. संरक्षिनी, हिम्मतनगर (गुज.) (३-४ शताब्दी)
१२. ज्ञानार्णव ४.५२-५५ : श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, आगास वाया आणंद (गुज.)

तिरस्कृत दृष्टि से देखा है। यहाँ तक कि इसकी साधना को भी 'पापश्रुतप्रसङ्ग' कहा है। साधक चाहे भिक्षु हो अथवा भिक्षुणी, उसे मंत्र-तंत्र से दूर रहने का उपदेश दिया गया है। हो सकता है वशीकरण, उच्चाटन, मारण, आकर्षण आदि जो मंत्र की विकृत अवस्था है, उसका प्रचलन होने से निषेध किया गया हो।

यहाँ एक बार पर पुनः ध्यान देना है कि जहाँ इन आगमों में मंत्र साधना का निषेध किया है, वहाँ भगवती सूत्र[१], ज्ञाता धर्मकथाङ्ग[२], उत्तराध्ययन[३], दशवैकालिक[४], गोम्मटसार[५] ((जीव काण्ड) (वि. 11 श.) में जहाँ-जहाँ गणधरों एवं स्थविरों के गुण-वर्णन किये हैं, उसमें उनको वहाँ 'मंत्र-प्रधान' शब्द से भी विभूषित किया है। साथ ही मंत्र साधना को उपादेय भी मान्य किया है। इस प्रकार दोनों में विरोध उपस्थित होता है। यहाँ तात्पर्य यह है कि मंत्रसाधना में उन मंत्रादि का निषेध किया गया है, जो विकृति स्वरूप में हो। जिसमें आत्म-साधन न हो, हिंसादि प्रधान हो। दूसरी ओर आगमों के अन्तर्गत बारहवाँ अंग 'दृष्टिवाद' जो कि व्युच्छिन्न (नष्ट) हो गया है, उसमें चतुर्दश पूर्वों का भी समावेश होता है। चूंकि ये भी काल के प्रभाव से विच्छिन्न हो गये हैं। इनमें से दसवाँ पूर्व[६] जो कि 'विद्या-प्रवाद' नामक था, उसमें मंत्र, तंत्र, यंत्र और विद्याओं की प्रचुरता से रचना की गई थी। साथ ही हजारों वर्षों से जैनाचार्यों के द्वारा मंत्रशास्त्र की रचना, उपासना होती चली आई है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्रसंगोपात्त जैन शासन (धर्म) की रक्षा के लिए लाभालाभ को लक्ष्य में रखकर अनेकानेक आचार्यों ने विशिष्ट मंत्रोपासना की है। आर्य स्थूलभद्र (वि.पू. 4 शतीं) वज्र स्वामी (वि. 2 शती), आर्य खपुटाचार्य (वि.श.1.) आर्य मंगु (वि.पू. 1 शती), पादलिप्त सूरि (वि. शती 3), सिद्धसेन दिवाकर (वि. शती 5) , मानतुंग सूरि (वि.शती 7), हरिभद्र सूरि (वि.शती 8), मानदेवसूरि (वि. शती 9), नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरि (वि.शती 11), कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य (वि. शती 12), जिनदत्तसूरि (वि.शती 12), वादिवेताल शांतिसूरि (वि. 11 शती),

---

१. भगवती २.९५

२. ज्ञाता. १.१.४

३. उत्तरा. २०.२७

४. दश. ९.१.११

५. गोम्मट, १८४.४१९/१८, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली

६. समवाय. १४.२ नंदी सूत्री १०९, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राज.)

जिनप्रभसूरि (वि. शती 14), आदि अनेक प्राचनी तथा अर्वाचीन आचार्य अनुभवी समर्थ मंत्रवादी थे। आर्य स्थूलभद्र जैसे स्थविर को तो बिना कारण, अनावश्यक मंत्र-विद्या का प्रयोग करने से दण्ड दिया गया। यही कारण है कि सख्त प्रतिबंध होने से अन्य धर्मों की भांति जैनधर्म में इस मंत्रवाद से आचारमार्ग में विकृति का पदार्पण न हो सका। दूसरी ओर जहाँ ऐहिक फल की आशा से मंत्रोपासना करते, वहाँ जैनों का लक्ष्य एकमात्र कर्म-निर्जरा (नाश) था। इसी कारण विशेष रूप से शाक्त लोगों के मंत्रवाद से जैनों के मंत्र तथा विद्या सर्वथा पवित्र एवं निर्दोष विधिसाध्य होने से भी मंत्रवाद आचारों में विकृति उत्पन्न नहीं कर सका।

मंत्र स्वरूप स्थापना

नमस्कार सूत्र ने मंत्रस्वरूप कैसे धारण किया? इस मंत्र को अर्थ रूप से अरहन्त देव द्वारा प्ररूपित किया गया है तथा इसे शब्द-देह[1] में गणधर भगवन्तों ने गुम्फित किया है। इसकी रचना सारगर्भित, सुन्दर, संदेहरहित है एवं आप्तवाणी होने से इसे सूत्र कहा गया एवं निरन्तर मनन करने योग्य होने से इसने मंत्र स्वरूप भी धारण किया।

इस नमस्कार सूत्र को जैन शास्त्रों में अनेक अभिधानों से अलंकृत किया गया है। यथा-पंचमंगल, पंचमंगलमहाश्रुतस्कंध, पंच नमस्कार, परमेष्ठी नमस्कार, पंच गुरु नमस्कार, पंच गुरु नमस्कृति, जिन नमस्कार, नमुक्कार, नमोक्कार, पंचनमोक्कार, नवकार, नोकार आदि।

क्या इस नमस्कार मंत्र की गणना मंत्र की कोटि में हो सकती है? इस शंका का समाधान करते हुए यह जानना आवश्यक है कि मंत्र से तात्पर्य क्या है? मंत्र किसे कहा जाये?

"मंत्र एक अक्षर या अक्षर समूह है अथवा एक शब्द या शब्द श्रृंखला हो सकता है।" तंत्र शास्त्र में प्रत्येक ध्वनि (वर्ण) किसी देवता विशेष के ध्वनि-स्वरूप या किसी देवता के तंत्र से सम्बन्धित माना गया है, जिसका प्रतिनिधित्व वर्ण के द्वारा होता है। इसलिए विशेष वर्णों या अक्षरों का संयोग, विशेष देवताओं के ध्वनि स्वरूप माना गया है। ऋषियों ने भी अपनी दिव्य दृष्टि से देखा था कि देवताओं के ध्वनि प्रतीक विशिष्ट रंग भी होते हैं। प्रत्येक मंत्र अपना एक असाधारण व्यक्तित्व भी रखता है। मंत्र को दोहराना या उस पर एकाग्र होना सत्य

---

१. विशेषा. भा. ११६१ आवश्यक निर्युक्ति गा. १९२१

शक्ति देवता को तपस् के द्वारा प्रकट कर देना है। इससे विमुक्त हुई शक्ति को आध्यात्मिक या भौतिक लक्ष्यों की प्राप्ति में लगाया जा सकता है। यह है उस मंत्र का स्वरूप जो गुरु से शिष्य की शक्ति और ज्ञान के प्रेषण का वाहक है। परन्तु यह उल्लेखनीय है कि मानव वाणी के रूप में तथा मानवीय स्तर पर बिना कोई विशेष प्रभाव पैदा किये किसी भी अन्य शब्द, साधारण शब्द मात्र की तरह यह बना रह सकता है, या उसी की तरह प्रमाणित हो सकता है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि यह अपने आत्मा का काम करने वाले सत्य की आध्यात्मिक शक्ति से अनुप्राणित होता है। मंत्र भी अनिवार्य रूप से अपने प्रथम दृष्टा ऋषि-मुनि की शक्ति से आविष्ट रहते हैं, जिन्होंने इसे अपनी आत्मा में रखा और अपनी आत्मा की पूर्ण शक्ति के साथ इसे स्वरूप प्रदान किया। और फिर अपनी आत्मशक्ति से पूरित करके आगे आने वाली पीढ़ी तक पहुँचाया।[१]

उपर्युक्त मंत्र-स्वरूप की व्याख्या की अपेक्षा से नमस्कार-मंत्र का शब्द संयोजन विशिष्ट दिव्य पुरुषों से ही संलग्न है। जिस प्रकार औषधियों को भिन्न-भिन्न अनुपान के साथ लेने पर, भिन्न-भिन्न प्रकार से मिश्रण करने पर विविध सामर्थ्य उत्पन्न करते हैं। उसी प्रकार मंत्राक्षर भी विविध मुद्रा, न्यास, मण्डल तथा (वर्ण) आदि के प्रयोग से विविध प्रकार की संयोजना करने से अनेक प्रकार के अद्‌भुत चमत्कारी कार्य कर सकते है। अर्हत् आदि पाँचों पदों का शब्द संयोग एक दिव्य शक्ति का प्रगटीकरण चैतसिक भूमिका में करते हैं। ये अक्षर-विन्यास पीढ़ी परम्परागत रूप से तो प्राप्त हुआ ही है, तथापि इसका आधान उपधान तप के माध्यम से कराया जाता है। इसके अतिरिक्त जैन आचार-क्रिया प्रद्धति में यथा आचार्य प्रद प्रदान, प्रतिष्ठा, अंजनशलाका आदि विधियों में अनिवार्य रूप से मंत्राक्षरों की गुप्तता रखी जाती है।

इस मंत्र में विशिष्ट वर्ण संयोजना के साथ ही साथ पंच पदों के विशिष्ट रंग भी निर्धारित है, क्रमशः श्वेत, रक्त, पीत, नील एवं कृष्ण रंगों से आविष्ट ये पंच पद हैं। इन पदों के रंग के अनुरूप भी ध्यान करने की पद्धति प्रचलित है।

मंत्र शब्द का व्युत्पत्ति परक अर्थ

चमत्कारिक शक्तियों में मंत्र एवं विद्या इन दो शब्दों का प्रयोग किया जाता है। जैन प्रवचन (सिद्धान्त) में विद्या के अन्तर्गत मंत्र का संभवतः समावेश किया गया है। जैसा कि पूर्वों में 'विद्या प्रवाद' के अन्तर्गत मंत्रों का उल्लेख किया है।

---

१. पुंडलीक, पं. माधव : तांत्रिक साधना पृ. २४

व्याकरण दिवादिगण के ज्ञान-बोध अर्थ में रहे 'मन्' धातु के 'त्र' प्रत्यय से निष्पन्न मंत्र शब्द की व्याख्या तथा व्युत्पत्ति विविध प्रकार से हो सकती है। 'मननात् त्रायते यस्मात् तस्मान्मन्त्रः प्रकीर्तितः'- मनन करने पर जो अक्षर अपना रक्षण करते हैं, उन अक्षरों को मंत्र कहा जाता है। पूर्वाचार्यों एवं मंत्रविदों द्वारा किए गये विधान एवं अर्थ निम्न हैं-

1. जो पुरुष देवता से अधिष्ठित हो।[१]

2. जो पाठ सिद्ध हो।[२]

3. विशिष्ट अक्षरों की रचना विशेष जो देवों से अधिष्ठित हो।[३]

4. जिसका मनन करने से त्राण-रक्षण होता हो।[४]

5. जिसमें उत्कृष्ट व्यक्तियों अथवा देव देवियों आदि का आदर सत्कार करने में आया हो, वह मंत्र है।

6. योगी पुरुष अपनी दिव्य योग दृष्टि से सामर्थ्य का साक्षात्कार करके विविध कार्यों के लिए जो विविध अक्षरों की योजना करते हैं, उनको मंत्राक्षर कहा जाता है।

इन पाँचों ही अर्थों का घटन नमस्कार मंत्र में होने से यह मंत्र-योग्यता धारण करता है। मंत्र व्याकरण[५], ऋग्वेद[६], मनुस्मृति[७], वाराही तन्त्र, रघुवंश[८], श्रीमद् भागवत[९], सिद्धान्त कौमुदी[१०], बृहन्नीलतंत्र[११], महाभारत[१२], ब्रह्मवैवर्त[१३] आदि ग्रन्थ मंत्र योग्यता को प्रकट करने वाले हैं। नमस्कारमंत्र की रचना सिद्ध-पुरुषों के द्वारा होने से यह सिद्ध मंत्र भी है तथा परम उच्चकोटि का मंत्र होने से ही इसे वरमंत्र, परममंत्र या महामंत्र भी कहा गया है। श्री हरिभद्रसूरिजी ने 'योगबिन्दु' के पूर्व-सेवा अधिकार में इसे 'मृत्युञ्जयमंत्र' कहकर सम्मानित किया है।[१४]

---

१. नमस्कार निर्युक्ति
२. पंचकल्प भाष्य १, धवला. ३ धि., पंचाशक १ कल्प, निशीध चूर्णि)
३. पंचाशक टी १३ वि
४. तंत्र शास्त्र, पिंगिला मत, षोडशक ७ विव., रुद्रयामल, ललिता सहस्र
५. मंत्र व्याकरण
६. ऋग्वेद ६७.४.७४ : विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर
७. मनुस्मृति ७.२१७, २.१६ ८. रघुवंश १.६१ : निर्णयसागर प्रेस, बम्बई।
९. श्रीमद् भागवत ३.१.१२ गीताप्रेस गोरखपुर १०. सिद्धान्त कौमुदी ५.३.७
११. बृहन्नीलतन्त्र २ पटल १२. महाभारत ५.१९३.५ : जोशी शंकर नरहर, पुण्यपत्तन
१३. ब्रह्मवैवर्तपुराण गणपति खण्ड ४४ अध्यायः मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
१४. योगबिन्दु ३४ : जैन ग्रन्थ प्रकाशन सभा, अहमदाबाद

'मंत्र व्याकरण' में मंत्रों के तीन प्रकार उल्लिखित है-

1. बीज मंत्र

2. मंत्र

3. माला मंत्र

जो मंत्र एक अक्षर से 9 अक्षर तक होता है उसे बीज मंत्र, जो दस से बीस अक्षर का हो, उसे मंत्र तथा जो बीस अधिक अक्षरों से युक्त हो, वह मालामंत्र कहलाता है। इस अपेक्षा से नमस्कार मंत्र में साधिक बीस अक्षर होने से इसकी गणना मालामंत्र की कोटि में आती है। किन्तु स्पष्टता आवश्यक यह है कि माला मंत्र विशेष रूप से वृद्धावस्था में फलदायी होते हैं। जबकि यह मालामंत्र आबालवृद्ध सभी अवस्थाओं में फलदायी है।

यहाँ एक शंका होती है कि मंत्र ॐ ह्रीं आदि बीजाक्षर संयुक्त होते हैं, किन्तु इस नमस्कार मंत्र में इन बीजाक्षरों का अभाव है, अतः यह मंत्र कोटि में स्थान नहीं ले सकता। इसका समाधान यह है कि यह सत्य है कि इस मंत्र में बीजाक्षरों का अभाव है, किन्तु जैन मान्यतानुसार ॐ आदि बीजाक्षरों का निर्माण भी इन पंच पदों से होता है। जिस प्रकार हिन्दु परम्परा यह स्वीकारती है कि ब्रह्मा + विष्णु + महेश के संयोजन से ॐ की निर्मित होती है। उसी प्रकार अरहन्त का अ, सिद्ध अर्थात् अशरीरी का अ, आचार्य का आ, उपाध्याय का उ तथा साधु अर्थात् मुनि का म अर्थात् अ अ आ उ म ओम्। इस प्रकार इन पदों से ही ॐ निष्पन्न होता है। जब इन पंच-पदों से ही बीजाक्षरों की निष्पत्ति होती है तब उसमें बीजाक्षरों का प्रयोग करना आवश्यक नहीं है। तथापि आवश्यक न होने पर भी जैनाचार्यों ने इन मंत्राक्षरों के साथ बीजाक्षर संलग्न करके अनेकानेक मंत्ररचना की है। यथा ॐ ह्रीं अर्हत् नमः। ॐ ह्रीं ऐं नमः। ॐ ह्रीं नमो अरहन्ताणं। ॐ नमो सिद्धम् आदि।

उपर्युक्त सभी उद्धरणों से यह सिद्ध हो जाता है कि 'नमस्कार महामंत्र' मंत्र रूप से लब्ध प्रतिष्ठ है। इसका माहात्म्य अत्यधिक होने से इस पर शताधिक रचना होने पर भी अद्यापि ग्रन्थनिर्माण होते जा रहे हैं। यद्यपि सभी मंत्रों में यह महामंत्र अधिकांशतः किसी न किसी रूप में विद्यमान है। तथापि अन्य धर्मो की तांत्रिक साधना के अनुसरण में पश्चात्कालीन जैनों में भी कितनेक आचार्यों ने दुन्यवी कार्यों-लौकिक तथा लोकोत्तर कार्यों के लिए भी मंत्र का विनियोग किया हो, ऐसे उदारण प्राप्त होते हैं और मध्यकाल में तो जैनों का अलग ही मंत्रविज्ञान

रचे जाने का एहसास होता है। नमस्कार मंत्र के अतिरिक्त अन्य अनेक मंत्र भी दृष्टिगत होते हैं। किन्तु सर्वाधिक प्रचार इस महामंत्र का है। सभी जैन सम्प्रदाय एकमत से इसे स्वीकारते हैं। साम्प्रदायिक मतभेद होने के बावजूद भी नमस्कार महामंत्र की महिमा अक्षुण्ण है। यहाँ तक कि जप-माला को भी नवकारवाली अथवा नोकरवाली कहा जाता है। तथा सूर्योदय के पश्चात् जब प्रथम बार आहार ग्रहण किया जाता है, तब उसका संकल्प सूत्र का भी 'नमुक्कार सहियं'से प्रत्याख्यान किया जाता है। पूजा विधान, ध्यान, जाप आदि सभी आचारों में भी इसका ही प्राधान्य रहता है। सर्व प्रसंगों में इसका स्मरण मंगलमय माना गया है। यह मंत्र सर्व पापों का नाश करने की अद्भुत शक्ति सम्पन्न है, तब इहलौकिक-पारलौकिक विघ्नों से रक्षण कर अनुपम सुख सम्पत्ति प्रदान करता है। इस प्रकार यह नमस्कार मंत्र जैन धर्म की आधारशिला तो है ही, साथ ही अन्तिम साध्य भी ये ही पंच पद है।

वास्तव में जैन धर्म में मंत्र स्मरण साधना की एक विद्या ही मानी गई है। साध्य की सिद्धि में आत्यन्तिक साधना रूप इसे मान्य न करके वीतरागत्व, कषायजय तथा समता साधना को प्रमुख रूप से अंगीकार किया है। मंत्र स्मरण को मात्र मन की एकाग्रता, ध्यान की स्थिरता में सहायक भूत स्वीकार किया है। आत्मा की शुद्धावस्था की सिद्धि में इसे प्राधान्य न मानकर गौण मान्य किया है। पंच पदों के स्मरण तक ही इति श्री न मानकर पंचपदमय जीवनयापन ही यहाँ प्रधान लक्ष्य है।

मंत्र शिरोमणि नवकार

मन्त्र वही है जिसके स्मरण से कार्य सिद्धि हो। मन्त्र अक्षर या अक्षरों का समूह है, अर्थात् अक्षर या वर्ण समूह से मन्त्र बनते हैं। प्रत्येक अक्षर मंत्र-बीज युक्त होता है। इस दृष्टि से अक्षर-रहित मन्त्र का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। 'नास्त्यनक्षरं मन्त्रम्'-यह सूत्र इसी भाव का दर्शक है। अक्षर अथवा अक्षर समूह (शब्द) में अपरिमेय शक्ति विद्यमान रहती है। जिस प्रकार शब्दों के विभिन्न ध्वन्यात्मक प्रभाव हैं, उसी प्रकार वर्ण और वर्ण समूहात्मक शब्दों के महत्त्व प्रभाव भी विभिन्न अनुभव क्षेत्रों में प्रत्यक्ष होते पाये गये हैं अतः शब्द शक्ति अचिन्त्य है। इसके यथोचित प्रयोग एवं समन्वय के सम्यक् ज्ञाता दुर्लभ है।

मन्त्र में प्रयोजित अक्षर, वर्ण अथवा उनके समूहात्मक शब्दों का संयोजन मात्र ही कार्य-साधक शक्ति हो, सो बात नहीं। इसमें समानान्तर अन्य अनेक

अप्रकट शक्तियाँ भी कार्य करती हैं। वे हैं- मंत्र योजक के मनोभाव, लोकोपकारक वृत्ति, तपोबल तथा मन्त्र साधक का मन्त्र शक्ति के प्रति अखण्ड विश्वास, निश्छल सद्भाव और निर्मल सदाशयता। परमेष्ठी-नमस्कार में उक्त सभी विशेषताओं का समवेत समायोजन होने के कारण इसकी शक्ति एवं शुचिता अनुपम है।

जो मन का त्राण करे वह है महामन्त्र। जगत्व्यापी अशुभ विचारों के प्रभाव से मन को नियन्त्रित-सुरक्षित रखने की शक्ति परमेष्ठी नमस्कार में होने से वह महामन्त्र है, क्योंकि इससे किसी का अनिष्ट न होकर सभी का इष्ट और कल्याण होता है। इस महामन्त्र के चार प्रसिद्ध नाम है।

1. आगमिक-श्री पंचमंगल महाश्रुतस्कंध, जो महानिशीथ आदि आगम शास्त्रों में मिलता है।

2. सैद्धान्तिक- श्री पंच परमेष्ठी-नमस्कार महामन्त्र: जो आगमेतर ग्रन्थों में पाया जाता है।

3. व्यावहारिक-श्री नमस्कार महामंत्र, जो आराधकों द्वारा और लेखकों द्वारा संबोधित है।

4. रूढ़- श्री नवकार मंत्र, जो नवपद युक्त होने से सर्वसामान्य द्वारा लोकवाणी में उच्चरित है।

साधारणतया मन्त्र, शक्ति, वशीकरण, मारण, उच्चाटन, आकर्षण, स्तंभन, संमोहन, विद्वेषण आदि लौकिक प्रयोजनार्थ की जाती है, जिससे निर्धारित कार्य साधन में अवरोधक शक्तियों का वशीकरण आदि किया जा सके। ऐसे मन्त्रों की सफलता का आधार मन्त्र साधक की शक्ति और भावना पर निर्भर करता है। यदि साधक की भावनाएँ शुद्ध नहीं है और प्रतिपक्षी का प्रारब्ध उच्च है तो मन्त्र व्यर्थ जाता है। यदि साधक शुद्ध और सच्ची भावना युक्त हो, किन्तु मन्त्र अशुद्ध है अथवा मन्त्र शुद्ध हो किन्तु उच्चारण या विधि अशुद्ध है, या उच्चारण-विधि शुद्ध हो, किन्तु साधक का चित्त अस्थिर है, या वह दृढ़ श्रद्धावान् नहीं है तो भी मन्त्र विफल हो सकता है।

नवकार महामंत्र सभी मंत्रों में इस दृष्टि से भी श्रेष्ठतम है कि उसकी शक्ति अपरिमेय है। इसके मुख्य कारण है-उसके सृष्टा लोक श्रेष्ठ महापुरुष है। उसका प्रतिपादन अर्हत् तीर्थङ्करों द्वारा हुआ है और उसकी सूत्रबद्धता गणधर भगवन्तों द्वारा

हुई है। उसका वाच्यार्थ लोकोत्तर-श्रेष्ठतम महर्षियों के प्रणाम-स्वरूप है। अर्थ दृष्टि से यह सरल है, और इसकी रचना क्लिष्ठता-रहित एवं उच्चारण में सर्वथा स्पष्ट है। छोटे-बड़े सभी साक्षर इसका पाठ-जाप आसानी से कर सकते हैं। वे इसका शब्दार्थ भावार्थ भी सहज ही हृदयंगम कर सकते हैं। इसकी साधना-जाप या स्मरण प्रायः निःस्पृह सम्यग्दृष्टि एवं उत्तम आत्मार्थी व्यक्ति ही करते हैं।

फल प्राप्ति हेतु साधक को अन्य मन्त्रों से जहाँ कामनाएँ करनी पड़ती है, वहाँ नवकार महामन्त्र का जाप निष्काम करने से साधक की समस्त कामनाएँ स्वतः पूर्ण हो जाती हैं। नमस्कार महामंत्र की यह अद्‌भुत फलदात्री शक्ति उसके प्रयोजकों की अपूर्व निष्काम भावनाओं की परम प्रतीक है। अन्य मन्त्रों द्वारा जिन लौकिक देवों की आराधना या आह्वान किया जाता है वे सभी सरागी, संसारी और स्पृहायुक्त हैं। जबकि नवकार मन्त्र द्वारा जिन महात्माओं की आराधना की जाती है, वे सभी आत्महितैषी, वीतरागी, निःस्पृह और परम करुणा-सागर महर्षिगण है। जिनकी अचिन्त्य शक्तिमत्ता और आत्मतेज के समक्ष लौकिक सरागी देवों की सत्ता भी सर्वथा नगण्य है।

अन्य मन्त्रों में लौकिक देव अधिष्ठाता पदधारी होते हैं, जिनकी शक्ति सीमित हुआ करती है। उनके जाप से जब मन्त्र का स्वामी देवता वशीभूत होता है, तभी वह मन्त्र सिद्ध हुआ माना जाता है। जबकि पंच परमेष्ठी मय नवकार मंत्र के स्वामी होने की शक्ति किसी भी लौकिक देव में नहीं होती। बल्कि लौकिक देव उल्टे महाप्रभाविक नमस्कार मन्त्रस्थित पंच परमेष्ठी के सेवक बने रहते हैं, तथा इससे भी अधिक वे लौकिक देवगण उन आराधकों के जो नवकार मंत्र की आराधना करते हैं, उनकी पंच परमेष्ठी की भक्ति से आकृष्ट होकर वे देव उनके भी सेवक बनकर रहते हैं। इससे सिद्ध है कि नमस्कार किसी देव की शक्ति से शक्तिशाली नहीं, किन्तु स्वतः ही ऐसा अचिन्त्य शक्ति सम्पन्न है कि देवों को भी उनके वशवर्ती होना पड़ता है।

अन्य मन्त्रों से लाभ-हानि, भलाई-बुराई आदि उभय प्रयोजन साधे जाने के विधान है किन्तु नमस्कार महामंत्र से किसी का कभी भी अशुभ न होकर सभी का शुभ होता है। वह सभी के लिए सदैव परम इष्टकारक है। यह इसकी सर्वोपरि विशिष्टता है।

इस महामन्त्र की अनुपम शुचिता है। जहाँ अन्य मन्त्र लौकिक साधन भाव-प्रदाता-प्रवण होने से सामायिक-रत अथवा पौषध या समकिती आदि विरतिधर

के लिए न जपनीय है न स्मरणीय ही। वहाँ इस महामन्त्र का पवित्र जाप सामायिक आदि विरतिधर के अतिरिक्त साधुमुनि या गृहस्थ बालक, स्त्री सभी के निःशंक कर सकने के लिए विहित है।

इन सभी विशिष्टताओं के कारण श्री नवकार महामन्त्र सभी मंत्रों का शिरोमणि है। इसकी साधना सर्वथा निरापद और आबाल-वृद्ध सभी को सहजसुलभ है। अधमाधम पुरुष स्त्री या तिर्यञ्च सभी इस महामंत्र के श्रवण मात्र से सद्गति को प्राप्त हुए हैं व होते हैं। ऐसा विशिष्ट शक्तिसम्पन्न और अद्भुत प्रभावी होते हुए भी इस मन्त्रराज का अनुपम सारल्य इसका सर्वजनीन मुख्य आकर्षण है।

मंत्र की गहराई

मंत्र केवल किसी शब्द के अर्थ तक ही सीमित नहीं रहते, वरन् उससे काफी आगे निकल आते हैं। अर्थ के आगे शब्द की जो शक्ति है, वह भाषा की सामान्य परिधि में प्रायः नहीं आती। जब हम किसी शब्द का इस्तेमाल सतह पर करते हैं तब हम उसका बहुत ही मामूली, कामचलाऊ उपयोग करते हैं। चिन्तन शब्द का गहरा ब्रह्म है, किन्तु इसके आगे भी एक तल है अनुभूति का। शब्द जब अभिव्यक्ति से हटकर अनुभूति होता है, तभी उसका सम्यक्त्व प्रकट होता है अपने पूरे तारुण्य पर।

मंत्र की परिभाषा देतु हुए लोग उसे मात्र शब्द या शब्द समूह कहते हैं और मानते हैं यह शब्द या शब्दकुल इस तरह से अनुसंधान पर है कि वह अपने लक्ष्य के अलावा कहीं और जा ही नहीं सकता। जब हम शब्द को इस तरह साध लेते हैं कि वह अस्खलित मुद्रा में सीधे लक्ष्य पर होता है, तब उसे मन्त्र कहा जाता है।

मन्त्र में शब्द मात्र ही नहीं होता वरन् वह हमारी आत्मिक गहराईयों से स्वयं की गहराईयों को जोड़ता है। इस प्रकार शब्द की और साधक की गहराईयों के तादात्म्य का नाम मंत्र है। सिर्फ मंत्र कह देने मात्र से कोई शब्द-समूह मंत्र नहीं होता, वह घटित होता है तब, जब साधक की गहराईयाँ उससे जुड़ जाती है। विद्युतधारा जब तक किसी आसन से नहीं जुड़ती, अपनी शक्ति को प्रकट करने में असमर्थ बनी रहती है। किन्तु जैसे ही उसे कोई आधार प्राप्त होता है अर्थात् बल्ब, हीटर, पंखा या अन्य कोई यन्त्र, वैसे ही उसकी सार्थकता बनती है और वह तुरन्त प्रकट हो जाती है। जैसे कोई स्विच काम करता है दो स्थितियों या धाराओं को एकप्राण करने में, ठीक उसी प्रकार मंत्र भी सेतु का काम करते हैं।

यन्त्र जिस तरह किसी शक्ति के आसन/आधार बनते हैं, ठीक उसी तरह मंत्र को प्रकट होने के लिए भी कोई यन्त्र/आधार अथवा सम्बल चाहिये। योग से यन्त्र सुलभ होता है और फिर उस रास्ते से मन्त्र प्रकट होता है।

इसी प्रकार यह नमस्कार महामंत्र मात्र शब्द समूह ही नहीं है, अर्थ से पार भी इसका अस्तित्व है। अर्हत् या नमो शब्द एवं उसका अर्थ तो है ही, किन्तु शब्द और अर्थ से आगे भी है। इसका गाम्भीर्य इतना है कि हम उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। शब्द की सम्यक् गहराईयाँ उसकी साधना में से प्रकट होती है। जब वह साधना हमारी निज की गहराईयों से जुड़ जाती है तब कोई स्पष्ट घटना घटित होती है, जिसे हम कहते है अलौकिक, अप्रतिम। किन्तु वह होती है अत्यन्त सहज-स्वाभाविक है। मन्त्र जब अस्वाभाविक होता है तब लौकिक कहलाता है, किन्तु अपने स्वभाव में वह अलौकिक ही होता है।

नमस्कार महामंत्र को चमत्कार के तल से ऊपर जो खोजते हैं, वे मोक्ष के साधक होते हैं। साधनाकाल में कई चमत्कार घटित होते हैं जिनसे बिन्धकर कच्ची मनोभूमिका पर खड़े साधक अपनी यात्रा तोड़ बैठते हैं, किन्तु जो यह मानते हैं कि चमत्कार साधना-यात्रा के मामूली पड़ाव हैं, वे अपनी यात्रा को अबाध रखते हैं और मंत्र को अपनी मूल साधना का एक सोपान समझते हैं। वे मन्त्र के माध्यम से सतत स्वात्म गहराईयों में उतरते जाते हैं और 'शब्द के भीतर सुस्थित शब्द' उन्हें आहिस्ता-आहिस्ता वहाँ से ले जाता है, जहाँ आत्मा की अनन्त शक्तियों के प्रकट होने की भरपूर संभावनाएँ रहती है। वस्तुतः जब आत्मा निरम्बरा/चिदम्बरा/ज्ञानाम्बरा हो जाती है, तब होती है मंत्र की चरम अभिव्यक्ति। मन्त्र अपनी गहराईयों में स्वानुभूति है और स्वानुभव से बड़ा कोई मन्त्र नहीं है। जानें हम कि मन्त्र शक्ति है, यंत्र आधार है और तन्त्र विस्तार है। मन्त्र बीज है, यन्त्र फल है/देह है, तन्त्र जड़ से अन्तिम पत्ते तक का फैलाव है। वस्तुतः ये तीनों अलग-अलग अस्तित्व नहीं है, एक हैं, परस्पर पूरक है। महामन्त्र नमस्कार आध्यात्मिक साधना का एक सीढ़ी-दर सीढ़ी कार्यक्रम है। इसका एक एक वर्ण मन्त्र है, कुल मिलाकर यह महामन्त्र है। इसका ओप/इसकी शक्ति अद्‌भुत है, विलक्षण है।

नवकार मंत्र का महामन्त्रत्व

महामंत्र वह है, जिसकी साधना से-

(1) साधक के विकल्प शान्त हों।

(2) उसकी मानसिक, आन्तरिक एवं बाह्य शक्तियों का जागरण हो।

(3) आत्मा का साक्षात्कार हो।

(4) आत्मिक एवं मानसिक ऊर्जा में वृद्धि हो।

(5) साधक की दृष्टि बाह्याभिमुखी से अन्तर्मुखी हो।

(6) कषायों-आवेगों-संवेगों की तीव्रता में कमी हो, कषाय क्षीण हो।

(7) वीतरागता तथा समताभाव का विकास हो।

(8) मानव शरीर के शक्ति केन्द्रों, चैतन्य केन्द्रों-चक्रों में प्राण-शक्ति की सघनता होती है, वहीं से वीर्य-शक्ति प्रस्फुटित होती है। महामन्त्र वीर्यवान मंत्र होता है, अतः उससे वीर्य-शक्ति प्रस्फुटित हो जाती है।

(9) साधक की संकल्पशक्ति दृढ़ होती है।

(10) बाह्य पदार्थों के प्रति साधक की मूर्च्छा टूटती है।

(11) अध्यात्म दोषों-राग द्वेष तथा आवरण, विकार और अन्तराय का नाश होता है। साथ ही मानसिक एवं शारीरिक रोग भी उपशांत होकर साधक शारीरिक और मानसिक रूप से भी स्वस्थ रहता है।

इन कसौटियों के अतिरिक्त महामंत्र की साधना के विशिष्ट फल अथवा साधक को उपलब्धियाँ भी होती है-

(1) साधक की इच्छाओं की तृप्ति नहीं, अपितु उनका विसर्जन व समापन होता है।

(2) सुख दुःख की पूर्वकालीन मान्यताएँ परिवर्तित हो जाती है, अर्थात् सुख दुःख के बारे में उसका दृष्टिकोण समीचीन बनता है।

(3) साधक की अधोमुखी (संसाराभिमुखी) वृत्तियाँ उर्ध्वमुखी आत्माभिमुखी बनती है।

(4) मोक्ष मार्ग की उपलब्धि होती है। साथ ही साधक के अन्तर में उस मार्ग पर आगे बढ़ने की अन्तः स्फुरणा जागृत होती है।

(5) साधक की आत्म शक्ति (चैतन्यशक्ति) आनन्द और वीर्य शक्ति का समन्वित एवं एक साथ (Simultaneous) विकास होता है।

नवकार मंत्र की साधना द्वारा ये सब उपलब्धियाँ साधक को प्राप्त होती है, अतः नवकार मंत्र निश्चित ही महामंत्र है।

2. पंच परमेष्ठी की सर्वदृष्टिता

1. मंत्रशास्त्र की दृष्टि से यह सर्व पाप रूपी विष का नाशक है।

2. योगशास्त्र की दृष्टि से पदस्थ ध्यान के लिए इसमें परम पवित्र पदों का अवलम्बन है।

3. आगम साहित्य की दृष्टि से यह सर्व श्रुताभ्यन्तर है तथा चूलिका सहित वह महाश्रुतस्कंध की उपमा को प्राप्त है।

4. कर्मसाहित्य की दृष्टि से एक-एक अक्षर की प्राप्ति के लिए अनंतानंत कर्मस्पर्धकों का निवास अपेक्षित है एवं एक-एक अक्षर के उच्चारण से भी अनन्त कर्मरसाणुओं का विगम होता है।

5. ऐहिक दृष्टि से इस जन्म में प्रशस्त अर्थ, काम और आरोग्य की प्राप्ति तथा उसके योग से चित की प्रसन्नता प्राप्त होती है।

6. परलोक की दृष्टि से मुक्ति तथा जब तक मुक्ति न मिले तब तक उत्तम देवलोक एवं उत्तम मनुष्य कुल की प्राप्ति कराता है। परिणामस्वरूप जीव को थोड़े ही काल में बोधि, समाधि और सिद्धि मिलती है।

7. द्रव्यानुयोग की दृष्टि से पहले दो पद अपनी आत्मा का ही शुद्ध स्वरूप है और पश्चात् तीन पद शुद्ध स्वरूप की साधक अवस्था के शुद्ध प्रतीक रूप है।

8. चरणकरणानुयोग की दृष्टि से साधु और श्रावक की समाचारी के पालन में मंगल के लिए और विघ्ननिवारण के लिए उसका बारम्बार उच्चारण आवश्यक है।

9. गणितानुयोग की दृष्टि से नवकार के पदों की नौ की संख्या गणित शास्त्र की दृष्टि से अन्य संख्याओं की अपेक्षा अखण्डता और अभंगता का विशिष्ट स्थान रखता है। इसी प्रकार नव संख्या नित्य अभिनव भावों की उत्पादक भी होती है। नवकार की आठ सम्पदाएँ अनंत सम्पदा को प्रदान कराता है तथा अणिमादि अष्ट सिद्धियों को भी सिद्ध कर देता है। साथ ही नवकार के अडसठ अक्षर अड़सठ तीर्थं स्वरूप बनकर उसका ध्यान करने वालों का तारक बनता है। अनानुपूर्वी से होने वाला श्री नवकार के पदों का परावर्तन चित्तस्थिरता का अमोघ कारण बनता है।

10. धर्मकथानुयोग की दृष्टि से श्री अर्हदादि पाँच परमेष्ठी के जीवन चरित्र अद्‌भुत कथास्वरूप है, नमस्कार की आराधना करने वाले जीवों की कथाएँ भी आश्चर्यकारक उन्नति को दर्शाने वाली है एवं ये सर्व कथाएँ सात्त्विकादि रसों का पोषण कराने वाली हैं।

11. चतुर्विध श्री संघ की दृष्टि से श्री नवकार मंत्र सर्व को एक श्रृंखला में बांधने वाला तथा समान स्तर पर सर्व को पहुँचाने वाला है।

12. चराचर विश्व की दृष्टि से परमेष्ठी पद के आराधक सर्व जीवों को अभय प्रदाता होते हैं। वे सर्वदा सकल विश्व की सुख शान्ति चाहते हैं और उसके लिए उसके सब प्रयत्न निःस्वार्थपूर्वक होते हैं।

13. व्यक्तिगत उन्नति की दृष्टि से किसी प्रकार की साधन सामग्री के अभाव में भी साधक केवल मानसिक बल से सर्वोच्च उन्नति के शिखर पर पहुँचता है।

14. समष्टिगत उन्नति की दृष्टि से, परस्पर समान आदर्श के पूजक बनाकर, सत्श्रद्धा, सद्ज्ञान तथा सच्चारित्र के सत्पथ पर स्थिर रहने का उत्तम बल उत्पन्न करता है।

15. अनिष्टनिवारण की दृष्टि से पंच परमेष्ठी का स्मरण अशुभ कर्म के विपाकोदय को रोक देता है और शुभ कर्म के विपाकोदय को अनुकूल बनाता है। इससे पंचपरमेष्ठी पद के प्रभाव से सर्व अनिष्ट इष्ट रूप में बदल जाते हैं, जैसे कि अटवी महल के रूप में तथा सर्प फूल की माला समान बन जाता है।

16. इष्ट सिद्धि की दृष्टि से पंच-परमेष्ठी शारीरिक बल, मानसिक बुद्धि, आर्थिक वैभव, राजकीय सत्ता, ऐहिक संपत्ति तथा अन्य भी अनेक प्रकार के ऐश्वर्य, प्रभाव और उन्नति दायक है। क्योंकि उससे चित्त की मलिनता और दोष दूर होकर निर्मलता और उज्ज्वलता प्रगटती है। सर्वोन्नति का बीज चित्त की निर्मलता है और निर्मलता नवकार मंत्र के प्रभाव से सहज रीति से सिद्ध हो जाती है।

सर्वोत्कृष्टता

नमस्कार महामंत्र के पाँचों पदों में पाँच परम आत्माएँ संयुक्त हैं। कोई अल्पशक्ति नहीं वरन् विश्व की एक नहीं, दो नहीं बल्कि पाँच-पाँच महाशक्तियाँ इसके साथ जुड़ी है। पाँच महाशक्तियों के कारण यह मंत्र पंचगुणा बलवत्ता को धारण किये हुए है। ये शक्तियाँ किसी व्यक्ति पर आधारित नहीं है, गुणवत्ता पर आधारित होने से, विश्व की विराट् आत्म-शक्तियाँ इसमें समाहित होने से, यह अनन्तशक्ति का द्योतक है। इसमें केवल आत्मा और केवल परमात्मा इसके साथ जुड़ा हुआ है। अर्हत् और सिद्ध परमात्मा है। आत्म जागरण में तत्पर, आचार की गंगा में अवगाहन करने वाले आचार्य इसके साथ जुड़े हैं, तो समग्र श्रुतराशि में निमज्जन करके ज्ञान के आलोक को विकीर्ण करने वाले उपाध्याय भी इसके साथ संलग्न है। इसके साथ जुड़े हैं वे साधु या साधक जो परमात्मा का साक्षात्कार

करने के लिए समस्त कर्मावरणों का क्षय करने के लिए सतत उपक्रम करते हुए जूझ रहे हैं। इस प्रकार इस विराट् विश्व की सारी पवित्र, शक्तिसम्पन्न आत्माएँ जो किसी सम्प्रदाय, धर्म विशेष, जाति-पांति की नहीं, बल्कि सबकी है, वे सर्व इसके साथ जुड़ी है।

इस महामंत्र में शरण-स्मरण व समर्पण है। इसकी प्रतिध्वनि में कोई याचना नहीं, कोई माँग नहीं, कोई कामना नहीं। इसके साथ जुड़ा है-आत्मा का जागरण, चैतन्य शुद्ध स्वरूप का उद्घाटन। आत्म-जागृति के अवसर पर सर्व उपलब्ध हो जाना सहज है। परमात्म स्वरूप की प्राप्ति अर्थात् पूर्णता की उपलब्धि है।

त्रिदोषशामक-त्रिगुणवर्धक-त्रिपदमंत्र : पंचपरमेष्ठी

परमेष्ठी मंत्र का प्रथम पद है-नमो अरिहंताणं

'नमो' यह मंगलवाचक है, 'अरिहं' यह उत्तम वाचक है और 'ताणं' शरण वाचक है। इस प्रकार मंगल यह ज्ञान है, उत्तम दर्शन है और शरण यह चारित्र है। ज्ञान के द्वारा अमंगल रूप राग का नाश होता है। दर्शन के द्वारा अधम रूप द्वेष का नाश होता है। चारित्र द्वारा दुष्ट ऐसे मोह का नाश होता है।

राग स्वपक्षपातरूप होने से दुष्कृतगर्हा का विरोधी है।

द्वेष परद्वेष होने से सुकृत-अनुमोदना का प्रतिपक्षी है।

मोह-यह मिथ्याज्ञानरूप और मिथ्यादर्शन रूप होने से सम्यग् शरणगमन का विरोधी है। यह त्रिपदमंत्र है। दुष्कृतगर्हा का मूल मन है, सुकृत सेवन का मूल मन और वचन है और शरणगमन का मूल मन-वचन-काया है मन के द्वारा दुष्कृतगर्हा, मन-वचन के के द्वारा सुकृतप्रशंसा और मन-वचन-काया के द्वारा शरणगमन अर्थात् चारित्रपालन होता है। इस प्रकार यह त्रिगुणवर्धक है। वात, पित्त और कफ के विकारों का भी शमन इससे होता है।

रागदोष वातवर्धक है, द्वेषदोष पित्तवर्धक है और मोहदोष कफवर्धक है। दुष्कृतगर्हा द्वारा वातदोष शमन होताहै, सुकृतानुमोदना द्वारा पित्तदोष का शमन होता है और शरणगमनादि द्वारा कफ दोष का शमन होता है। इस प्रकार प्रथम पद मन, वचन और शरीर के त्रिदोष के शामक है तथा त्रिगुणवर्धक है।

मोक्ष और विनय का बीज

'नमो' पद मोक्ष का बीज है, क्योंकि 'नमो' पद के द्वारा मुक्ति, मुक्तिमार्ग, और मुक्तिमार्ग साधक महापुरुषों को प्रणाम होता है।

यह विनय का भी बीज है, क्योंकि नमो पद के द्वारा मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यव और केवलज्ञान पर्यन्त ज्ञान के धारक महर्षियों को प्रणाम होता है।

इसके अतिरिक्त वह शान्ति, तुष्टि, पुष्टि और शुद्धि का बीज है, क्योंकि, जिनके कषाय शान्त हुए है, जिनमें विषय की वासना नहीं रही, जिनके रागादि दोष क्षीण हो गये हैं और जिन्होंने अहिंसा, संयम और तप के द्वारा-भाव कर्मों को निर्मूल कर दिया है उनका बहुमान होता है। उनके प्रति आन्तरिक प्रीति उत्पन्न होती है और उनके साथ भाव संबंध जुड़ता है।

इस प्रकार मुक्ति का बीज होने से यह शान्तिकारक है, विनय का बीज होने से तुष्टिकारक है, तप-संयमादि और मूलगुण एवं उत्तरगुणों के बहुमानरूप होने से पुष्टि और शुद्धिकारक है।

यह संसार सागर से तिरने को सेतु है, क्योंकि संसार सागर में डूबते हुए जीवों को इससे मोक्षसागर में प्रवाहित होने का मार्ग मिलता है। जो इस मार्ग पर चलता है, उसे संकल्प-विकल्प के जाल में से छूटकर निर्विकल्प चिन्मात्र समाधि में निमग्न रहने का बल मिलता है। क्योंकि परम पद में स्थित परमेष्ठी भगवन्तों को जो नमस्कार किया जाता है, ये परमेष्ठी भगवन्त कल्याण के सागर तथा सुख के सागर में निमग्न होते हैं एवं अन्य जीवों को भी निज समान बनाने के लिए संकल्प संयुक्त होते हैं।

इस प्रकार परमेष्ठी पद एवं उनको किया गया नमस्कार मोक्ष एवं विनय का बीज होता है।

ज्ञान-क्रिया उभय स्वरूप

परमेष्ठी पद ज्ञान एवं क्रिया उभय स्वरूप है। पंच पदों का ज्ञान होना, उसकी जानकारी होना ही पंच पदों का ज्ञानस्वरूप है तथा तद्रूप आचरण करना क्रियाहै। इसके अतिरिक्त क्रमशः इन पदों की आराधना-साधना भी क्रिया है।

आराधना एवं साधना से पूर्व इन पदों की जानकारी होना भी अत्यावश्यक है। तभी इसकी साधना क्रियान्वित हो सकती है। ज्ञान शून्य क्रिया निरर्थक है। अतः यहाँ ज्ञान एवं क्रिया उभयस्वरूप हैं।

जैन मात्र को नवकार मंत्र का ज्ञान आवश्यक है। अन्य सूत्रों का ज्ञान हो या न हो किन्तु पंच परमेष्ठी का ज्ञान तो अति आवश्यक है। अन्य सूत्र का तो अन्य से सुनकर भी काम चला सकते हैं, किन्तु परमेष्ठी पद को नमस्कार स्वरूप नवकार

मंत्र का जाप, ध्यान, स्मरण स्वंयं सापेक्ष है। इसकी साक्षरता स्वयं के ज्ञान में निहित है। कहा जाता है जो नवकार को जाने वह जैन और उसे गिने वह भी जैन। इस प्रकार ज्ञान स्वरूप होने के साथ-साथ क्रियात्मक स्वरूप होने के कारण क्रिया स्वरूप भी है।

नवकार से सर्व पापों का नाश होता है। जिसके फलस्वरूप सर्व मंगलों में श्रेष्ठ मंगल का लाभ होता है। वस्तुतः अष्ट कर्मों का मूल स्रोत पाप हैं, ये ही सर्व दुःखों का मूल भी है। अनन्त चतुष्टय (ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप) ये मंगलमय है। यही अव्याबाध सुख का कारण भी हैं। सर्व प्रयोजनों के प्रयोजन, दुःखों का आत्यन्तिक क्षय और अव्याबाध सुख की प्राप्ति इससे होती है। दुःखों का क्षय, कर्मक्षय से होता है। कर्मक्षय चित्तसमाधि से होता है। और चित्तसमाधि का कारण बोधिलाभ (ज्ञान) है।

इस प्रकार परमेष्ठी पदों का ज्ञान तथा स्मरण, मनन, ध्यान, जाप आदि अनुष्ठान क्रियात्मक होने से ये ज्ञान एवं क्रिया उभय स्वरूप है।

कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग का त्रिवेणी संगम

इन परमेष्ठी पदों में कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग का त्रिवेणी संगम भी हुआ है। वह किस प्रकार?

इसकी आराधना से जीवराशि पर स्नेहपरिणाम का विकास होता है और द्रव्य गुण पर्याय से शुद्ध आत्मस्वरूप का बोध होता है।

परमेष्ठी पद की आराधना यह कर्मयोग है, उससे होने वाले स्नेहपरिणाम का विकास भक्तियोग है, और उससे भी होने वाला आत्म स्वरूप का बोध, यह ज्ञानयोग है।

इस प्रकार ज्ञान, भक्ति, और कर्म इन तीनों का सुमेल होने से यह आराधना जीव को मोक्षमार्ग रूप बनकर सकल कर्मों का क्षय करने में सहायक होतीहै।

कर्मयोग से तमोगुणरूपी मैल धुल जाता है, भक्तियोग से रजोगुण का विक्षेप होता है और ज्ञान योग से अविशुद्ध सत्त्वगुणजनित आवरण दूर होता है।

कर्मयोग सततााभ्यास रूप है।

भक्तियोग विषयाभ्यास रूप है।

ज्ञानयोग भावाभ्यास रूप है।

मन यह आत्मा का कारण है। इससे प्रत्येक क्रिया में आत्मा का दासत्व अभिव्यक्त होता है। प्रत्येक क्रिया मन-वचन और काया के योग से निष्पन्न होती है।

मनको आत्मा में जोड़ना यह भक्तियोग है और आत्मा का मन से जुड़ना यह ज्ञानयोग है। एक में वचनानुष्ठान है तो दूसरे में असंगानुष्ठान है। यहाँ परस्पर कार्यकारण भाव का संबंध है। इस प्रकार कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग के लक्षण रूप ये पंचपरमेष्ठी पद है।

संसारनाशक : पंच परमेष्ठी

चतुर्गति स्थित चौरासी लाख जीव योनियों में जीवों के दु:खों का नाशक पंच परमेष्ठी पद हैं। दु:ख रूपी संसार का नाश इन पदों में स्थित होने के पश्चात् होता है। क्योंकि सुख का मूल धर्म है और धर्म का मूल करुणा है। करुणा का उद्‌भव पर दु:खछेदन की वृत्ति में से होता है।

अन्यों को दु:खी करने की वृत्ति में से जीव जब तक नहीं छूटेगा, तब तक उसके स्वयं का दु:ख दूर नहीं होगा। जब तक दु:ख दूर नहीं होगा तब तक संसार का नाश भी नहीं होगा। सर्व जीवों के दु:ख दूर करने का विचार ही पाप कर्मों का नाश करता है। सबके पाप कर्मों का नाश हो इस विचार मात्र से सहजमल का नाश होता है। यह सहजमल ही पाप का मूल है।

दु:खरूप, दु:खफलक और दु:ख परम्परक इन तीनों अवस्था में दु:खस्वरूप संसार का नाश करने की शक्ति इन परमेष्ठी पदों में है।

सर्व जीवों के प्रति समान प्रेम होने के कारण ही परमेष्ठी परमपद में स्थित होते हैं। व्यष्टिभाव का त्याग समष्टिभाव से होता है और यह समष्टिभाव ही जीव को परमेष्ठी पद में स्थापित कर देता है। इस प्रकार परमेष्ठी पद की आराधना संसार का नाश करके परमेष्ठी पद में स्थापित कर देता है।

तत्त्वरूचि, तत्त्वबोध, तत्त्वपरिणतिरूप: पंच परमेष्ठी

'अर्हत्' पद से जीवतत्त्व का ज्ञान कराने वाले सर्वज्ञत्व का स्मरण होता है, जिससे वह तत्त्वबोध उत्पन्न करने में पिता का कार्य करता है।

'नमो' रूपी माता और 'अरहं' रूपी पिता के संबंध से 'ताणं' पद द्वारा संयमरूपी पुत्र का जन्म होता है।

तत्त्वरुचि रूपी माता और तत्त्वबोध रूपी पिता द्वारा तत्त्वपरिणति रूपी पुत्र को जन्म देकर उसका पालन पोषण करता है और धर्मरूपी अर्थोपार्जन हेतु तैयार करते हैं। उसमें वह परीषह-उपसर्ग रूपी कष्टों को आनन्दपूर्वक सहन करके बहुत धन कमाता है और अनंतकाल के लिए कभी भी जो न खूटे ऐसे मोक्षरूपी अक्षय, अव्याबाध सुख को प्राप्त करता है, तथा जगत् के सर्व जीवों को सदा के लिए अभयदान प्रदान करता है।

उस दान के द्वारा जगत् के जीवों का दारिद्र खत्म करने का कार्य सदैव करता रहता है और अपने समान वह सच्चिदानन्दस्वरूपी बनाता है।

इस प्रकार ये पंच परमेष्ठी तत्त्वरूचि के माध्यम से तत्त्वबोध प्राप्त करवा कर तत्त्वपरिणति में अग्रसर करके मोक्ष सोपान कर आरूढ़ करता है।

प्राप्त, व्यास और समाप्त : पंच परमेष्ठी

पंच परमेष्ठी यह जिनाज्ञा का मूर्तिमंत स्वरूप है। प्रथम दो पद आज्ञाराधना के फलस्वरूप है और अन्तिम तीन परमेष्ठी स्वयं आज्ञाराधनस्वरूप है। इन पाँचों को नमस्कार करने से चित्तशुद्धि होती है और शुद्ध चित्त में आज्ञा का विश्वव्यापित्व प्रतिबिंबित होता है। सचराचर विश्व की स्थिति यह आज्ञाराधन और आज्ञा विराधना का ही प्रतिबिम्ब दिखाता है।

यह आज्ञा आप्त पुरुषों के वचन-श्रवण से प्राप्त होती है। फलस्वरूप भेदभाव का नाश और अभेदभाव की उत्पत्ति स्वरूप समता का प्रगटीकरण होता है। भेदभाव में से हिंसा, क्रोधादि आस्रव एवं अभेदभाव में से अहिंसा, क्षमादि संवर भाव उत्पन्न होते हैं। आस्रव एवं अभेदभाव में से अहिंसा, क्षमादि संवर भाव उत्पन्न होते हैं। आस्रव सर्वथा हेय है और संवर उपादेय है। इस प्रकार आज्ञा का बीज साम्यभाव जीवन में व्याप्त होता है। यह साम्यभाव ही सकल 'अरहंतो' का प्रतिष्ठान, मोक्ष लक्ष्मी का निवासस्थान और स्वर्ग-मृत्यु-पातालरूप त्रिलोक का स्वामित्व दिलाने में सार तत्त्व है। यह विश्ववत्सल है। इस प्रकार अरंहत की आज्ञा, भक्ति, साम्यभाव को विकसित करता है।

यह साम्यभाव साधु में जीव मात्र के सहायक रूप में, उपाध्याय में सूत्रप्रदान रूप में, आचार्य में आचार पालनरूप में, अर्थ प्रदानरूप में, सिद्धों में पूर्णता रूप में तथा अर्हतों में इन सब के मूल में प्रगटरूप से व्याप्त दृष्टिगत होता है। इस प्रकार जीवन में व्याप्त होकर सिद्धि पद में समाप्त होता है।

आज्ञा-श्रवण द्वारा प्राप्त, मनन-आचरण द्वारा जीवन में व्याप्त तथा निदिध्यासन कर्मक्षय द्वारा समाप्त होता है।

नवकार मंत्र की वैज्ञानिकता

'नमो अरिहन्ताणं' में सफेद रंग है। प्राणिक क्रिया में एक श्वास में 21% प्रतिशत ऑक्सीजन होता है। यदि ऑक्सीजन की गति को संयम से बढ़ा दिया जाये तो धीरे-धीरे अपान पर नियन्त्रण हो जाएगा। अपान ज्यादा नहीं होता, लेकिन थोड़ा भी बहुत ताकत रखता है। 4 प्रतिशत कार्बन डायऑक्साइड होता है और 84 प्रतिशत नाइट्रोजन होता है और कुछ मशीनरी में पैदा करने की ताकत होती है।

नवकार मंत्र में पंच प्राण की क्रिया-पंच बीजाक्षर दिये हैं-ह्रीं आदि और इसके साथ में शरीर के हिस्सों का संबंध जोड़ा है। अर्हत् शब्द पहले रखा है, इससे ज्ञात होता है कि सफेद-श्वेत आभा को हम ज्यादा बल देना चाहते हैं, आत्मानुशासन के लिए वह इसलिए कि इससे 'लाइफ फोर्स' (जीवनशक्ति) को नियन्त्रित किया जा सकता है।

'नमो लोए सव्व साहूणं' में साहू शब्द में जो हू शब्द रखा गया है, वहाँ मुनि को जोड़ा गया है। इस प्रकार 'हूँ' है मूलाधार का। 'ह' जो है वह आज्ञाचक्र का। मूलाधार और आज्ञाचक्र एक दूसरे से बंधे हुए हैं। अन्त में हमें मूलाधार को जगाना और फिर आज्ञाचक्र को जगाना है। आज्ञाचक्र को जगाएगें तो मूलाधार स्वत: ही जागेगा। मूलाधार को जगायेंगे तो आज्ञाचक्र खुलेगा। ये एक दूसरे से बंधे हुए है। 'साहू' शब्दोच्चारण से मूलाधार से लेकर आज्ञाचक्र तक एक (वायब्रेशन) कम्पन पैदा होगा, इसीलिए सरस्वती-मन्त्र में ओम्-ओम् , हूम्-हूम् ह्रीं ह्रीं रखा गया है। मुसलमान 'अल्लाहू' कहकर पूरा कर लेते हैं। भगवान् बुद्ध ऊँ नम: मणिपदमे हूँ. पूरा कर लेते हैं। सभी ने अलग अलग ढ़ंग से इसे रखा है।[१] जिहोवा में 'हो' पर जोर दिया गया है। इस प्रकार इसकी वैज्ञानिकता साबित होती है।

उपसंहार

जैन सम्मत ये पंच परमेष्ठी पद जीवन उत्थान के लिये आदर्श स्वरूप हैं। जो कि मात्र पूजनीय, आदरणीय ही नहीं वरन् आचरणीय हैं। वस्तुत: विश्व के लिए वही आदर्श प्राणीमात्र के लिए उपादेय हो, व्यक्ति निष्ठा न होकर समिष्ट को अपने में समाये हो, वही विश्व को प्रभावित कर सकता है। ये पंच परमेष्ठी पद

---

१. उद्धृत-तीर्थंकर अंक ७-८ वर्ष १० पृ. १००-१०१

किसी सम्प्रदाय विशेष का आदर्श नहीं है। इसमें समाविष्ट आत्माएँ अहिंसा की विशुद्ध मूर्ति है। अहिंसा धर्म का पालन प्राणीमात्र द्वारा किया जाने पर इस आदर्श से सबको सुखी बनाया जा सकता है। कहा गया है कि-"अहिंसा-प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः "अर्थात् अहिंसा की प्रतिष्ठा होने जाने पर व्यक्ति के समक्ष क्रूर और दुष्ट जीव भी वैर-भाव का त्याग कर देते हैं। स्पष्ट है अहिंसाधर्म की पूर्णरूप से प्रतिष्ठा होने पर उसके स्मरण, आचरण से सभी का कल्याण होता है। अहिंसक की आत्मा में इतनी शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि फल-स्वरूप निकटवर्ती वातावरण में पूर्ण शान्ति व्याप्त हो जाती है। उसके सन्निधान में दुष्काल, महामारी, आकस्मिक विपतियाँ एवं अन्य किसी भी प्रकार का दुःख व्याप्त नहीं हो पाता, फलतः सर्वत्र सुखःशान्ति तरंगित हो उठती है।"

पूर्ण अहिंसक व्यक्ति का प्रत्यक्ष-प्रभाव तो होता ही है, किन्तु उनके नाम-गुणों के स्मरण में भी वही प्रभाव परिलक्षित होता है। पंचपरमेष्ठी पदों में प्रतिपादित विभूतियाँ विश्वकल्याण की भावना से ओतप्रोत हैं। परम विशुद्ध अवस्था को प्राप्त ये आत्माएँ सांसारिक प्राणियों के कल्याण के लिए सत्यमार्ग का प्ररूपण करती हैं। जिसका स्वयं आचरण करके विशुद्ध होते हैं, उसी का प्रवर्तन करते हैं, जिसका अनुसरण करके विश्व का प्रत्येक प्राणी अपना अभीष्ट सिद्ध कर सकता है।

जैन संस्कृति के द्योतक

ये पंच पद जैन संस्कृति के उपास्य देव एवं गुरु हैं। जो कि जीवन के सत्यों का सहस्योद्घाटन करते हैं। अनादि काल से जीव से व्यापक सत्यों का संबंध चला आ रहा है। संस्कृति सामाजिक और वैयक्तिक जीवन की आन्तरिक मूल प्रवृत्तियों का समन्वय है। संस्कृति का व्यक्त रूप सभ्यता है, जिसमें आचार-विचार, विश्वास, परम्पराएँ , शिल्प-कौशल आदि सम्मिलित हैं। जैन संस्कृति में ये सभी तत्त्व अन्तर्भूत हैं। वस्तुतः जैन संस्कृति आत्मशोधन के उन्हीं तत्त्वों पर बल देती है, जिनसे रत्नत्रय गुणों का विकास होता है। उसी के अनुकूल बाह्य जीवन का निर्माण निर्भर होता है। अनात्मिक भावों का त्याग एवं आत्मिक भावों का ग्रहण करना होता है। यही कारण है कि जैन संस्कृति में अहिंसा, संयम, तप, परिग्रह त्याग आदि को विशेष महत्त्व दिया गया है।

जैन संस्कृति के अनेक तत्त्व हैं, किन्तु पंच परमेष्ठी ऐसे पद हैं, जिनके स्वरूप का परिज्ञान हो जाने पर इस संस्कृति को सहजतां से जाना जा सकता है। ये परम विशुद्ध आत्माएँ जैन संस्कृति की साक्षात् प्रतिमाएँ हैं। क्योंकि ये निर्ग्रन्थ

रहकर सत्यमार्ग का अन्वेषण करते हैं। अतः उनका परिज्ञान आदर्श जीवन की प्राप्ति कराता है।

जैन संस्कृति का मुख्य उद्देश्य निर्मल आत्मतत्त्व को प्राप्त कर शाश्वत सुख-निर्वाण प्राप्त करना है। इन शुद्धात्माओं का आदर्श सामने रहने से तथा इनका स्मरण, चिन्तन, मनन करने तथा इनकी शरणग्रहण करने से, इनके प्रति समर्पित होने से शुद्धत्व की प्रांप्ति होती है। स्पष्ट है कि पंचपरमेष्ठी का स्वरूप शुद्धात्मामय है अथवा ये शुद्धात्मा की उपलब्धि के लिए प्रयत्नशील आत्माएँ हैं। इनकी समस्त क्रियाएँ आत्मसापेक्ष होती है। आत्मानन्द में निमग्न रहना यही इनका प्रयोजन है।

वस्तुतः विश्व में प्राणिमात्र का अभीष्ट सुख और आनन्द है और सभी का कार्यक्षेत्र उसी की प्राप्ति को लक्ष्य में रखकर ही निर्धारित होता है। जिसका दृष्टिकोण जैसा होता है, तदनुरूप उसका आचार, विचार, व्यवहार होता है। वैश्विक कल्याण की इच्छुक ये अहिंसक पंच परमेष्ठी आत्माएँ प्राणियों में ऐसी दृष्टि का संचरण करते हैं कि सच्चा सुख और आनन्द किसमें हैं? पर-वस्तुओं से प्राप्त सुख और आनन्द क्षणिक व सुखाभास है, सच्चा सुख नहीं। ये विशुद्धआत्माएँ ज्ञान कराती हैं कि जिन पर-पदार्थों में आत्मबुद्धि होने से अशान्ति का अनुभव करना पड़ रहा है, उन पर से मोहबुद्धि दूर होने पर, आत्मिक प्रवृत्ति होने के कारण उसका सदाचरण होने लगता है। स्वार्थ परमार्थ में परिवर्तित हो जाता है। तत्त्वज्ञान की ओर उसका अज्ञान नाश होने से, फलतः आत्मविकास का मार्ग प्रशस्त हो जाता है और व्यक्ति आत्मिक सुख और चैन की वंशी बजाने लगता है।

विश्व कल्याण का प्रवर्त्तन वही कर सकता है जो आत्मरसिक हो। जिसमें स्वयं में दोष, गलती, बुराई एवं दुर्गुण होंगे, वह अन्य के दोषों का परिमार्जन कभी नहीं कर सकता है। सुधारक वही होगा, जिसने स्वयं को पूर्णरूपेण सुधार लिया होगा। जिसका स्वयं का आचरण ठीक नहीं, उनका आदर्श समाज के लिए भला कैसे कल्याणप्रद हो सकता है? व्यक्ति, राष्ट्र, देश, समाज, परिवार और स्वयं की उन्नति स्वार्थ, मोह और अहंकार के रहते हुए कभी नहीं हो सकती है। जो आत्मा राग-द्वेष की ग्रन्थियों से परे है अथवा इन ग्रन्थियों को दूर करने में अभ्यस्त हैं, उनका आदर्श विश्व के समस्त प्राणियों के लिए उपादेय हैं। पंच परमेष्ठी पदों के आदर्श को अपनाने से सभी अपना हित साधन कर सकते हैं।

पंच परमेष्ठी आत्माओं का एकमात्र उद्देश्य मानव का कल्याण करना है, इसलिये ये आत्माएँ प्राणिमात्र की उपकारी है। जनहितकारी इनकी क्रियाएँ बाधक न होकर हित साधक है। ये पंच परमेष्ठी कोई दैवी शक्ति नहीं, वरन् शुद्ध प्रवृत्ति करने वाले मानव ही हैं, जिनके समस्त क्रिया व्यापार मानव समाज के लिए किसी भी प्रकार पीड़ादायक एवं भारस्वरूप नहीं होते। ये विकार रहित-सांसारिक प्रपंच से दूर रहने वाले महामानव हैं। इन महात्माओं ने अपने पुरुषार्थ द्वारा काम, क्रोध राग, द्वेष मोहादि विकारों को जीत लिया है। जिससे इनमें स्वाभाविक गुण प्रकट हो गये हैं। ये परमेष्ठी इसी प्रकार की शुद्धात्माएँ हैं, जिनमें रत्नत्रय युक्त आत्मिक गुणों का प्राकट्य हुआ है। यदि विश्व में इनके आदर्श का प्रचार ही नहीं, वरन् स्वीकार हो जाये तो आज जो भौतिक संघर्ष, परिग्रह-पिपासा आदि हैं, वे शान्त हो जाये। आणविक अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण तो दूर, इस धरा पर उनका नामों निशान मिट जाये। मैत्रीभावना का प्रचार होकर अहंकार, ममकार (ममता) आदि भी कोसों दूर चले जाय। स्पष्ट है कि विश्व के प्राणियों के लिए ये पंच परमेष्ठी महात्मा शान्तिदायक-सुखदायक है। जो कि किसी सम्प्रदाय और धर्म से भी परे हैं।

मनोवैज्ञानिक उपयोगिता : व्यक्तित्व शुद्धि

जैन परम्परा के पास नमस्कार मंत्र स्वरूप निहित ये पंच पद हैं, जो कि व्यक्तित्वरूपान्तरण में अनूठा व बेजोड़ साधन है। आश्चर्यजनक और अद्‌भुत घोषणा है इस मंत्र में कि "एसो पंच नमुक्कारो, सव्व पावप्पणासणो।" सब पापों का नाश करदे, ऐसा महामंत्र है नमोकार। भला नमस्कार मात्र से कैसे पाप नष्ट हो जायेंगे? वस्तुतः नमस्कार से सीधा पाप नष्ट नहीं होता। नमस्कार से आसपास एक विद्युत् वर्तुल रूपान्तरित हो जाता है। फलस्वरूप पाप करना असंभव हो जाता है। पाप करने के लिए व्यक्ति के आसपास एक विशेष प्रकार का आभामण्डल चाहिए। जिसके अभाव में पाप किया ही नहीं जा सकता। वह आभामण्डल ही रूपान्तरित हो जाये, तो असंभव हो जाएगा पाप करना।

यह नमस्कार कैसे उस आभामण्डल को बदलता होगा? नमस्कार अर्थात् नमन का भाव। नमन का अर्थ है समर्पण। यहाँ 'नमो अरिहंताणं, अर्हन्तो को नमस्कार करता हूँ' यह शाब्दिक नहीं है। ये शब्द नहीं हैं-यह भाव है। अगर प्राणों में यह भाव सघन हो जाय कि अर्हन्तों को नमस्कार करता हूँ, तो उसका अर्थ हो जाता है-जो सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं, उनके चरणों में नमस्कार करता हूँ, अपने आपको समर्पित करता हूँ। उस समय तत्काल उसका अहंकार विगलित हो जाता

है। इस जगत् में जिन-जिन लोगों ने अपने को समर्पित किया है। शरण में गये हैं। उस महाधारा में उनकी शक्ति भी सम्मिलित हो जाती है। चारों तरफ आकाश में तरंगे संग्रहित हो जाती है, जो कि दृष्टिगत नहीं होती। चारों ओर एक दिव्य धारा का लोक निर्मित हो जाता है। और इस लोक के साथ व्यक्तित्व दूसरे ही प्रकार का हो जाता है।

इस महामंत्र में व्यक्ति के आसपास के आभामण्डल को बदलने का कीमिया है। यदि कोई व्यक्ति दिन-रात इसका स्मरण करता रहे, तो वह व्यक्ति न रहकर, अन्य ही व्यक्ति हो जायेगा।

राग-द्वेष आदि मलिन वृत्तियों पर विजय प्राप्त करने हेतु ये अहिंसा के साथ तप और संयम से जीवन यापन करते हैं। परिणामस्वरूप इनके आचार और विचारों में शुद्धिकरण होता रहता है। आचार-विशुद्धि के लिए आत्मौपम्य की भावना से ओत-प्रोत अन्तःकरण से वे पार्थिव, जलीय, आग्नेय, वायवीय आदि सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्राणियों की तथा बेइन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक त्रसजीवों की रक्षा करते हैं। विचारों में साम्यदृष्टि होने से 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की वृत्ति पक्षपात, राग, द्वेष, संकीर्णता से परे रखती है। इस प्रकार ये पंच परमेष्ठी पद जैन संस्कृति की अतरंग भावशुद्धि-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के परिचायक है।

रत्नत्रय रूप यह संस्कृति इन महात्माओं के आदर्शमय जीवन से सुशोभित है। परिणामस्वरूप इनके आचरण के अनुकरण व सदुपदेश से व्यक्ति अपनी आत्मा को सुसंस्कृत बनाती है। इससे समष्टिगत सुसंस्कारता का वपन होता है। अतः जैन संस्कृति का वास्तविक आदर्श इन महान् आत्माओं द्वारा ही प्राप्त होता है।

जैन धर्म में विश्वकल्याण, वर्गकल्याण और वैयक्तिक कल्याण की भावनाओं को लेकर तदनुकूल प्रवृत्ति करने के कारण ही साधकों की ये विभिन्न कक्षाएँ निर्धारित की गई है। जिसमें विश्वकल्याण के लिये धर्म संघ का प्रवर्तन करने के कारण तीर्थंकर को सर्वोच्च स्थान मिला। सम्पूर्ण कर्म क्षय करके सिद्धावस्था को प्राप्त, परम शुद्धस्वरूप सिद्ध को दूसरा स्थान मिला। यद्यपि ये दोनों पूर्व भूमिका में साधक ही थे, परन्तु परमात्म पद का वरण कर लेने से ये साध्य स्वरूप हुए। संघ का नेतृत्त्व करने से, नियामक स्वरूप हुए आचार्य। संघीय व्यवस्था के कुशल संचालक आचार्य हैं। उपाध्याय मुनिवरों पर अनुशासन शिक्षण द्वारा करते

हैं, तो साधु साधना मार्ग पर आरूढ़ हो कर कर्म क्षय करने में ज्ञान-ध्यान, तप स्वाध्याय करते हैं।

लोकहित से पूर्ण दृष्टि

जैन साधना में संघ (समाज) का स्थान भी कम नहीं। आचार्य, उपाध्याय, साधु को संघीय नियमों के अन्तर्गत रहना ही होता है। संघ का स्थान सर्वोपरि माना गया है। संघहित वैयक्तिक साधनाओं से भी ऊपर है। संघ के कल्याण के लिए वैयक्तिक साधना का परित्याग करना भी आवश्यक माना गया है। आचार्य कालक इसके उदाहरण है।[१]

स्थानांग सूत्र में उल्लिखित दस धर्मों (कर्त्तव्यों) में[२] संघधर्म, राष्ट्रधर्म, नगरधर्म, ग्रामधर्म, और कुल धर्म का उल्लेख यही द्योतित करता है कि जैन दृष्टि न केवल आत्महित या वैयक्तिक विकास तक सीमित है, वरन् इसमें लोकहित या लोककल्याण की अनवरत धारा प्रवाहित हुई है। लोकहित का स्थान अवश्य पूर्णरूपेण है, किन्तु इसके साथ भी एक शर्त यह है कि इसमें परमार्थ हेतु स्वार्थ का त्याग किया जा सकता है, किन्तु आत्मार्थ का नहीं।

आत्महित वस्तुतः स्वार्थ नहीं है, अपितु वह निष्काम होता है। वहाँ इच्छा, कामना, तृष्णा समाप्त हो जाती है। स्वार्थ और आत्महित में अन्तर है, वह यह है कि स्वार्थीवृत्ति में राग-द्वेष पूर्ण दृष्टि होती है। जबकि आत्महित राग-द्वेष की वृत्तियों की क्षीणता पर अवलम्बित है। आत्मकल्याण अनासक्त की भूमि पर प्रस्फुटित होता है।

साधक आत्मा का लक्ष्य भी अनासक्त जीवन, प्राथमिक कक्षा पर होता है। शनैःशनै अनासक्त भाव से कर्मक्षय करता हुआ आत्मीय गुणों को आत्मसात करता जाता है। ये पंच पद भी आत्मिक गुणों के प्राकट्य की स्थिति है। प्राथमिक स्तर पर साधु, पाश्चात् उपाध्याय एवं आचार्य पद को वहन करता है।

साधन, साधक, साध्य स्वरूप

ये पंच परमेष्ठी परमात्म स्वरूप होने से स्मरण, कीर्तन, ध्यान करने योग्य होने से साधक स्वरूप हैं। इनके अन्तर्गत आचार्य, उपाध्याय तथा साधु ये तीन पद साधक परमात्मा है तो अरिहंत एवं सिद्ध दोनों पद परमात्मा स्वरूप होने से साध्य स्वरूप भी हैं। अतः सतत स्मरणीय, आचरणीय हैं।

---

१. निशीथचूर्णि गा. २८३०

२. स्थानांगसूत्र १०.७६०

परिशिष्ट-1

पंच परमेष्ठी-साधन-विधि कोष्टक

पंच परमेष्ठी की साधना किस प्रकार की जाये? यहाँ पूर्वाचार्यों द्वारा कोष्टक के द्वारा इसकी साधनाविधि का निर्देश दिया गया है। अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पंच पदों की साधना विधि का उल्लेख अलग-अलग रूप से किया गया है। इसमें उनके तीर्थंकर, वर्ण, दिशा, अंगन्यास, तत्त्व, आकार, साध्य-ह्रीं, अंशक, स्वर, वर्ग, ग्रह, तिथि, मास, राशि, वार नक्षत्र, रस, मंत्र, फल आदि के माध्यम से पाचों ही परमेष्ठी विषयक निर्देश किया गंया है।

तात्पर्य यह है कि एक पद की साधना इस रूप में, इन सभी योगों के साथ की जाये तो तदनुसार फल अवश्यमेव प्राप्त होता है। यहाँ मंत्रविधि का वर्णन इस रूप में किया गया है-

1. अर्हत्[१]

1. **तीर्थंकर**-चतुर्विंशति जिनेश्वरों में अर्हत् परमेष्ठि के अन्तर्गत चन्द्रप्रभु एवं सुविधि जिन को विभाजित किया गया है।

2. वर्ण-श्वेतवर्ण

3. दिशा-ब्रह्मस्थान

4. अंगन्यास-में मस्तक

5. तत्त्वनिर्देश-पृथ्वीमण्डल

6. आकार, साध्य-ह्रीं-वर्तुल

7. अंशक-पुरुष

8. स्वर-अ, आ

9. वर्ग-क, च, ट, त, प, य, श

10. ग्रह-चन्द्र, शुक्र

11. तिथि-नन्दा (1, 6, 11)

12. मास-कार्तिक, चैत्र

13. राशि-वृष, कन्या, कुंभ

14. वार-सोम, मंगल

15. नक्षत्र-कृत्तिका, रोहिणी, उत्तराफाल्गुनी, हस्त, घनिष्ठ, शतभिषा, पूर्वाभाद्रपद।

16. रस-अम्ल

17. मन्त्र-ऊँ ह्राँ अर्हद्भ्यो नमः।

---

१. पंच परमेष्ठीसाधन-विधि-फल कोष्टक उद्धृत-नमस्कार स्वाध्याय १ (प्राकृत) पृ. २३९

16. फल-मुक्तत्व, खेचरत्व (विमोचन, शांति)

2. सिद्ध

1. जिनस्वरूप-पद्मप्रभ, वासुपूज्य
2. वर्णनिर्देश-रक्त (लाल)
3. दिशा निर्देश-पूर्व
4. अंगन्यास-मुख
5. तत्त्वनिर्देश-आकाश तत्त्व
6. आकार-साध्य ह्रीँ-त्रिकोण
7. अंशक-स्त्री
8. स्वर-इ, ई, ए, ऐ, (इ, ई, उ, ऊ)
9. वर्ग-ख, छ, ठ, थ, फ, र, ष,
10. ग्रह-सूर्य, मंगल
11. तिथि-भद्रा (2, 7, 12)
12. मास-वैसाख, मागशर
13. राशि-मेष, मीन, मकर
14. वार-बुध
15. नक्षत्र- अश्विनी, भरणी, उत्तराषाढ़ा, श्रवण, उत्तराभाद्रपद, रेवती
16. रस-मधुर
17. मन्त्र-ऊँ ह्रीँ सिद्धेभ्यो नमः
18. फल-त्रैलोक्य-वशीकरण, त्रिभुवनमोहकत्व, वशीकरण, मोहन

3. आचार्य

1. जिनस्वरूप-ऋषभ, अजित, संभव, अभिनन्दन, सुमति, सुपार्श्व, शीतल, श्रेयांस, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति, कुंथु, अर, नमि, वीर।
2. वर्णनिर्देश-कनक (पीत)
3. दिशानिर्देश-दक्षिण
4. अंगन्यास-कंठ
5. तत्त्वनिर्देश-तेजो मंडल
6. आकार, साध्य-ह्रीँ-लोढ़कला आठ अंशवाला प्राकृत हकार
7. अंशक-नपुंसक
8. स्वर-उ, ऊ (ऋ, ॠ, ऌ, ॡ)
9. वर्ग-ग, ज, ड, द, ब, ल, स
10. ग्रह-गुरु, बुध

11. तिथि-जया (3, 8, 13)
12. मास-पोष, ज्येष्ठ, भाद्रपद, आश्विन
13. राशि-सिंह, वृश्चिक
14. वार-गुरु
15. नक्षत्र-मघा, पूर्वाफाल्गुनी, ज्येष्ठा, अनुराधा
16. रस-तिक्त
17. मन्त्र-ऊँ ह्रूँ आचार्येभ्यो नमः
18. फल-स्तंभन जलादि

4. उपाध्याय

1. जिनस्वरूप-पार्श्व, मल्लि
2. वर्णनिदेश-मरकत (नील)
3. दिशानिर्देश-पश्चिम
4. अंगन्यास-हृदय
5. तत्त्वनिर्देश-जलमण्डल
6. आकार साध्य ह्रीँ-विशुद्धकला रूपेU
7. अंशक-राजपुरुष
8. स्वर-ओ, औ
9. वर्ग-घ, झ, ढ, ध, भ, व, ह
10. ग्रह-केतु
11. तिथि-रिक्ता (4, 9, 14)
12. मास-माघ, आषाढ़
13. राशि-धन, मिथुन
14. वार-शुक्र
15. नक्षत्र-मूल, पूर्वाषाढ़ा, मृगशीर्ष, आर्द्रा, पुनर्वसु
16. रस-कषाय
17. मन्त्र-ऊँ ह्रीँ उपाध्यायेभ्यो नमः
18. फल-इहलौकिकलाभ, सर्वभयहरण (तुष्टि, पुष्टि)

5 साधु

1. जिनस्वरूप-मुनिसुव्रत, नेमि
2. वर्णनिर्देश-कृष्ण
3. दिशानिर्देश-उत्तर
4. अंगन्यास-चरण

5. तत्त्वनिर्देश-वायुमण्डल
6. आकार, साध्य-ह्रीँ-दीर्घकलारूपेट
7. अंशक-बहुशब्द-वर्णनीय सर्वश्राद्धजन अथवा बहुप्रसिद्धलोक वंद्यमान
8. स्वर-अं-अः
9. वर्ग-ङ, ञ, ण, न, म, ल, क्ष
10. ग्रह-शनि, राहु
11. तिथि-पूर्णा (5, 10, 15)
12. मास-फाल्गुन, श्रावण
13. राशि-कर्क, तुला
14. वार-शनि, रवि
15. नक्षत्र-पुष्य, आश्लेषा, चित्रा, स्वाति, विशाखा
16. रस-कटु
17. मन्त्र-ऊँ ह्रः सर्वसाधुभ्यो नमः
18. फल-(पाप) उच्चाटन, मारणादि।

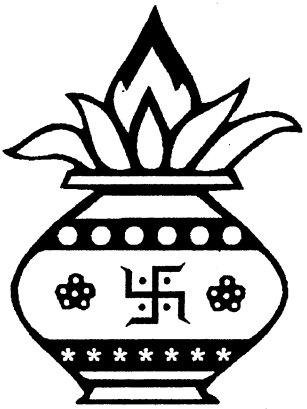

परिशिष्ट-2

(क)पंच परमेष्ठी पदों का वर्णन, तत्संबंधित सन्दर्भ ग्रन्थों के अनुसार निम्नंप्रकार से उपलब्ध होता है। तद्विषयक सूचि का यहाँ निर्देश दिया जा रहा है।[१]

(प्राकृत भाषा में)

1. भगवती सूत्र का मंगलाचरण (श्री अभयदेवसूरि विरचित भगवती सूत्र वृत्ति) (सं. 1120 से 1128)
2. सप्त स्मरणों में प्रथम नमस्कारमंत्र स्मरण
   (1) श्री सिद्धचन्द्रगणिकृत व्याख्या (2) श्री हर्षकीर्तिसूरीकृत व्याख्या
3. नमस्कारान्तर्गत पदविशेषानेकार्था:
   (1) पंडितगुणरत्नमुनिवर कृत नमस्कार प्रथम पदार्था:
   (2) आगमिक श्री देवरत्नसूरि विरचित नमस्कार मन्त्रांतर्गत "नमो लोए सव्व साहूणं" पंचमपदगत 'सव्व' शब्द के अनेक अर्थ
4. श्री महानिशीथसूत्र सन्दर्भ
5. चैत्यवंदनमहाभाष्य में नमस्कार सूत्र का उल्लेख (13-14 वीं शती)
6. श्री मानदेवसूरि रचित उपधानविधि स्तोत्र
7. वर्धमानविद्या विधि
8. श्री भद्रबाहूस्वामी विरचित श्री आवश्यक सूत्रान्तर्गत नमस्कार-निर्युक्ति।
9. श्री पुष्पदंत भूतबलिप्रणीत श्री वीरसेनाचार्य रचित धवला टीका समन्वित-षट्खण्डागम का सन्दर्भ।
10. अर्हन्नमस्कारावलिका (अर्हत् पद के 108 गुण वर्णन)
11. सिद्धनमस्कारावलिका (सिद्ध पद के 108 गुण वर्णन)
12. अर्हदानादि स्तोत (पंचपरमेष्ठी नमस्कार स्तोत)
13. श्री भद्रगुप्तस्वामि प्रणीत पंच नमस्कार चक्रोद्वार विधि
    (पंच परमेष्ठी चक्र अथवा वर्धमानचक्र)
14. ध्यानविचार
15. श्री मानतुंगसूरि विरचित नवकारसार स्तवन
16. श्री मानतुंगसूरिरचित नवकारसार स्तवन की नमस्कारव्याख्यान टीका
17. कुवलयमाला सन्दर्भ
18. परमेष्ठी पद गर्भित मंत्र आदि
19. श्री जिनचन्द्रसूरि विरचित पंचनमस्कार फलस्तोत

---

१. नमस्कार स्वाध्याय (प्राकृत विभाग) भाग-१ की अनुक्रमणिका

20. पंच नमस्कार फल
21. श्री जिनदत्तसूरि विरचित नमस्कार रहस्य स्तवन
22. श्री जयचन्द्रसूरि विरचित प्रश्नगर्मित पंचपरमेष्ठी स्तवन
23. चतुर्विध ध्यान स्रोत
24. श्री जिनकीर्तिसूरि रचित पंचपरमेष्ठी नमस्कार महास्तोत्र
25. श्री गणिविद्या स्तोत्र
26. पंच महापरमेष्ठी संस्तवन
27. पंच परमेष्ठी जयमाला
28. नवकार लघु कुलक
29. भक्तपरिज्ञा सन्दर्भ
30. पंचसूत्र सन्दर्भ
31. अंगविद्याप्रकीर्णक सन्दर्भ
32. श्री हरिभद्रसूरि विरचित सम्बोधप्रकरणग्रन्थ
33. श्री प्रवचनसारोद्धार सूत्र सन्दर्भ-मूल-श्रीनेमिचन्द्रसूरि, टीका-श्रीसिद्धसेनसूरि
34. श्री सिद्धर्षिरचित चन्द्रकेवलीचरित्र सन्दर्भ
35. श्री देवभद्रसूरि रचित-कथा रत्नकोष सन्दर्भ
36. श्री पद्मसिंहमुनि रचित 'ज्ञानसार' सन्दर्भ
37. श्री रत्नशेखरसूरि रचित-श्री श्रीपाल कथा में सिद्धचक्रयंत्रोद्धार
38. श्री रत्नशेखरसूरि रचित श्री श्रीपाल कथा अन्तर्गत पंचपरमेष्ठी पंचनवात्मक सन्दर्भ (क्षमाकल्याणगणि व्याख्या) सन्दर्भ
39. श्री रत्नशेखर रचित श्री श्रीपालकथा अन्तर्गत पंचपरमेष्ठी आराधना विधि सन्दर्भ
40. उपदेशमाला सन्दर्भ
41. हेमचन्द्रसूरि रचित द्वयाश्रयकाव्य-पूर्णकलशकी टीका सन्दर्भ
42. श्री जिनदत्तसूरि रचित-समयसुन्दरगणि की व्याख्या में 'तं जयउ' का सन्दर्भ
43. श्री देवेन्द्रसूरि विनिर्मित 'सुदर्शनाचरित्र' सन्दर्भ
44. श्राद्धदिनकृत्य के अन्तर्गत नमस्कार विषयक सन्दर्भ
45. चतुःशरण प्रज्ञप्त सन्दर्भ
46. परमेष्ठी स्तव 42 श्लोक जैन ग्रन्थावली 283
47. अज्ञात कवि कृत सुंदसणा चरियं ले. सं. 1244 (13वीं शतीं पूर्वार्द्ध)

(ख) (संस्कृत भाषा में)[1]

1. नमस्कार मंत्र स्तोत्रम्
2. 'ऊँ' कार विद्या स्तवनम्

3. श्री जिनप्रभसूरि विरचित मायाबीज (हींकार) कल्प
4. श्री जयसिंहसूरि विरचित धर्मोपदेशमालान्तर्गत 'अर्हं' अक्षरतत्त्वस्तव:
5. अर्हं-श्री हेमचन्द्रसूरिरचित श्री सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन का मंगलाचरणसूत्रम् स्वोपज्ञतत्त्व प्रकाशितटीका:शब्दमहार्णवन्यास संवलितम्
6. अर्हं-श्री हेमचन्द्रसूरि रचित-संस्कृत द्वयाश्रयकाव्य के प्रथम श्लोक- श्री अभयतिलकगणि रचित व्याख्या समेत।
7. श्री सिंहतिलकसूरि रचित,-ऋषिमण्डलस्तवयंत्रालेखनम्।
8. कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य विरचित त्रिषष्टि शलाकापुरुषचरितगत सन्दर्भ (पंच नमस्कार स्तोतम्)
9. कलि. श्री हेमचन्द्राचार्यरचित श्री वीतराग स्तोत्रमंगलाचरणम् 1. श्री सोमोदयगणिकृतावचूर्णि 2. श्री प्रभानंदसूरिकृत विवरण
10. भट्टारक श्री सकलकीर्तिरचित 'तत्त्वार्थसार दीपक' महाग्रन्थ सन्दर्भ
11. श्री सिंहतिलकसूरि विरचित श्री मंत्रराजरहस्यान्तर्गत अर्हदादिपंचपरमेष्ठी स्वरूप सन्दर्भ।
12. श्री सिंहतिलक सूरि संदृब्ध परमेष्ठीविद्यायंत्रकल्प
13. श्री सिंहतिलक सूरि विरचित लघुनमस्कार चक्र स्तोत्र
14. श्री सिद्धसेन सूरि प्रणीत श्री नमस्कारमाहात्म्य-संशो. भंद्रकरविजय गणि प्रका. शंकरलाल मुणोत, जैन साहित्य प्रसार समिति, पीपलिया बाजार, ब्यावर (राज.)
15. श्री जिनप्रभसूरिरचित पंचनमस्कृति स्तुति
16. श्री जिनप्रभसूरि रचित पंचपरमेष्ठीनमस्कारस्तव
17. श्री कमलसूरि विरचित जिनपंजरस्तोत्र
18. महामहोपाध्याय यशोविजयजी गणि विरचित परमात्मपंचविंशतिका
19. श्रीसिंहनंदिभट्टारकविरचित पंचनमस्कृतिदीपक सन्दर्भ
20. श्रीसिंहनंदिरचित पंचनमस्कृतिदीपकान्तर्गत नमस्कार मंत्र
21. आत्मरक्षा नमस्कार स्तोत्र
22. पंचपरमेष्ठी स्तवन
23. नमस्कार स्तवन
24. लक्षनमस्कारगुणन विधि
25. श्री नागसेनाचार्यविरचिततत्त्वानुशासन सन्दर्भ
26. श्री चन्द्रतिलकोपाध्यायरचित श्री अभयकुमारचरित सन्दर्भ
27. श्री रत्नमण्डण गणि विरचित सुकृतसागर सन्दर्भ

---

१. नमस्कार स्वाध्याय २ संस्कृत विभाग-विषयानुक्रम

28. श्री वर्धमानसूरिविरचित आचार दिनकर सन्दर्भ
29. श्री रत्नमंदिरगणिविरचित उपदेश तरंगिणी सन्दर्भ
30. श्री विजयवर्णी विरचित मंत्रसारसमुच्चयापरनाम-ब्रह्मविद्याविधि ग्रन्थांतर्गतार्हदादिबीजस्वरूप सन्दर्भ
31. श्री रत्नचन्द्रगणिविरचित मातृकाप्रकरण सन्दर्भ
32. श्री हेमचन्द्राचार्यविरचित अर्हन्नामसहस्रसमुच्चय
33. महापहोपाध्याय श्री विनयविजयगणि विरचित श्री जिनसहस्रनामस्तोत्र
34. पं. आशाधर विरचित श्री जिनसहस्रनामस्तवन
35. याकिनीमहत्तरासूनु-भवविरहाङ्क-भगवत् श्री हरिभद्रसूरिकृत 'षोडशक प्रकरण' सन्दर्भ।
36. श्री जयतिलकसूरि विरचित श्री हरिविक्रम चरितान्तर्गत सन्दर्भ
37. श्री नवतत्त्वसंवेदनान्तर्गत सन्दर्भ
38. श्री सिद्धसेनदिवाकर विरचित शक्रस्तव
39. श्री पूज्यपाद विरचित सिद्धभक्त्यादि संग्रह
40. श्री रत्नशेखरसूरि विरचित 'श्राद्धविधि' प्रकरणान्तर्गत सन्दर्भ
41. उपाध्याय यशोविजयजी कृत 'द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका' सन्दर्भ
42. अज्ञात कर्तृक श्री पंचपरमेष्ठीस्तव
43. पंच नमस्कार कल्प निम्न सर्व जिन रलकोश पृ. २२५ से उद्धृत
44. पंच नमस्कार चूर्णि
45. पंच पद
46. पंचपरमेष्ठी कल्प
47. पंच नमस्कार फल
48. पंच परमेष्ठी गुणरत्नमाला-रामविजय
49. पंच परमेष्ठी गुण स्तवन
50. पंच परमेष्ठी नमस्कार
51. पंच परमेष्ठी पद-अज्ञातकर्तृक व्याख्या देवरत्न
52. पंच परमेष्ठी पाठ
53. पंच परमेष्ठी पूजा-ज्ञानभूषण
54. पंच परमेष्ठी पूजा पद्धति
55. पंच परमेष्ठी प्रभाव
56. पंच परमेष्ठी मंत्र विचार
57. पंच परमेष्ठी महामंत्रचक्रवृत्ति

58. पंच परमेष्ठी महास्तव-जिनकीर्ति
59. पंच परमेष्ठी वंदन
60. पंच परमेष्ठी विवरण-मतिसागर — 250 गा. रचना सं. 1168
61. पंच परमेष्ठी सम्प्रदाय
62. पंच परमेष्ठी स्तव — जयचन्द्र
63. पंच परमेष्ठी स्तव-अज्ञातकर्तृक
64. पं. प. स्तव/भक्ति स्तोत्र-मानतुंग सूरि — कदाच् नं. 15-16 वाला संभवित
65. पं. प. स्तव-जिनप्रभसूरि-टीका — अभयदेवसूरि जिन
66. णमोकार मंत्र महात्म्य-आ. उमास्वामी (अनु.) — सा. नि. वि. रामपुरा (उप्र.)

(ग) अपभ्रंश-हिन्दी-गुजराती भाषा में[1]

1.	तेरस भेअ नवकार पडल सरूप-फल	अपभ्रंश	अज्ञातकर्तक
2.	नवकार रास	अपभ्रंश	श्रीजिनप्रभसूरि
3.	नवकार फल वर्णन	अपभ्रंश	श्रीजिनप्रभसूरि
4.	विषहरमंत्रगर्भित पंचपरमेष्ठी मंत्र	स्तोत	श्रीजिनप्रभसूरि
5.	पंच परमेष्ठी नमस्कार माहात्म्य	हिन्दी	श्रीजिनवल्लभसूरि
6.	श्री पंचपरमेष्ठी गीत	हिन्दी	उपा. समयसुन्दरजी
7.	श्री अरिहंतपदस्तवन	हिन्दी	उपा. समयसुन्दरजी
8.	श्री नवकार स्तवन	हिन्दी	श्री प्रेमराज
9.	णमोकार माहात्म्य	हिन्दी	श्री भूधरकवि
10.	नवकार माहात्म्य	हिन्दी	श्री विजयभद्र
11.	श्री नवकार स्तवन	हिन्दी	श्री पद्मराज
12.	नवकार फलगीत	हिन्दी	श्री लक्ष्मीकीर्ति
13.	नमस्कार सुभाषित	हिन्दी	श्री विनोदीलाल
14.	अरिहंत बत्रीस बिरुदावली	हिन्दी	अज्ञातकत्तृक
15.	नमस्कार बालावबोध	गुजराती	श्रीहेमहंसगणि
16.	नमस्कार बालावबोध	गुजराती	अज्ञातकर्तृक
17.	नवकारमंत्र प्रबंध	गुजराती	श्री देपालकवि
18.	नवकारमहामंत्र नमस्कार	गुजराती	श्रीजिनप्रभसूरिशिष्य
19.	पंच परमेष्ठी सज्झाय	गुजराती	श्री देवविजयजी
20.	पंच परमेष्ठी विनति	गुजराती	श्री चारित्रसार

---

१. नमस्कार स्वाध्याय भाग-3 अपभ्रंश-हिन्दी-गुजराती विभाग विषयानुक्रम

21. नवकारमंत्रनो छंद	गुजराती	श्री कुश्ललाभ
22. पंच-परमेष्ठी गीता	गुजराती	श्री यशोविजयजी
23. नमस्कार छंद	गुजराती	श्री मानविजयजी
24. नमस्कार सज्झाय	गुजराती	श्री मानविजयजी
25. नवकार भास	गुजराती	श्री ज्ञानविमलसूरी
26. नमस्कार फल	गुजराती	श्री हेमकवि
27. नवकार नो रास	गुजराती	अज्ञातकर्तृक
28. नवकार मंत्रनी सज्झाय	गुजराती	श्रीकीर्तिविमल
29. नोकारवाळी गीत	गुजराती	श्री लब्धिविजय
30. नवकारगीत	गुजराती	श्री वच्छभण्डारी
31. नवकार महिमा	गुजराती	कानकवि
32. नवकार नी सज्झाय	गुजराती	अज्ञातपूर्वक
33. पंच परमेष्ठी मंत्रराज ध्यानमाला	गुजराती	श्री कवि नेमिदास
श्री ज्ञानविमलसूरि टबो (बाल विलास)		रामजी शाह
34. नमस्कार व्याख्यानम्	गुजराती	अज्ञातकर्तक

35. पंच परमेष्ठी ध्यानमाला/अनुभवलीला जैन गूर्जर कविओ 3756-5.232

36. पंच परमेष्ठी पूजा	जै. गू. क.	5059-6-386

37. पंच परमेष्ठी रास/राजसिंहरास/नवकार रास जैन गूर्जर कवि 1246-2281 १635-3.253 1661-3.276, 3083-4.144 4451-6.125, 5094-6.396 927-2.21

38. पंच परमेष्ठी नवकार सार वेलि	जै.गू.क.	4244-5.420

39. पंच परमेष्ठी स्वरूप निरूपण पृ. 316 मुद्रित जैन श्वेताम्बरादि ग्रन्थ नामावली

40. नवकार गीत	जैन गूर्जर कविओ स 223 ख-1.148	
41. नवकार महामंत्रगीत	जै. गू. क	324-1.55
42. नवकार छंद/स्तोत्र	जै. गू. क.	1006-2.88
43. नवकार प्रबन्ध/भास	जै. गू. क.	217 ख 1.139
44. नवकार बालावबोध	जै. गू. क.	1804-3.53, 4008-5.376 4037-5.378
45. नवकार मूलमंत्र बाला	जै. गू. क.	5239 क-5.445
46. नवकार (पंचपद पर) सज्झाय	जै. गू. क.	3431 क-4.411
47. नवकार सज्झाय	जै. गू. क.	3432.24-4.412
48. नवकार प्रभावनी 6 कथाएँ	जै. गू. क.	1820-3.355
49. नवकार माहात्म्य	जै. गू. क.	2-1-2

50. नवकार माहात्म्य चौपाई जै. गू. क. 3626-5.125
51. नोकार स्त. जै. गू. क. 5029-5.0-6-380
52. पंच नमस्कार टबो जै. गू. क. 5188-6, 1.427
53. नमस्कार कथा जि. र. को पृ. 201-202
54. नमस्कार कलक जि. र. को पृ. 201-202
55. नमस्कार कल्प-अज्ञात जि. र. को पृ. 201-202
56. नमस्कार कल्प-सिंहनंदी जि. र. को पृ. 201-202
57. नमस्कार चक्र जि. र. को पृ. 201-202
58. नमस्कार चक्रलघु पंजिका-भद्रगुप्त शिष्य शांतिसूरि संशोधक नवांगी वृत्तिकार अभयदेव सूरि जि. र. को पृ. 201-202
59. नमस्कार दृष्टान्त जै. ग्र. पृ. 254 जि. र. को पृ. 201-202
60. नमस्कार द्वात्रिंशिका जै. ग्र. पृ. 281 जि. र. को पृ. 201-202
61. नमस्कार पंचत्रिंशत-सुमतिसागर जि. र. को पृ. 201-202
62. नमस्कार/नमस्कार प्रकरण जि. र. को पृ. 201-202
63. नम./नव. फल कुलक जि. र. को पृ. 201-202
64. नम. फल दृष्टान्त जि. र. को पृ. 201-202
65. नम. स्तव-हेमचन्द्र-वृत्ति कनक कुशल र. सं. 1654 जि. र. को पृ. 201-202
66. पं. पर. महास्तव जिनकीर्ति शि. सोमसुन्दरसूरि स्वोपज्ञ टीका संवत् 1494 2. अवचूरी
67. नमस्काराधिकार
68. नवकार पंचत्रिशत् पूजा दिग. जयराम शि. विद्यानंदी
69. नवकार फल कुलक अपभ्रंश गद्य 30 जि. र. को. 201-202
    मु. जै. श्वे. ग्रन्थ नामावली गाईड पृ. 118

(घ) पंच परमेष्ठी विषयक उपलब्ध वाचन सामग्री

1. नमस्कार स्वाध्याय (प्राकृत) जैन साहित्य विकास मण्डल विलपार्ले,
2. नमस्कार स्वाध्याय (प्राकृत) बम्बई-56
3. नमस्कार स्वाध्याय (भाषा)
4. नवकार मंत्र या पंच परमेष्ठी अने आवश्यक के बे प्रतिक्रमण नुं रहस्य- पं. सुखलालजी : श्री जैन युवक सेवा समाज, फतासानी पोल सामे, अहमदाबाद।
5. पंच नमस्कार चक्र महायंत्र पूजन विधि-अमृत जैन पेढ़ी, हालार
6. पंच परमेष्ठी स्वरूप निरूपण-जै. श्वे. ग्रन्थ नामावली

7. पंच परमेष्ठी गुण रत्न माला-श्री जैन आत्मानंदसभा, भावनगर।
8. पंच परमेष्ठी मंत्रराज ध्यानमाला तथा अध्यात्म सारमाला-नेमीदास रामजी शाह जैन साहित्य विकास मण्डल, मुम्बई।
9. पंच पादिका-पद्म पाद-अनु. वेंकट रामन संपा. रामशास्त्री
10. पंच पदिका विवरण-प्रकाशात्म यदि.
11. नवकार माहात्मय ध्यान प्रदीप
12. नवकार मंत्र संग्रह अध्यात्मज्ञान प्रसारण मण्डल, पादरा
13. नवकार मंत्रनी चमत्कारी कथा
14. नमस्कार महामंत्र-देवेन्द्रविजयजी: खुडाला: राजेन्द्र प्रवचन कार्यालय
15. नमस्कार महामंत्र-भट्टाचार्य हरिसत्य अनु. दवे : जंयतिलालभाई शंकर आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर
16. नमस्कार महामंत्र-भानुविजय: विजयसूरि जैन ग्रन्थमाला-46
17. अचिंत चिंतामणि नवकार-मुनि अमरेन्द्र विजयजी: आत्म जागृति ट्रस्ट, बडौदा (गु.)
18. नमस्कार निष्ठा-संघवी मफतलाल: श्री सिद्धि धर्म संग्रह साहित्य प्रचारक समिति जैन विद्याशाला, अहमदाबाद।
19. मंगलमंत्र णमोकार एक अनुचिंतन-डॉ. नेमीचन्द्र, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, तृतीयावृत्ति
20. मंत्राधिराज-श्री मित्रानंदविजयजी, पद्मविजयजी गणिवर जैन ग्रन्थमाला, चंपकलाल चतुरदास काशीपुरा बोरसद जि. खेडा (गुज.)
21. मंत्राधिराज-श्री वंसतलाल, प्रताप के शाह, साधना पब्लिकेशन कोठ, बम्बई,
22. एसो पंच णमोक्कारो-युवाचार्य महाप्रज्ञ: आदर्श साहित्य संघ चुरु (राज.)
23. नमस्कार महिमा-लक्ष्मणसूरि संपा. धीरजलाल टोकरशी. ज्ञानमन्दिर दादर, बम्बई
24. णमोकार मंत्र विशेषांक: भाग 1, 2 तीर्थंकर संपा. डॉ. नेमीचन्द अंक 7-89., हीराभाई प्रकाशन इन्दौर (म.प्र.)
25. श्री नमस्कार महामंत्र ग्रंथनो उपोद्घात-विजयदानसूरिजी जैन ग्रन्थमाला, रा. ला. धर्मशाला गोपीपुरा, सुरत
26. महामंत्र नवकार, उपा, अमरमुनि: सन्मति ज्ञानपीठ-आगरा
27. नमस्कार मंत्र सिद्धि-धीरजलाल टोकरशी, जैन साहित्य प्रकाशन मंदिर, चींच बंदर, बम्बई।
28. नमस्कार चिन्तामणि-कुंदकुंदविजयजी, श्री जिनदत्तसूरिमण्डल, दादाबाड़ी अजमेर (राज.)
29. बाल भोग्य नवकार-प्रभाकर विजयजी, लालचन्द के शाह, 16 शत्रुंजय सोसायटी,

जैन सोसायटी पाछळ, पालडी, अहमदाबाद-7

30. हृदयकमल में ध्यान धरत हूँ-भद्रगुप्त विजयजी श्री विश्वकल्याण प्रकाशक ट्रस्ट, मेहसाणा (गुज.)
31. नवपद प्रकाश (अरिहंतपद)-विजयभुवनभानु सूरिः दिव्य दर्शन साहित्य प्रकाशन समिति, कुमारपालवी शाह
32. नवपद प्रकाश (आचार्य-उपाध्याय) 67, गुलालवाड़ी, तीजेमाले बम्बई-4.
33. नवपद प्रकाश (सिद्धपद)-भुवनभानुसूरि, दिव्यदर्शन, ट्रस्ट, कुमारपाल वी. शाह, 39, कलिकुण्ड सोसायटी धोलका।
34. णमोकार मंत्र और आत्मविकास की सीढ़िया-पं. सरनाराम जैन अ.भा.दि. जैन शास्त्री परिषद् बडौदा (मेरठ)
35. णमोकार ग्रन्थ-आ. देशभूषणजी म, लाला धर्मचन्द जैन कागजी, धर्मपुरा, दिल्ली, प्रथम संस्था
36. णमोकार मंत्र कल्प-आ. देशभूषणजी, जैन मित्र मण्डल, धर्मपुरा दिल्ली।
37. णमोकार मंत्र का अर्थ-हकीम ज्ञानचन्द्र जैनी मालिक, दि. जैन धर्मपुस्तकालय, लाहौर।
38. द. जैना प्रेयर-भट्टाचार्य हरिसत्यः, कलकत्ता युनिवर्सिटी, कलकत्ता।
39. नवकार गीत गंगा/रस गंगा, प्रियदर्शन श्री विश्वकल्याण प्रकाशन ट्रस्ट, महेसाणा।
40. नमस्कार चिन्तन-यशोविजय, जैन साहित्य प्रकाशन मंदिर, लघाभाई गणपतभाई बिल्डिंग, चींचबंदर, बम्बई।
41. अपूर्व नमस्कार-मफतलाल संघवी, श्री जिनदत्तसूरि मण्डल, दादाबाडी, अजमेर।
42. मंत्र भलो नवकार-पं. भद्रंकर विजय गणि, प्रका. नवकार साधना ट्रस्ट, नवरंग कोलोनी, नवरंगपुरा, अहमदाबाद।
43. नित समरो नवकार-पं. भद्रंकर विजयगणि, प्रका. सर्वकल्याणकार समिति, आराधना धाम, जामनगर (सौराष्ट्र)
44. महामंत्रनी साधना-कुंदकुंदविजयजी-श्री सिद्धिमेघ-धर्मसंग्रह साहित्य प्रचार समिति, जैन विद्याशाला अहमदाबाद।
45. नमस्कार महामंत्र-भंद्रकर विजय-सेठ गणपतलाल मोहनलाल वालचन्द निपाणी बेलगाम, (महा.)।
46. श्री नमस्कार महामंत्र-भद्रंकर विजय-श्री केशरबाई जैन ज्ञान मन्दिर, नगीनभाई हास, पाटण (गुज.)।

47. नमस्कार मीमांसा-भद्रंकर विजय श्री महावीर तत्त्वज्ञान प्रचारक मण्डल, वासुपूज्य स्वामी, जिनालय, अंजार, कच्छ।
48. आराधना नो मार्ग-भद्रंकर विजय श्री महावीर तत्त्वज्ञान प्रचारक मण्डल, वासुपूज्य स्वामि जिनालय, अंजार, कच्छ।
49. सवि जीव करूं शासन रसी भद्रंकर विजय नमस्कार आराधना ट्रस्ट।
50. तत्त्वप्रभा भद्रंकर विजयजी C/o चन्द्रकांत कांतिलाल शाह
51. तत्त्व दोहन-भद्रंकर विजययी 11, नवरंग कॉलोनी, नवरंगपुरा,
52. समरो मंत्र भलो नवकार-भद्रंकर विजयजी अहमदाबाद-9,
53. पंच परमेष्ठी ध्यान भद्रंकर विजयगणि, जैन साहित्य विकास मण्डल, बम्बई
54. श्री नमस्कार माहात्म्य भद्रंकर विजयगणि, जैन साहित्य विकास मण्डल, बम्बई
55. नवकार मंत्र या पंचपरमेष्ठी भद्रंकर विजयगणि, जैन साहित्य विकास मण्डल, बम्बई।

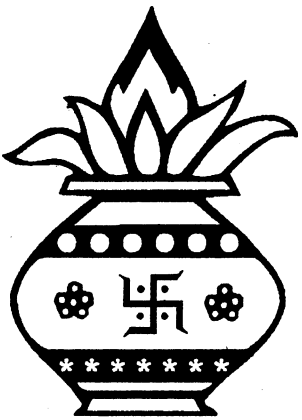

परिशिष्ट-3

मृत्यु के समय नमस्कार महामंत्र के श्रवण के परिणाम के ऐतिहासिक सन्दर्भ

विमलसूरि कृत "पउमचरियं" (अनुमानतः ई. सन् तीसरी-चौथी शताब्दी) में दो उल्लेख प्राप्त होते हैं-

(1) एक समय तडित्केशी राजा रानी के साथ वन में क्रीडार्थ गया था। अचानक एक वृक्ष से एक बन्दर रानी के ऊपर गिरा। घबराये हुए उस बन्दर ने रानी के स्तन पर नखक्षत किये। जिसने क्रोधित होकर राजा तडित्केशी ने उसे तीर मारा। जिससे वह उछल कर एक ध्यानस्थ मुनि का पास गिरा। मुनि ने अनुकंपा से उसे नवकारमंत्र सुनाया। फलस्वरूप दूसरे जन्म में वह देव बना।

अह पंच नमोक्कारो दिन्नो से साहुणा णुकम्पाए।
मरिऊण समुप्पन्नो, उदहिकुमारो भवणवासी ॥ 6/105) पउमचिरयं

(2) सीता का अपहरण करके जाते हुए रावण के साथ युद्ध करते हुए जटायु घायल हुआ था। पत्नि के वियोग से दुःखी राम जब वन में सीता की शोध कर रहे थे, तब उन्होंने जमीन पर कराहते हुए जटायु को देखा। उन्होंने मरते हुए पक्षी के कान में (कर्म-जाप) नमस्कार मंत्र सुनाया, तब अपवित्र देह का त्याग करके जटायु देव बना।

कान्ता-विओग-दुहिओ, तं रण्णं राहवो गवे सन्तो।
पेच्छई तओ जडागिं, केकायन्तं महिं पडिये।।
पक्खिस्स कण्णजावं, देइमरन्तस्स सुहयजोएणं।
मोत्तणं पूइदेहं, तत्थ जडाउ सुरो जायो 1144/54-55

(3) पार्श्व स्वामि के चारित्र में पार्श्वनाथ भगवान कमठ तापस को दया-धर्म समझाते हैं। पंचाग्नि तपते कमठ तामस के पास से सेवक को कहकर सुलगते काष्ठ को चिराकर उसमें से नाग कुटुम्ब को बाहर निकालते है। अर्धजले सर्प को अंत समय नमस्कार-मंत्र सुनाते हैं। जिसके फलस्वरूप वह नागलोकाधिप बनता है-

तओ भगवया णिय-पुरिस-वयणेण दवाविओ से पंचणमोक्कारो पच्चक्खाणं च, पडिच्छियं तेणं। ताव य कय णमोक्कार पच्चक्खाणो कालगणो समुप्पण्णो-णागलोयम्मि सयल-णाग लोयाहिवत्तणेणं त्ति। चउपन्न महामुरिम चरिय 5.62।

(4) महावीर चरित्र में भी इसी प्रकार कम्बल सम्बल देव का कथानक मिलता है। पूर्वजन्म में वे बैल थे। अपने धार्मिक स्वामि का अनुकरण करके वे भी धर्मध्यान करते थे। उनकी मृत्यु के समय उनके स्वामी ने उनको नवकार-श्रवण कराया, जिससे मरकर वे नागकुमार देव बने।

तत्थ ते णावि चरंति, णावि पाणितं पिबंति, जाहे सव्वहा ण इच्छंति ताहे सो सावतो तेसिं भत्त पच्चक्खाति णमोक्कांर व से देति, कालमासो कालं किच्चा

णागकुमारेसु उववन्ना..... आवश्यक चूर्णि-पृ. 280

(5) देवाभद्राचार्य कृत कथारत्नकोश (र. सं. 1125) में श्री देव राजा के वृत्तांत के अन्तर्गत शांतिनाथ भगवान् के मंदिर की उत्पत्ति में भी पंच नमस्कार मंत्र के कथाघटक का उल्लेख मिलता है-[1]

"एक समय हमेप्रभ देव केवली भगवान् को अपने आगमी भव के विषय में पृच्छा करता है। तब उसे जानने को मिला कि वह मृत्यु के समय में आर्त्तध्यान के कारण उसका वानर के रूप में जन्म होगा और उस अवतार में महाकष्ट से उसे सम्यक्त्व का लाभ होगा। तब उस देवने उस लाभ के लिए पर्वत के एक पाषाण में नवकार मंत्र कुरेदा (लिखा)। वह देव मरकर बन्दर बना और भ्रमण करता करता उस शिला के पास आया। जातिस्मरण ज्ञान होने पर नवकार मंत्र का स्मरण करता हुआ मृत्यु को प्राप्त हुआ। मरकर सौधर्म देवलोक में देव बना। अवधिज्ञान से नवकारवाली शिला के पास आया। वहाँ शांतिनाथ भगवान् का मंदिर बनाया।"

आख्यानक मणि कोश वृत्ति (सं. 1190) अन्तर्गत गोकथानक, पड्याख्यानक और फणाख्यानक[2] एवं वर्धमानसूरिकृत वासुपूज्य चरित्र[3] (सं. 1299) में रोहिणी (दुर्गन्धा) के कथानक में यह कथा घटक मिलता है।

6. सुदंसणा चरियं-

अज्ञात कवि कृत 'दंसणा चरियं' में चील को मुनि भगवन्त ने नमस्कार मंत्र सुनाया तथा भवान्तर में सिंहल द्वीप में राजकुमारी के रूप में जन्म लेने का कथानक उपलब्ध होता है। देवेन्द्रसूरि रचित सुदर्शना चरित्र के समान ही इसमें भी वर्णन प्राप्त होता है-

जंगल में एक शिकारी ने चील का शिकार करने के लिए उसे बाण से बींध दिया। तड़फती हुई वह चील नीचे गिरी। समीप में एक मुनिराज ध्यानस्थ खड़े थे। गिरने की आवाज से अनायास मुनि श्री की ध्यान-श्रेणी में विक्षेप पड़ा। आँखे खुली और सामने बाण से बिंधी चील पर नजर पड़ी। अन्तिम श्वास लेती उसको नवकार मंत्र सुनाया। उसके फलस्वरूप वह सिंहल द्वीप में राजकुमारी बनी। राजसभा में विदेशी सौदागर के छींक आने पर 'नमो अरिहन्ताण' सुनकर मूर्च्छा आ गई। होंश में आने पर जाति स्मरण से पूर्व भव को देखा। भरूच में उस स्थल पर जिन मंदिर का निर्माण कराया। चील का चित्र बनवा कर उसका नाम 'समडी विहार' रखा।

इस प्रकार अनेकानेक चरित्रग्रन्थों में, उपदेशक ग्रन्थों आदि में पंचपरमेष्ठी विषयक अनेक ऐतिहासिक कथा घटक उपलब्ध होते हैं।

---

१. कथारत्नकोष-देवभद्राचार्यः प्रका. भावनगर, जैन आत्मानंद सभा १९५१, पृ. ११६-११७

२. आख्यानकमणिकोशवृत्ति/आम्रदेवसूरि, संपा. मुनि पुण्य विजयजी वाराणसीः प्राकृत ग्रन्थ परिषद् १९६२

३. वासुपूज्य चरित्र/वर्धमानसूरि, भावनगरः जैन आत्मानन्द सभा।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

मूलग्रन्थ

अंगुतर निकाय, जगदीश कश्यप (भिक्षु)। बिहार : पालि प्रकाशन मण्डल, 1960
अथर्ववेद (भाग 1-4) सातवलेकर, श्रीपाद दामोदर। पारडी : स्वाध्याय मण्डल।
अथर्ववेद भाष्य सायणाचार्य विश्वबन्धु (संपा.)। होशियारपुर : विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान।
अधिकार विंशिका हरिभद्रसूरि। कपड़वंज : आगमोद्धारक ग्रन्थमाला, रमणलाल जयचन्द।
अनुतरौपपातिक सूत्र मधुकर मुनि (संपा.)। ब्यावर : आगम प्रकाशन समिति, पीपलिया बाजार।
अन्तकृदशाङग सूत्र मधुकर मुनि (संपा.)। ब्यावह : आगम प्रकाशन समिति, पीपलिया बाजार।
अर्हन्नाम समुच्चय हेमचन्द्राचार्य। भावनगर : जैन धर्म प्रसारक सभा।
अष्टक प्रकरण हरिभद्रसूरि, खुशालदास जगभवन दास (संपा.) बम्बई : महावीर जैन विद्यालय।
अष्टाध्यायी : पाणिनीय संपा. शास्त्री चन्द्रशेखर । मद्रास : मैलापुर।
आचाराङ्ग सूत्र : संपा. सौभाग्य मल जी म.। उज्जैन : जैन साहित्य समिति, नयापुरा।
आचाराङ्ग चूर्णि : जिनदास गणिवर्य। रतलाम : ऋषभदेव, केशरीमल।
आचाराङ्ग निर्युक्ति एवं वृत्ति- भद्रबाहू-शीलाङ्काचार्य। मेहसाना-आगमोदय समिति, प्रथमावृत्ति, 1917।
आप्त परीक्षा-विद्यानन्द, संपा. कोटिया दरबारी लाल। सरसावा : वीर सेवा मंदिर आप्त मीमांसा समन्तभद्र : विजयचन्द्रजी उदयचन्द्र। बम्बई : राजमल बड़जात्या, मुनि अनंतकीर्ति ग्रन्थमाला।
आप्त मीमांसा- तत्वदीपिका, संपा. जैन, उदयचन्द्र। वाराणसी : श्री गणेशवर्णी दि. जैन संस्थान प्रकाशन, नरिया।
आवश्यक सूत्र : ब्यावर : आगम प्रकाशन समिति, पीपलिया बाजार।
आवश्यक सूत्र-निर्युक्ति-वृत्ति-नि. भद्रबाहू , वृ हरिभद्र। बम्बई : आगमोदय समिति।
उपनिषत् संग्रह-संपा.- शास्त्री पं जगदीश। दिल्ली-मोतीलाल बनारसीदास।
उवासगदशाङ्ग-संपा. मधुकर मुनि। ब्यावर : आगम प्रकाशन समिति।
ऋग्वेद-(भाग1-8), संपा-विश्वबंधु होशियारपुर : विश्वेश्वरान्द वैदिक शोध संस्थान।
खुद्दक निकाय, संशो. कश्यप, भिक्षु जगदीश। बिहार : पालि प्रकाशन मण्डल।
गोम्मटसार (जीवकाण्ड), नेमिचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री। संपा. उपाध्ये, ए एन शास्त्री, पं. कैलाश। दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति-संपा. मधुकर मुनि। ब्यावर : आगम प्रकाशन समिति।
जातक-अनु. कौसत्यायन, भरत आनन्द। प्रयाग : हिन्दी साहित्य सम्मेलन।
जिन सहस्रनाम स्तोत्र-विनयविजयजी एवं सिद्धसेन दिवाकर। भावनगर : जैन धर्म प्रसारक सभा।
जिन सहस्रनाम-पं. आशाधर। काशी : भारतीय ज्ञानपीठ।
ठाणं-संपा. नथमल मुनि, । लाडनू : जैन विश्वभारती, प्रथमावृत्ति, 1976।
तत्त्वार्थ सूत्र-उमास्वाति।
(क) सर्वार्थसिद्धि, पूज्यपाद संपा. शास्त्री फूलचन्द्र। वाराणसी : भारतीय ज्ञानपीठ, द्वितीय संस्करण, 1971।
(ख) सभाष्य टी. सिद्धसेन गणि, संपा. कापड़िया हीरालाल रसिकदास। बम्बई : जीवनचन्द्र साकरचन्द्र झवेरी, प्रथम संस्करण 1915।
(ग) राजवर्तिक, अकलंकदेव, सपां. जैन महेन्द्रकुमार। काशी : भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथमावृत्ति, 1953, 1957।
(घ) श्लोकवर्तिकालंकर-विद्यानन्दी, संपा. कंदिय माणिकचन्द। कलकत्ता : भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था।
(च) तत्त्वार्थवृत्ति-श्रुतसागर संपा. महेन्द्रकुमार। काशी : भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथमावृत्ति, 1918।
(छ) तत्त्वार्थसूत्र, विवेचक-संघवी सुखलाल संपा. शास्त्री कृष्णचन्द्र। 1940 बम्बई : आत्मा. जन्म शताब्दी स्मारक महावीर प्रेस प्रथमावृत्ति।
तित्थोगाली पइण्णय-संपा. कल्याण विजय गणि.। जालौर : श्वेताम्बर जैन संघ।
तिलोय पण्णती- यति वृषभाचार्य संपा. उपाध्ये एवं जैन हीरालाल। शोलापुर : संस्कृति रक्षक दल।
तैतिरीय संहिता (कृष्ण यजुर्वेदीय) संपा. सातवलेकर श्रीपाद दामोदर। बम्बई : स्वाध्याय मण्डल, औधनगर, सातारा।
दशवैकालिक सूत्र-शय्यंभव सूरि, संपा. मधुकर मुनि। ब्यावर : आगम प्रकाशन समिति।
द्वाविंशत् द्वात्रिंशिका-सिद्धसेन सूरि विवृत्ति-सुशील सूरि। बोटाद : विजय लावण्य सूरिज्ञान मंदिर।
देवागम आप्त मीमांसा-समन्तभद्र संपा. मुख्यतार जुगल किशोर। दिल्ली : वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन।
धम्मपद-अनु. कौशम्बी धर्मानन्द, पाठक रामनारायण बी। अहमदाबाद : गुजरात पुरातत्व मन्दिर।
धर्मबिन्दु-हरिभद्रसूरि, अनु.-दोशी मणिलाल। बम्बई : कारभारी भगुभाई फतेहचन्द्र जैन पत्र ऑफिस।

धर्मामृत अणगार-पं. आशाधर, संपा. शास्त्री कैलाशचन्द्र। नई दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन।
नन्दी सूत्र-देववाचक, संपा. -मधुकर मुनि। ब्यावर : आगम प्रकाशन समिति।
निरुक्त (निघण्टु)-संशो. रामकृष्ण : महादेव सुनु हरि, प्रथमावृत्ति।
निरयावालिका सूत्र-संपा. मधुकर मुनि। ब्यावर : आगम प्रकाशन समिति।
न्यायावतार सूत्र-सिद्धसेन दिवाकर, विवेचक पंडित सुखलाल।
पण्णवणा सुत्तम् भाग 1-2, संपा-पुण्य विजय, मालवणिया, दलसुख भोजक मोहनलाल। बम्बई : महावीर जैन विद्यालय।
प्रमेयकमलमार्तण्ड : श्री प्रभाचन्द्राचार्य संपा. शास्त्री महेन्द्रकुमार। बम्बई : निर्णयसागर।
प्रज्ञापना सूत्र-संपा. मधुकर मुनि। ब्यावर : आगम प्रकाशन समिति।
प्रमाण मीमांसा-हेमचन्द्राचार्य, अहमदाबाद : सरस्वती पुस्तक भण्डार।
प्रशमरति-उमास्वाति। भावनगर : श्री जैन धर्म प्रसारक सभा।
बुद्धचर्या-संपा. सांकृत्यायन, राहुल। काशी : शिवप्रसाद गुप्त सेवा उपवन।
बृहद्कल्पसूत्र-भद्रबाहू संपा. चतुरविजय, पुण्यविजय। भावनगर : आत्मानन्द जैन सभा।
भागवत महापुराण-वेदव्यास। गोरखपुर : गीताप्रेस, चतुर्थ आवृत्ति।
मज्झिम निकाय-अनु. सांकृत्यायन राहुल। सारनाथ : महाबोधि सभा।
महापरिनिव्वाण सुत्त-संपा. भिक्षु कित्रिमा। अवयाव (वर्मा) : ऊँ चोजन।
महापुराण-संपा. वैद्य पी एल. अनु. जैन देवेन्द्रकुमार। वाराणसी : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन।
मूलाचार-आ. बट्टकेर, वृत्ति, वसुनंदि अनु. ज्ञानमति जी। नई दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ।
यजुर्वेद-संपा. शर्मा श्री राम। मथुरा : गायत्री तपोभूमि।
यजुर्वेद (शतपथ भाषा भाष्य) संपा. विष्णुदेव। अहमदाबाद : वेद प्रकाशन समिति।
यजुर्वेद संहिता (वाजसनेयि माध्यन्दिन शुक्ल)। संपा-सातवलेकर श्रीपाद दामोदर। बम्बई : स्वाध्याय मण्डल, औघनगर सतारा प्रदेश।
योगबिन्दु-हरिभद्रसूरि। भावनगर : जैन धर्म प्रसारक सभा।
योगशास्त्र-हेनचन्द्राचार्य अनु. पद्म विजयजी म.। दिल्ली-निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन संघ।
रत्न करण्ड श्रावकाचार-समन्तभद्र, संपा, जैन मंजुला। सागर : श्री मध्यक्षेत्रीय मुमुक्षु मण्डल संघ (म.प्र.)
राजप्रश्नीय सूत्र-संपा. मधुकर मुनि। ब्यावर : आगम प्रकाशन समिति।
ललित विस्तरा-हरिभद्रसूरि, संपा, मेहता भगवानदास मनसुखभाई बम्बई : मेहता कंचन बेन भगवानदास, चोपाटी रोड।
विशुद्धि मार्ग-धर्मरक्षित, सारनाथ : महाबोधि सभा।

विशेषावश्यक भाष्य-जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, संपा. भद्रंकर विजय गणि। बम्बई : आगमोदया समिति, जैन पुस्तकोद्धार समिति।
व्याख्याप्रज्ञप्ति-संपा. मधुकर मुनि। ब्यावर : आगम प्रकाशन समिति।
श्लोक वार्तिक-कुमारिल, बनारस : चौखम्बा सीरिज।
षट्खंडागम सत्प्ररूपणा-पुष्पदंतभूतबलि संपा. जैन हीरालाल। अमरावती : जैन साहित्योद्धारक फंड कार्यालय॥
सन्मति प्रकरण-सिद्धसेन दिवाकर अनु. संघवी सुखलाल, दोशी बेचरदास। अहमदाबाद : ज्ञानोदय ट्रस्ट, अनेकांत विहार।
समवायाङ्ग सूत्र : संपा. मधुकर मुनि। ब्यावर : आगम प्रकाशन समिति।
समवाओ-संपा. युवाचार्य महाप्रज्ञ। लाडनू : जैन विश्वभारती।
सर्वज्ञ सिद्धि-हरिभद्रसूरि अनु. हेमचन्द्र विजय। शिरपुर : जैन साहित्यवर्धक सभा (खानदेश)
सर्वार्थ सिद्धि-पूज्यपाद संपा. फूलचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री। दिल्ली : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन।
सांख्य कारिका-ईश्वर कृष्ण संप. चतुर्वेदी ब्रजमोहन। दिल्ली : नेशनल पब्लिशिंग हाऊस। सांख्य प्रवचन : बीलखा, श्री आनंदाश्रम।
सामवेद (सस्वर भाषा भाष्य) संपा. विष्णुदेव पंडित। अहमदाबाद-अमृत ट्रस्ट अने वेद प्रकाशन समिति।
सिद्धहेमशब्दानुशासन-संपा. विक्रम विजय मुनि। छाणी : लब्धि सूरीश्वर जैन ग्रन्थमाला।
सूत्र निपात-संपा. संघ रत्न अनु. धर्मरत्न। बनारस : महाबोधि सभा, सारनाथ।
स्तुति विद्या (जिन-शतक) समन्तभद्र, संपा. जैन पन्नालाल। सरसावा : वीस सेवा मंदिर जि. सहारनपुर।
स्थानाङ्ग सूत्र-संपा. मधुकर मुनि। ब्यावर : आगम प्रकाशन समिति।
स्वयंभू स्तोत्र-समन्तभद्र, संपा. मुख्यत्यार जुगल किशोर सरसावा : वीर सेवा मंदिर जि. सहारनपुर।

सामयिक

ब्रह्मविद्या Vol. XXXVIII 1974 महावीर जयंती विशेषाक Adyar Library Bulletin
तुलसी प्रज्ञा खण्ड 17 (जु. सि.) अनुसंधान त्रैमासिक 1991 अंक 2 जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनू।
श्रमण : पार्श्वनाश विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी जुलाई-दिसम्बर 1991 वर्ष 42 अंक 7-12।
संबोधि-Vol. 2, जनवरी 1974 नं. 4 ला. द. भ. सं. विद्यामन्दिर अहमदाबाद 9।

आनुषंगिक ग्रन्थ

अमरमुनि-सामायिक सूत्र-आगरा : सन्मति ज्ञानपीठ।
अरविन्द-गीता निबन्धो, पांडिचेरी : श्री अरविन्द सोसायटी।
अवस्थी डॉ. ब्रह्ममित्र : पातंजल योगशास्त्र एक अध्ययन, दिल्ली : इन्द्र प्रकाशन।
आचार्य नरेन्द्र देव-बौद्ध धर्म दर्शन, पटना, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्।
आत्माराम जी म-जैनागमों में परमात्मवाद, लुधियाना : आत्मराम जैन प्रकाशन।
उपाध्याय बलदेव-बौद्ध धर्म मीमांसा, बनारस : चौखम्बा विद्याभवन।
उपाध्याय बलदेव-भारतीय दर्शन, वाराणसी : शारदा मंदिर।
उपाध्याय भरतसिंह-बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, इलाहबाद : भारतीय मण्डल
डॉ. किशोरदास-भारतीय दर्शन और मुक्ति मीमांसा। बम्बई : महालक्ष्मी ग्लास वर्क्स प्रा. लि. डॉ. ई. मोझेस रोड जेकब सर्कल।
गुप्त, डॉ. रमेशचन्द्र : तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार वाराणसी : पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान।
गुप्ता डॉ. पवनकुमारी : पातंजल योग सूत्र का आलोचनात्मक अध्ययन दिल्ली : ईस्टर्न बुक लिंकर्स।
चतुर्वेदी आचार्य परशुराम : बौद्ध सिद्धों के चर्यापद, बनारस : भारतीय विद्याप्रकाशन।
जैन जगदीशचन्द्र, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, वाराणसी: चौखम्बा विद्याभवन।
जैन भागचन्द्र-बौद्ध एवं जैन अहिंसा का तुलनात्मक अध्ययन। वाराणसी : पा. वि. शो. संस्थान।
जैन रतनचन्द्र-जैन आचार में इन्द्रिय दमन की मनोवैज्ञानिकता, वाराणसी : पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान।
जैन रतनलाल-आत्म रहस्य, नई दिल्ली, सस्ता साहित्य मण्डल।
जैन डॉ. सागरमल-जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन।
जैन, कर्म सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन।
जैन, बौद्ध और गीता का साधना मार्ग।
जैन, बौद्ध और गीता का समाज दर्शन।
झा हरिमोहन (संपा.)-दार्शनिक विवेचनाएँ, पटना: बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी।
त्रिपाठी रामशंकर-बौद्ध तथा अन्य भारतीय योग साधना, वाराणसी : संस वि. 1981
दत्त एवं चट्टोपाध्याय : भारतीय दर्शन, अनु. झा एवं मिश्र, पटना पुस्तक भण्डार।
दत्त नलिनाक्ष-बोधिसत्व भूमि : पटना : के. पी. जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, 1966।
देवेन्द्र मुनि- जैन आगम साहित्य, (मनन और मीमांसा) उदयपुर, श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थमाला।

देसाई बी जी-आधुनिक भारतीय तत्त्वज्ञान, अहमदाबाद-युनिवर्सिटी ग्रन्थ निर्माण बोर्ड।
डॉ. नगराज मुनि-आगम और त्रिपिटक एक अनुशीलन कलकत्ता : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा।
नरसिंहभाई ईश्वरभाई-ईश्वर नो इन्कार : अहमदाबाद गुर्जर ग्रन्थ कार्यालय।
कापडिया, हीरालाल रसिकलाल-पिस्तालीस आगमो सूरत : जैन पेढ़ी, गोपीपुरा।
निजानन्द जी म-ईश्वर मीमांसा, मथुरा, भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ, मथुरा।
पाण्डेय कपिलदेव-मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, वाराणसी : चौखम्बा विद्या भवन।
बेडोवा डॉ. अर्हद्दास : जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन, अमृतसर : सोहनलाल जैन धर्म प्रचारक समिति।
बोहरा सवाईलाल छोटालाल : पातंजल योग दर्शन प्रकाश : बम्बई : गुजराती प्रिंटिंग प्रेस।
भट्ट एम के-बौद्ध दर्शन, अहमदाबाद : युनि. ग्रन्थ निर्माण बोर्ड।
मसीह याकुब-निरीश्वरवाद, भारतीय एवं पाश्चात्य, पटना, भारतीय हिन्दी ग्रन्थ अकादमी।
मांकड, डोलरराय रं-अवतारो एवं अवतारवाद, अहमदाबाद, भो. जे. अध्ययन संशोधन विद्या भवन।
मालवणिया दलसुख-जैन आगम, बनारस, जैन संस्कृति संशोधन मण्डल।
मेहता डाह्याभाई रामचन्द्र-ॐ कार उपासना, अहमदाबाद, महादेव रामचन्द्र जागुष्टे।
मेहता नर्मदाशंकर देवशंकर-हिन्द तत्व ज्ञान नो इतिहास, अहमदाबाद, गुजरात विद्या भवन।
याज्ञिक जयेन्द्रकुमार आ.-पाश्चात्य तत्त्वज्ञान नो सरल इतिहास अहमदाबाद : गुजरात युनिवर्सिटी।
यादव झिनकू-जैन धर्म की ऐतिहासिक रूपरेखा-इलाहाबाद : हिन्दुस्तानी एकेडमी उत्तरप्रदेश।
रजनीश-निर्वाणोपनिषद् , बम्बई जीवन जागृति आन्दोलन प्रकाशन।
राधाकृष्णन् अनु. शुक्ल चन्द्रशेखर प्राणशंकर-धर्मोनुं मिलन, बम्बई : भारतीय विद्या भवन।
राधाकृष्णन्-भारतीय दर्शन : दिल्ली, राजपाल एण्ड सन्स।
रावल-पूर्व मीमांसा दर्शन, अहमदाबाद, युनि, ग्रन्थ निर्माण बोर्ड।
लाड डॉ. अशोक कुमार, भारतीय दर्शन में मोक्ष चिन्तन, मध्यप्रदेश : हिन्दी ग्रन्थ अकादमी।
शर्मा, उमाशंकर : सर्व दर्शन संग्रह, वाराणसी : चौखम्बा विद्या भवन।

शाह चिमनलाल जैचन्द-उत्तर भारत में जैन धर्म, जोधपुर, सेवामन्दिर रावटी।
शाह नगीन जी-षड्दर्शन (न्याय वैशेषिक) अहमदाबाद, युनि. ग्रन्थ निर्माण बोर्ड गुजरात राज्य।
शाह नगीन जी-षड्दर्शन (सांख्ययोग) अहमदाबाद, युनि. ग्रन्थ निर्माण बोर्ड गुजरात राज्य।
शास्त्री डॉ. दामोदर-भारतीय दर्शन परम्परायें जैन दर्शनाभिमंत देव तत्त्वम् वाराणसी : भारतीय विद्या प्रकाशन।
डॉ. शिवमुनि : भारतीय धर्मों में मुक्ति विचार, जयपुर : अखिल भारतीय जैन विद्वान् परिषद् विद्याशाला।
सत्यवान परशुराम : निरीश्वरवाद एक अध्ययन । मोगापंजाब : देव समाज प्रकाशन। प्रथमावृत्ति।
सुन्दरलाल-हजरत मुहम्मद अने इस्लाम, अहमदाबाद, नवजीवन प्रकाशक मंदिर
सुखलाल-नवकार मंत्र या पंच परमेष्ठी, अहमदाबाद, जैन युवक सेवा समाज।
एम हिरयण्णा-भारतीय तत्त्वज्ञान की रूपरेखा, अहमदाबाद, गुजरात विद्यासभा।

अंग्रेजी ग्रन्थ सूची

- Acharya Sushil Kumar : Song of the soul. New Jersey : Blairstown. Siddhachalam Publishers 65 Mud Pound Road. ISB No. 943207/07825
- Jones William : Concept of God in ancient world; Delhi : Eastern book linkers. 1983.
- Jain, Dr. S.C. : Structure and Functions of soul in Jainsim; New Delhi : Bharatiya Jyanapith Publication.
- Mohanty Phani : Concept of Purusa and Purusottam. Delhi Garg Publication 1986.
- Monier williams Monier : Sanskrit English Dictionary; Clarendon Press. 1956.
- Nahar P.C. Ghosh K.C. : An Encyclopaedia of Jaism, Delhi - Sir Satguru Pub.
- Padmanath. S. Jaini : The Jain path of Purification; Delhi : Motilal Banarsidas.
- Singh Ramjee : Concept of omniscience in ancient Hindu thought Delhi : orient Publisher 1979.
- Th. Stcherpatsky : Conception of Buddist Nirvan Varansi : Bhartiya Jyanapith Publication.

ऐतिहासिक ग्रन्थ

जैन गुर्जर कवियो-देसाई मोहनलाल दलीचन्द, जैन श्वे, कान्फरन्स आफिस, भावनगर।
जैन परम्परा नो इतिहास-दर्शन विजय, ज्ञान विजय, न्याय विजय।
जैन साहित्य का बृहद इतिहास (भाग 1-7) पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान : वाराणसी।
जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास- कीथ. ए. बी., अनु. शास्त्री मंगलदेव, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
पाइय भाषाओं अने साहित्य-हीरालाल कापड़िया, विनयचन्द्र गुलाबचन्द शाह, भावनगर।
प्राकृत साहित्य का इतिहास-जैन जगदीश चन्द्र, चौखम्बा विद्या भवन, बनारस।
संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास-उपाध्याय राम जी, रामनारायणलाल, इलाहाबाद।
संस्कृत साहित्य का इतिहास-देसाई मोहनलाल दलीचन्द बम्बई : जैन श्वेताम्बर कान्फ्रेन्स।
संस्कृत साहित्य नो इतिहास-उपाध्याय बलदेव तथा गौरीशंकर, काशी : शारदा मंदिर।

कोश ग्रन्थ

- अर्थववेद वैयाकरण पद सूची-होशियारपुर : विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, प्रथमावृत्ति।
- अभिधर्म कोश : सांस्कृत्यायन राहुल। बनारस, काशी विद्यापीठ।
- अभिधान चिन्तामणि स्वोपज्ञवृत्ति : हेमचन्द्राचार्य संपा. विजयकस्तूर सूरि.।
- अमरकोष : अमरसिंह। बम्बई : निर्णयसागर प्रेस।
- अर्धमागधीकोश : रत्नचन्द्रजी म.। इन्दौर : जैन श्वे. कॉन्फ्रेस।
- अल्पपरिचित जैन सैद्धान्तिक शब्द कोश। सूरत : दे. ला. जैन पुस्तकोद्धार फंड।
- आगम शब्द कोश : युवाचार्य महाप्रज्ञ । लाडनू : जैन विश्व भारती।
- उपनिषद् महावाक्य कोश : साधले गजानन शंभु। बम्बई : नटवरलाल गुज। प्रिन्टींग प्रेस।
- उपनिषद् वैयाकरण पद सूचि : होशियारपुर : विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान।
- चतुर्वेद वैयाकरण पद सूची : होशियारपुर : विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान।
- जिनरत्न कोश- हरि। पूना : भाण्डारकर प्राच्य विद्या संशोधन मंदिर।
- जैन लक्षणावली-बालचन्दसिद्धान्तशास्त्री दिल्ली : वीर सेवा मंदिर।
- जैन सिद्धान्त बोल संग्रह-संपा. सेठिया भैरोदान। बम्बई : भी. गि. जैन सिद्धान्त सभा।
- जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश : शु. जैनेन्द्र वर्णी। वाराणसी : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन।

- तैतिरीय संहिता वैयाकरण पद सूची : होशियापुर : विश्वेरानन्द वैदिक शोघ संस्थान।
  पाइय सद्द महण्णव : हरगोविन्द त्रिक्रमचन्द : कलकत्ता।
- प्राकृत प्रोपर नेमस् : ला. द. भा. सं. विद्यामन्दिर अहमदाबाद।
- पालि हिन्दी शब्द कोश।
- पौराणिक कोश : राजा प्रसाद शर्मा। वाराणसी : ज्ञान मण्डल लिमिटेड।
- भगवद्गोमण्डल : भगवतसिंहजी । राजकोट : प्रवीण प्रकाशन।
- वाचस्पत्यम् : श्री तारानाथ तर्क वाचस्पति भट्टाचार्य वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत सीरिज।
- वैदिक पदानुक्रमकोश : विश्वबन्धु। होशियारपुर: विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान।
- शब्दकल्पद्रुम : भाग 1-2 संपा. राधा कांतादेव। दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास।
- शब्दचिन्तामणि : सवाई वी. छोटालालकेरा, बड़ौदा : दौलतराम मगनलाल शाह।
- शब्द रत्न महोदधि : संपा. पं. अम्बालाल प्रेमचन्द। अहमदाबाद : विजय नीतिसूरि वाचनालय।
- संस्कृत वाङ्मय कोष : डॉ. वर्णेकर, श्रीधर भास्कर कलकत्ता : भारतीय भाषा परिषद्।
- संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी : मोनियर एण्ड मोनियर विलियमस् दिल्ली : भारवाह पब्लिकेशन।